शिक्षा शास्त्र
चुनें
प्रश्न
और
उनके
उत्तर
मोहन प्रकाशन
आगरा

शिक्षा शास्त्र

एवं

शिक्षा मनोविज्ञान

पर

चुने प्रश्न और उनके उत्तर

[उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, नागपुर, पंजाब, राजस्थान, देहली आदि
शिक्षा विभागों द्वारा उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए
निर्धारित पाठ्य-क्रमानुसार संशोधित]

लेखक

सतीशचन्द्र अग्रवाल एम० ए०

एवं

मानिक रोनतगी

मोहन प्रकाशन मन्दिर आगरा—४

प्रकाशक :
मोहन प्रकाशन मन्दिर
शंकर प्रेस बिल्डिग,
बेलनगंज, आगरा–४

प्रथम संस्करण १९६९-७०

मूल्य ५·००

मुद्रक :
रघुनाथ प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी आगरा–२

विषय-सूची

प्रश्न-सूची

शिक्षा मनोविज्ञान

अध्याय १५

———

न कि ज्ञान को बाहर से अन्दर प्रवेश करना। यही अर्थ अंग्रेजी के एजूकेशन (Education) का और संस्कृत के शिक्षा शब्द का माना गया है।

शब्द के अर्थ के अनुसार जो कि लैटिन, अंग्रेजी, संस्कृत अथवा हिन्दी में किया जाता है 'शिक्षा' का वास्तविक अर्थ कुछ संकुचित-सा प्रतीत होता है।

शिक्षा का व्यापक अर्थ—जीवन भर चलने वाली एक विशेष प्रक्रिया का रूप शिक्षा कहलाता है। सांसारिक प्रत्येक पदार्थ जो चाहे चेतन हो या जड़ मानव को शिक्षा देता रहता है। अर्थात् ब्रह्मांड की हर वस्तु से हम शिक्षा ग्रहण करते हैं। इस तथ्य को मनुष्य के विकास पर प्रकाश डालते हुए अध्ययन किया जा सकता है। वर्तमान युग में शिक्षा का अर्थ संकुचित तो नहीं किया गया है परन्तु उसे एक बालक पर केन्द्रित कर दिया गया है। माता-पिता का कर्तव्य ही बालक को शिक्षा देना है। पाठशाला जाने योग्य आयु पर वह शिक्षा संस्था में पदार्पण करता है। तदनन्तर स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटी आदि में शिक्षा ग्रहण करता है। उपरोक्त लिखित संस्थाओं में बालक सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, व्यापारिक, व्यवहारिक, औपचारिक आदि अनेकों भाँति की शिक्षाएँ ग्रहण करता है। जब तक मनुष्य जीवित रहता है तब तक वह शिक्षा ग्रहण करता है। अतः इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि शिक्षा की परिभाषा को कोई शाब्दिक रूप नहीं दिया जा सकता है।

बालक का विकास मनोवैज्ञानिक पक्ष से वैयक्तिकता के आधार पर समाज से अत्यधिक प्रभावित होता है। बालक के माता-पिता आदि अन्य सम्बन्धियों की संस्कृति और सभ्यता का उस पर पूर्ण रूप से प्रभाव पड़ता है, उसी के क्रम में उसका विकास होता है। दूसरी ओर सामाजिक पक्ष में शिक्षा द्वारा ही पशु या पाशविक प्रवृत्ति का त्याग कर वह मानव बनता है, जैसा कि आगवर्न और निमकॉफ (Ogburn and Nimkaff) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है।

"Socialization is the process in which the individual is converted into person."

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि बालक अपने व्यक्तित्व का विकास अनुभवों के आधार पर करता है। और साथ ही साथ जीवन भर अनेकों भाँति की समस्याओं का हल खोजता रहता है। अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए आवश्यकताओं की पूर्ति करता और परिस्थितियों से लड़ता रहता है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रूसो (Roussou) और वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) भी प्रकृतिवादी शिक्षा का समर्थन करते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक जे० एस० मैकेन्जी (J. S. Maceknzie) ने अपने शब्दों में शिक्षा का व्यापक अर्थ निम्न शब्दों में व्यक्त किया है :

"In wider sense, it is a process that goes on thorough life, and that is promoted by almost every experience in life. It may even be said to be the chief end of life."

"शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो साँस रहने तक चलती है और जीवन के प्रत्येक अनुभव से उसके भण्डार में वृद्धि होती है। अतः शिक्षा को जीवन का साध्य भी कहना अनुचित न होगा।"

इसी भाँति प्रोफेसर डम्विल (Dumvile) ने भी अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"Education in its widest sense includes all the influences which act upon an individual during his passage cradle to the grave."

"शिक्षा के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत वे समस्त प्रभाव आते हैं जो व्यक्ति पर उसके मृत्यु पर्यन्तजीवन में आते हैं।"

शिक्षा का संकुचित अर्थ—पाठशाला में एक निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार जो ज्ञान प्रदान किया जाता है वही संकुचित शिक्षा का रूप है। विद्यार्थी जो कुछ ज्ञान ग्रहण करता है वह पाठशाला के क्षेत्र तक ही सीमित रहता है। पाठशाला के बाहर आकर वह उस शिक्षा से स्वतन्त्र हो जाता है, वह अध्यापक की वात मानने के लिए बाध्य नहीं होता है। विशेष शिक्षा केन्द्र में विशेष पाठ्यक्रम के अन्तर्गत, विशेष अवधि में जो अध्यापक वालक को पढ़ाता है वही शिक्षा का संकुचित रूप है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जान स्टुअट मिल (John Stuart Mill) ने व्यक्त किया है—

"Culture which each generation purposely gives to those who are to be its successors, in order to qualify them for at least keeping up and if possible raising the level of improvement which has been attained."

"संस्कृति जो प्रत्येक पीढ़ी अपने उत्तराधिकारियों को सप्रयोजन देती है और उसे ग्रहण कर वह सुशिक्षित हो जाते हैं और यदि सम्भव हो सके तो प्राप्त प्रगति के स्तर को ऊपर उठा सकें।"

संकुचित अर्थ के सम्बन्ध में जे० एस० मेकेञ्जी (J. S. Mackenzie) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"In narrow sense, it may be taken to mean any consciously directed effort to develop and cultivate our powers".

"हमारी शक्तियों के विकास और सुधार के लिए चेतनापूर्वक किये गये प्रयासों से शिक्षा का संकुचित अर्थ लिया जाता है।"

शिक्षा का विश्लेषणात्मक अर्थ—शिक्षा के शाब्दिक, व्यापक, संकुचित आदि अर्थों में विभिन्नता है। यह तथ्य उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। फिर भी कुछ ऐसे वाक्यों का यहाँ विश्लेषण किया जाता है जिनका प्रयोग साधारण जनता भी करती है।

(१) शिक्षा केवले शिक्षालयों में प्रदान किये जाने वाला ज्ञान ही नहीं होती है।

(२) शिक्षा बालक की अन्तः शक्तियों के सर्वाङ्गीण विकास को कहते हैं।
(३) शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया है।
(४) शिक्षक का व्यक्तित्व ही शिक्षा है।
(५) शिक्षा ज्ञान के विभिन्न रूप हैं।
(६) शिक्षा सामाजिक विकास की एक प्रक्रिया है।

शिक्षालय में प्रदान की जाने वाली शिक्षा—शिक्षा का संकुचित अर्थ ही शिक्षालय में प्रदान की जाने वाली शिक्षा है, परन्तु वास्तविकता में यह अर्थ उपयुक्त नहीं है। शिक्षा शिक्षालय तक ही सीमित नहीं होती है। उसका कार्यक्रम जन्म से मृत्युपर्यन्त तक स्वाभाविक रूप से चलता रहता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार शिक्षा मुक्ति का मार्ग है। जैसा कि श्रीमद् शंकराचार्य का कथन है :

"साविद्या या ब्रह्म रति प्रदा।"

"शिक्षा (विद्या) एक ऐसा साधन है जिससे ब्रह्म ज्ञान और भक्ति प्राप्ति होती है।" स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा को ब्रह्मभाव की अभिव्यक्ति कहा है :

"शिक्षा मनुष्य के अन्तःकरण में निहित ब्रह्मभाव की अभिव्यक्ति है।"

महर्षि कणार तो चींटी तथा अन्य छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं को उनके गुणों से प्रभावित होकर गुरु मानते थे। शिक्षा का अर्थ यही मन्तव्य प्रकट करता है जो अपनी व्यापकता को स्पष्ट कर देता है।

बालक की अन्तः शक्तियों का सर्वांगीण विकास—वर्तमान काल में शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में मनोविज्ञान का महत्त्वपूर्ण योग है, अतः अन्तर्निहित शक्तियों (Innate Powers) पर विचार करते हुए शिक्षा प्रदान की जाती है। शिक्षक का कर्तव्य हो जाता है कि बालक पर वाह्य ज्ञान का भार थोपने का प्रयास न करके उसमें अन्तर्निहित शक्तियों का प्रगतिशील विकास करे, जिसके सम्बन्ध में श्री महात्मा गांधी ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"By Education I mean an all round drawing out of the best in child and man-body, mind and soul."

"बालक में निहित सर्वोत्तम गुणों, शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के सर्वांगीण विकास का नाम शिक्षा है।"

इसी भाँति दार्शनिक प्लेटो (Plato) का कथन है :

"Education consists in giving to the body and soul all the perfection of which they are susceptible."

"शिक्षा शरीर और आत्मा को वह सभी पूर्णताएँ प्रदान करती है जिनको ग्रहण करने की उनमें क्षमता है।"

शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया—यह तथ्य मानने योग्य नहीं है कि एक शिक्षक द्वारा ही बालक में ज्ञान का विकास करने की क्षमता है बल्कि सत्य तो यह है कि

शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों का ही सहयोग रहता है। इसके समर्थन में एडम (Adam) ने व्यक्त किया है :

"Education is a bipolar process in which one personality acts upon another in order to modify the development of that other."

"शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे पर एक दूसरे के विकास में परिवर्तन के लिए कार्य करता है।"

शिक्षक का व्यक्तित्व—शिक्षक के विचार, उसका रहन-सहन आदि प्रत्येक कर्म शिक्षार्थी पर अपना प्रभाव डालता है। यह निर्विवाद सत्य है। कभी-कभी शिक्षक की कठोरता या विनम्रता का प्रभाव बालक को विपरीत दिशा में मोड़ देता है अतः मनोविज्ञान के सहयोग के बिना शिक्षक का उत्तरदायित्व अपूर्ण रह जाता है।

ज्ञान के विभिन्न रूप—सर्वदा प्रगति की ओर गतिशील रहकर मानव अपना जीवन दिन-प्रति-दिन उत्तम बनाता जाता है, अतः शिक्षा एक गत्यात्मक प्रक्रिया है। विकास का एक क्रम ही शिक्षा कहलाता है जैसा कि रेमान्ट (Raymant) नामक शास्त्री ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"A process of development from infancy to maturity, the process by which he adopts himself gradually in various ways to his physical, social and spiritual environment.

"शिक्षा बचपन से युवावस्था तक विकास का एक क्रम है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक वातावरण के साथ अपना समन्वय बनाने की क्षमता कर लेता है।"

शिक्षा सामाजिक विकास की प्रक्रिया—मानव एक सामाजिक प्राणी है। इस स्थिति में शिक्षा में सामाजिक तत्वों की उपेक्षा किसी भी स्तर पर नहीं की जा सकती है। यह वास्तविक सत्य है कि शिक्षा का व्यक्तिगत विकास भी सीमित नहीं किया जा सकता है, अतः शिक्षा के माध्यम से ही सामाजिक विकास सम्भव है और सामाजिक प्रगति भी उचित शिक्षा प्रदान करने पर ही हो सकती है। यदि शिक्षा को त्रिमुखी प्रक्रिया कहा जाय तो अनुपयुक्त नहीं होगा क्योंकि शिक्षक, शिक्षार्थी और समाज तीनों ही साथ-साथ गतिशील होते हैं।

अन्य परिभाषाएँ

सुकरात (Socrates) ने शिक्षा को सत्य का अन्वेषण माना है। यूनानी महान् दार्शनिक ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"The purpose of education is to dispel error and discover the truth."

"असत्य का छोड़ना और सत्य का अन्वेषण करना ही शिक्षा है।"

अन्यत्र लिखा है कि :

"Education means bringinig out of the idea of universal validy which are latent in the mind of every man."

"शिक्षा का तात्पर्य संसार के सर्वमान्य विचारों को जोकि प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में स्वभावतः निहित हैं, प्रकाश में लाना है।"

रूसो (Rousseau) ने शिक्षा का उद्देश्य सभी मनुष्यों को समान समझना माना है। उनका कथन है :

"In the natural order the things all men being equal their common vocation is manhood. to live is the trade."

"प्रकृति के अनुसार समस्त मानव बराबर हैं और सबका उद्देश्य मानवता की प्राप्ति ही है।"

एडीसन (Addison) ने व्यक्त किया है कि शिक्षा वह क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य में निहित उन शक्तियों एवं गुणों का दिग्दर्शन होता है जिनका ज्ञात करना शिक्षा के विना असम्भव है। अन्यत्र भी लिखा है—

"When education works on noble mind, it draws out to view every latent and perfection."

"जब शिक्षा मानव मस्तिष्क पर कार्य करती है तो वह उसके सद्गुणों और पूर्णता को बाहर लाकर व्यक्त कर देती है।"

फ्रोबेल (Froebel) के मतानुसार शिक्षार्थियों की अन्तः शक्तियों का विकास करना ही शिक्षा है। परन्तु वालक पाशविक प्रवृत्तियाँ तथा अविकसित बुद्धि लेकर जन्म लेता है और हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक वातावरण ही में संशोधन उसका एवं मार्गीकरण होता है अतः केवल शिक्षा को बाहर लाने की प्रक्रिया ही नहीं कह सकते हैं।

"Education is a process by which child makes its internal external."

"शिक्षा एक प्रक्रिया है जोकि वालकों की अन्तः शक्तियों को बाहर प्रकट करती है।"

प्रमुख मनोवैज्ञानिक एडलर (Adler) के मतानुसार :

"Education is the process in which those powers of man, which are susceptible, are perfected by good habits by means of artistically contrived and employed by any man to help another or him to se achieve the end in view."

"शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव की वह शक्तियाँ जो अभ्यास द्वारा परिवर्तित होने के योग्य हैं, अच्छी आदतों के अभ्यास द्वारा पूर्णता को प्राप्त होती हैं और जिनके लिए बड़े ही कलात्मक ढंग से साधन निकाले जाते हैं .जिन्हें मानव स्वयं को व अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए निर्दिष्ट लक्ष्य को ध्यान में रखकर प्रयोग करता है।"

पेस्टोलोजी (Pastolozzi) के मतानुसार :

"Natural harmonious and progressive development of innate power is education."

"अन्त: शक्तियों का स्वाभाविक, सरल और प्रगतिपूर्ण विकास ही शिक्षा है।"

जान डीवी (John Dewey) के मतानुसार :

"Education is the organized development and equipment of all the powers of human being moral, intellectual and physical, by end for their individual and social uses, diretced towards the union of these activities with their creater and there final end."

"शिक्षा मानव की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक समस्त शक्तियों का व्यवस्थित विकास है जिन्हें वह अपने व समाज के हित में प्रयुक्त करता है और उनसे स्रष्टा को लक्ष्य बनाकर उनको संयुक्त करता है।" अर्थात् मोक्ष की सत्यता को खोजता है।

टी० पी० नन् (T. P. Nunn) के मतानुसार—

"Education is complete development of the individuality of the child, so that he can make an original contribution to human life according to his best capacity."

"शिक्षा बालक के व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास करती है, जिसके द्वारा वह यथाशक्ति मानव जीवन का मौलिक योगदान कर सकता है।"

रवीन्द्रनाथ टैगोर (Ravindra Nath Tagore) के मतानुसार :

"Education means to enable the mind to find out the ultimate truth......making truth its own and giving expression to it."

"मनुष्य की अतिरिक्त शक्तियों का स्वाभाविक, सर्वांगपूर्ण तथा प्रगतिशील विकास शिक्षा द्वारा ही होता है।"

प्रोफेसर जेम्स (Prof. James) के मतानुसार :

"Education is the organization of acquired habits of action which will fit the individual to his physical aud social environment."

"अर्जित क्रिया-कलापों के संगठन का वह रूप शिक्षा कहलाती है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक एवं भौतिक वातावरण के योग्य बनता है।"

ब्राउन (Brown) के मतानुसार :

"Education is the consciously controlled process where by changes in behaviour are produced in the person and through the person with in the group."

"मानव जीवन के लिए शिक्षा एक वह प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन उपस्थित होते हैं और व्यक्ति के द्वारा समाज में परिवर्तन होते हैं।"

प्रोफेसर हार्नी (Prof. Horne) के मतानुसार :

"Education is the superior adjustment of a physically and mentally developed conscious human being to his intellectual, emotional and volitional exvironment."

"शिक्षा द्वारा ही शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिकोण से प्रगतिशील मानव का स्वयं का बौद्धिक, भावात्मक एवं इच्छात्मक वातावरण उपस्थित होता है।"

टी० रेमन्ट (T. Ramont) के मतानुसार :

"Education is defined as a process of development in which consists the passage of human being from infancy to maturity, the process by which he adapts himself gradually in various ways to his physical, social and spiritual environment."

"शिक्षा विकास की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव अपने बाल्यकाल से युवावस्था तक आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक वातावरण के अनुरूप बन जाता है।"

बटलर (Butler) के मतानुसार :

"Education is gradual adjustment of the individual to the spiritual possessions of the race."

"शिक्षा के द्वारा समाज की आध्यात्मिक उन्नति के साथ व्यक्ति के क्रमिक विकास का सामञ्जस्य बन जाता है।"

उपरोक्त विभिन्न विद्वानों की विभिन्न परिभाषाओं का विवेचन करने पर स्पष्ट होता है कि कोई भी ऐसी परिभाषा नहीं जिसमें एकांगीपन का दोष न पाया जाता हो। वर्तमान वैज्ञानिक युग में प्रत्येक विचारधारा का समुचित मूल्य-स्तर खोजा जाता है, अत: प्रत्येक शिक्षाशास्त्री विभिन्न विचारधाराओं को समन्वित करते हुए शिक्षा के स्वरूप का निरूपण करता है। फलत: अधिकांश शिक्षाशास्त्री निम्न मत की पुष्टि करते हैं—

"शिक्षा का तात्पर्य सामान्य एवं व्यावहारिक मूल्यों के लिए शिक्षार्थी के स्वाभाविक विकास को प्रगतिशील करना है।"

"Education is the dynamic side of philosophy which seeks to discover common and practical values of life and directs accordingly the natural development of the child." —An Eminent Educationist.

प्रश्न २—अध्यापन से विच्छेद करते हुए शिक्षा के रूप, महत्व एवं कार्यों का उल्लेख कीजिये। 	(उ० प्र० १९५८, ५९ व ६२)

यह तथ्य प्रथम प्रश्न के अन्तर्गत स्पष्ट हो चुका है कि शिक्षा का अर्थ केवल शिक्षा (Education) ही है और इसका संकुचित अर्थ अध्यापन (Instruction) कहलाता है। अत: शिक्षा आयु-पर्यन्त होने वाली एक प्रक्रिया है जबकि अध्यापन

शिक्षालय में सीमित पाठ्यक्रम के अन्तर्गत रहने वाली एक कृत्रिम प्रक्रिया है। शिक्षा एवं अध्यापन का अन्तर स्पष्ट करते हुए श्रीमती के० भाटिया एवं श्री डी० वी० भाटिया ने व्यक्त किया है :

"Education is higher and finer than mere instruction. The latter is confined to the communication of knowledge or to the acquisition of useful skill. Education is more than this, although knowledge plays an important role in it."

"शिक्षा अध्यापन की अपेक्षा अत्यन्त उच्च एवं उत्तम है। ज्ञान प्रसार या किसी उपयोगी कौशल का सिखाना अध्यापन कहलाता है। परन्तु शिक्षा का क्षेत्र अध्यापन की अपेक्षा अति विशाल है, इसमें ज्ञान का विशेष स्थान होता है।"

शिक्षा के रूप (Forms of Education)—जिस भाँति विभिन्न मदों में शिक्षाशास्त्रियों ने परिभाषा का वर्णन किया है उसी भाँति से शिक्षा के रूप भी विभिन्न भाँति से वर्णित हैं। निम्न रूप से शिक्षा का वर्गीकरण किया जा सकता है :

१. प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष शिक्षा,
२. सामान्य एवं विशिष्ट शिक्षा,
३. वैयक्तिक एवं सामूहिक शिक्षा,
४. सविधिक एवं अविधिक शिक्षा और
५. एकांगीय एवं सर्वांगीय शिक्षा।

प्रत्यक्ष शिक्षा (Direct Education)—शिक्षक अपने उद्देश्य, आदर्श और ज्ञान के अनुरूप शिक्षार्थी को प्रभावित करता है। यह केवल शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच का ही सम्बन्ध है। इसी भाँति जो शिक्षा का आदान-प्रदान होता है प्रत्यक्ष शिक्षा कहलाती है।

अप्रत्यक्ष शिक्षा (Indirect Education)—जब शिक्षक का शिक्षार्थी पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं होता है, तो वह शिक्षार्थी को अनेकों भाँति के उदाहरण या अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा प्रभावित करता है। पाठ पढ़ाते समय जो उदाहरण आदि दिये जाते हैं वह प्रत्यक्ष शिक्षा का रूप कहलाता है पर मुख्य रूप से अप्रत्यक्ष शिक्षा ही कहलाती है।

सामान्य शिक्षा (General Education)—शिक्षार्थी को सामान्य जीवन की तैयारी के लिए जो शिक्षा प्रदान की जाती है उसे सामान्य शिक्षा कहते हैं। इस विधि से शिक्षक शिक्षार्थी की बुद्धि को तीक्ष्णता प्रदान कर उसके जीवन को सरल, सरस, सुचारु एवं सुदृढ़ बनाने का प्रयास करता है।

विशिष्ट शिक्षा (Specific Education)—शिक्षार्थी जब अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करके शिक्षा ग्रहण करता है, तो उस विशेष ज्ञान को विशिष्ट शिक्षा कहते हैं, उदाहरणार्थ डाक्टर, वकील, इन्जीनियर।

वैयक्तिक शिक्षा (Individual Education)—व्यक्तिगत रूप से पूरी कक्षा को एक ही शिक्षक एक समय में पढ़ाता है, इस शिक्षा को तो सामूहिक शिक्षा कहते हैं परन्तु एक शिक्षक एक समय में एक ही शिक्षार्थी को शिक्षित करे तो वह व्यक्तिगत शिक्षा उसकी प्रकृति एवं रुचि के अनुकूल दी जाती है।

सामूहिक शिक्षा (Collective Education)—जैसा ऊपर कहा गया कि पाठशाला की कक्षा में बैठे सभी शिक्षार्थी शिक्षक की दृष्टि में एक समान होते हैं। यह पाठ्यक्रम शिक्षा का सामूहिक रूप है।

सविधिक शिक्षा (Formal Education)—निश्चित समय पर पहले से नियोजित शिक्षा जो शिक्षालयों में दी जाती है सविधिक शिक्षा है। यह नियमों से जकड़ी, आडम्बरपूर्ण, निश्चित स्थान और समय पर प्रदान की जाती है। यह शिक्षा शिक्षालयों, मन्दिरों, मठों और पुस्तकालयों में दी जाती है।

अविधिक शिक्षा (Informal Education)—जब व्यक्ति चलते-फिरते, बातों के माध्यम से, घर पर, खेलने में, राजनैतिक तथा व्यावहारिक क्षेत्र में शिक्षा ग्रहण करता है, तो वह अविधिक शिक्षा कहलाती है। इसके लिए किसी विशेष स्थान, समय, संस्था अथवा शिक्षक का आवश्यकता नहीं होती। दूसरे रूप में शिक्षार्थी अपनी मानसिक प्रतिभा क्षमता के बल पर जो शिक्षा प्राप्त करता है वह नारत्यात्मक शिक्षा का रूप है, जिससे उसकी बुद्धि स्वतः ही विकसित होती जाती है।

एकांगीय शिक्षा—शिक्षार्थी के केवल एक ही अंग को विकसित करने वाली शिक्षा एकांगीय शिक्षा कहलाती है। दूसरे अंगों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है।

सर्वांगीय शिक्षा—विशेष शिक्षा और साधनों के माध्यम से शिक्षार्थी के प्रत्येक अंग, स्वास्थ्य, समय, रुचि, धन, व्यवहार आदि को विकसित करने वाली शिक्षा सर्वांगीय शिक्षा कहलाती है। वर्तमान युग में इस प्रणाली को अपनाया गया है। भारत में भी प्रारम्भिक शिक्षा संस्थाओं में बालक की प्रत्येक विधि से शिक्षा प्रदान करने के लिए सर्वांगीय शिक्षा प्रणाली को प्रारम्भ कर दिया गया है।

शिक्षा का महत्त्व (Importance of Education)—महत्व का स्तर निर्धारित करने के लिए यह कहना पर्याप्त है कि शिक्षा कला भी है और विज्ञान भी। कला पक्ष में शिक्षक का शिक्षण कार्य आता है और विज्ञान पक्ष में इसके सिद्धान्तों, नियमों, कार्यों आदि के निर्धारण करने की विधि तथा उनका निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास आता है। इतना होने पर भी यह कोई विशेष विशुद्धता नहीं है। क्योंकि विज्ञान की भाँति शिक्षा में नियम और सिद्धान्त निश्चित नहीं रहते हैं। शिक्षा के अन्तर्गत आने वाले नियम एवं सिद्धान्त सामयिक रूप से प्रतिपादित होते हैं। कभी-कभी तो उन नियमों एवं सिद्धान्तों को किन्हीं परिस्थितियों में प्रतिपादित करना असम्भव सा हो जाता है।

शिक्षा का महत्त्व निम्न कारणों से सुगमता से आंका जा सकता है :—

(१) प्रत्येक समाज के निवासियों को समाज के नियमों पर चलना वांछनीय होता है। शिक्षा द्वारा ही समाज के नियमों पर चलना सिखाया जा सकता है।

(२) समाज के पूर्वजों के अनुभवों की सहायता भी शिक्षा के ही माध्यम से प्राप्त की जा सकती है।

(३) समाज की वृद्धि के साथ ही सभ्यता का विकास होता है। शिक्षा के द्वारा ही समाज का स्तर स्थिर किया जा सकता है।

(४) मनुष्य शिक्षा के द्वारा ही सहयोग व प्रेम की भावना सीखता है। यह कोई ईश्वरीय देन नहीं है। समाज में रहने के लिए सहयोग और प्रेम की अति आवश्यकता होती है। अतः अबाध उन्नति और समाज के विकास के लिए शिक्षा का होना आवश्यक है।

(५) मानव की पाशविक प्रवृत्तियों को हटाकर कुछ विशेष क्षमताएँ शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती हैं।

(६) हानिकारक प्रवृत्तियों का नाश भी शिक्षा ही द्वारा सम्भव होता है।

(७) साधारणतः ही मानवी क्षमताओं का पता भी शिक्षा द्वारा ही लगता है, जिनके हल होने पर मनुष्य समाज का उपयोगी सदस्य बन सकता है।

शिक्षा के कार्य—शिक्षा मानव जीवन के लिए क्या-क्या कार्य करती है, यह बात उसके महत्व से निर्णीत हो जाती है। वास्तव में शिक्षा बिना मानव जीवन व्यर्थ सा पशु के समान ही है। मनुष्य अपने विशेष अनुभवों और अन्य मनुष्यों के अनुभवों से लाभ उठाता है। अपनी छोटी सी आयु में पूर्वजों व अन्य साथियों के अनुभवों को जोड़कर अपने अनुभवों का विस्तार कर लेता है। यह कार्य शिक्षा द्वारा ही होता है। साथ ही मनुष्य को अपने छिपे गुणों को जागृत करने का अवसर भी प्राप्त होता है। मनुष्य सिर्फ अपनी क्षमताओं को नहीं जान जाता बल्कि अभ्यास और कार्य प्रणाली द्वारा उसे और तीक्ष्ण बनाता है न कि हो जाने देता है। स्वयं के नवीन अनुभवों द्वारा नये विचारों की श्रृंखला बन जाती है और समाज तथा देश की उन्नति होती है। अनुभवों को एकत्रित करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। समाज तभी उन्नति को प्राप्त होता है जबकि मानव विचारशील, साहसी व परिश्रमी हो। और मानव को विचारशील, साहसी व परिश्रमी शिक्षा ही बनाती है। मानव के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में शिक्षा का पदार्पण रहता है।

मानव जीवन को सफल बनाने वाली शिक्षा उसके व्यवहार में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन उत्पन्न करती है, जो व्यक्ति, समाज, देश, राष्ट्र तथा समस्त विश्व के कल्याण हेतु अति आवश्यक है।

मीमांसा—शिक्षा में विभिन्न तत्वों का समावेश रहता है जैसे—(१) शिक्षा केवल शिक्षालयों में प्राप्त होने वाला ज्ञान ही नहीं, (२) शिक्षा बालक की अतः शक्तियों के सर्वांगीण विकास का रूप है, (३) शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया है और

(४) शिक्षा सामाजिक विकास की प्रक्रिया है आदि-आदि। अतः शिक्षा के महत्त्व एवं कार्य को देख कर यह निष्कर्ष निकलता है जैसा कि प्रसिद्ध दार्शनिक ह्वाइट हेड (White head) महोदय ने व्यक्त किया है :

"Education is the patient process of the mastry of details, minute by minute, hour by hour, day by day. There is no royal road to learning through an airy path of brilliant generalization."

अर्थात्—"शिक्षा द्वारा प्रतिक्षण-प्रति घड़ी और दिन प्रतिदिन विस्तृत ज्ञान पर स्वामित्व प्राप्त करने की एक सधैर्य प्रक्रिया होती है। ज्ञानोपार्जन करने का हवाई मार्ग की तरह कोई सीखने का स्वर्ण मार्ग नहीं प्राप्त होता है।"

प्रश्न ३—भारत में राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा का क्या महत्त्व है ? उसकी उपादेयता एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

भूमिका—यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मानव के लिए शिक्षा एक अनिवार्य तथ्य है और राष्ट्र बिना मानव समाज के कोई अस्तित्व नहीं रखता तो राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा का महत्त्व आवश्यक होता है। यह विचार निम्न वर्गों में विभाजित करके सुगमता से अध्ययन किया जा सकता है :

(१) राष्ट्रीय विकास (National Development),
(२) राष्ट्रीय एकता (National Integration),
(३) नेतृत्व के लिए प्रशिक्षण (Training for Leadership),
(४) निपुण कार्यकर्त्ता (Skilled Workers),
(५) सामाजिक कुशलता की उन्नति (Improvement of Social Efficiency),
(६) सामाजिक एवं नागरिक कर्तव्यों की भावना (Inculcation of Social and Civic Duties)
(७) संस्कृति एवं सभ्यता की सुरक्षा (Security of Culture and Civilization)
(८) सामाजिक भावना की जागृति (Provoation of Social Feeling),
(९) योग्य नागरिकों का निर्माण (Preparation of good citizens) और
(१०) सामाजिक सुधार और उन्नति (Social reformation and its progress)।

राष्ट्रीय विकास—राष्ट्र का विकास शिक्षा के माध्यम से ही सम्पन्न होता है। अशिक्षा के कारण व्यक्त अपने कर्त्तव्यों को नहीं समझ पाता और न अपने-अपने अधिकारों को ही समझ पाता है। ऐसी स्थिति में देश में शिक्षा की योजनाओं का प्रोत्साहित करना अति आवश्यक हो जाता है। हमारे देश में शिक्षा का कुछ अभाव है अतः योजनाओं को प्राथमिकता आवश्यक है। शिक्षा से प्रत्येक नागरिक अपने

अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को समझने लगेगा और योग्य एवं अनुभवी नेता को चुनकर राष्ट्र के नेतृत्व में सहयोग प्रदान करेगा। उचित नेतृत्व पाकर ही राष्ट्र का विकास उचित होगा।

राष्ट्रीय एकता—स्वतन्त्र भारत में दो दशाब्दी व्यतीत हो जाने के उपरान्त भी जातिवाद, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, वर्गवाद, दलबन्दी तथा क्षेत्रीय भाषावाद आदि अनेक तत्त्व राष्ट्रीय एकता में विरोध उत्पन्न कर रहे हैं। इन विरोधों से पीछा छुड़ाने का एक मात्र साधन शिक्षा ही है। यदि जवाहरलाल नेहरू के विचारों के अनुरूप शिक्षा का आधार स्थिर हो तो भारत में अखण्ड राष्ट्रीयता स्थिर हो जाय।

"The question of integration covers in a sense almost everything in life, above all, covers education, this is basic."

"एक दृष्टि से राष्ट्रीय एकता के प्रश्न में जीवन की प्रत्येक वस्तु आ जाती है। शिक्षा का स्थान सर्वोपरि है और यही आधारशिला है।"

नेतृत्व के लिए प्रशिक्षण—शिक्षा द्वारा ही भावी नागरिकों में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में उचित प्रशिक्षण दिया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप नेतृत्व का कार्य सम्पादित हो सकता है अतः उचित नेतृत्व प्राप्त करने के लिए शिक्षा आवश्यक है।

निपुण कार्यकर्त्ता—निपुण कार्यकित्तीओं का अभाव शिक्षा द्वारा ही दूर किया जा सकता है। यदि भारत राष्ट्र को निपुण कार्यकर्त्ता मिल जाय तो उद्योग एवं व्यापार में अच्छी प्रगति हो और राष्ट्रीय-सम्पत्ति में वृद्धि हो जाय।

सामाजिक कुशलता—बालकों को समुचित शिक्षा आवश्यक हो गयी है कि वह अन्य रूप से समाज या राष्ट्र के लिए भार न बनें बल्कि अपने ही पैरों पर खड़े होकर अपना और अपने समाज का कल्याण करें। नागरिक कुशलता प्राप्त करने के लिए उन्हें उचित शिक्षा आवश्यक है। राष्ट्र के लिए उपयोगी व्यवसाय और उद्योगों का शिक्षण देना अति आवश्यक है।

सामाजिक एवं नागरिक कर्त्तव्यों की भावना—स्वतन्त्र भारत का संविधान एक धर्म-निरपेक्ष तथा प्रजातान्त्रिक है, अतः उसके लिए सामाजिक एवं नागरिक कर्त्तव्यों का पालन अति आवश्यक है। शिक्षा द्वारा ही नागरिकों को यह प्रशिक्षण दिया जा सकता है जिससे वे समाज के प्रति तथा नागरिक के रूप में राष्ट्र के प्रति अपने अधिकार एवं कर्त्तव्यों का पालन सुचारु रूप से कर सकें।

संस्कृति एवं सभ्यता की सुरक्षा—शिक्षा द्वारा ही किसी समाज की संस्कृति एवं सभ्यता की सुरक्षा सम्भव हो सकती है। पुराने समय से जो विभिन्न रीति-रिवाज, कला, धर्म, औद्योगिक ज्ञान आदि सुरक्षित चला आ रहा है, वह शिक्षा के द्वारा ही आज तक सुरक्षित रहा सका है। उसके विकास तथा सुधार का कार्य

शिक्षा ही ने किया है। इस प्रसंग में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री ओटो (Ottaway) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"One of the tasks of education is to hand on the cultural values and behaviour patterns of the society to his young and potential members."

"शिक्षा का एक कार्य समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को उसके नवयुवकों तथा कार्यशील सदस्यों को प्रदान करना है।"

सामाजिक भावना की जागृति—व्यक्ति का जन्म समाज में होता है, वह समाज में ही पलता है और समाज में ही अपना जीवन व्यतीत करता है। अन्त में समाज में ही जीवन का अन्त करता है। ऐसी अवस्था में शिक्षा द्वारा ही बालकों में सामाजिक भावना की जागृति होती है। शिक्षा से ही दया, परोपकार, प्रेम, सहानुभूति, अनुशासन आदि सामाजिक गुणों का विकास होता है। इन शब्दों का चयन श्री एच० गार्डन (H. Gardon) ने अति सुन्दर रूप से किया है :

"Educator needs to recognise that he may move in the direction of bringing the social process to individuals, who are not capable of dealing with it."

"शिक्षक को यह जानने की आवश्यकता नहीं है कि वह सामाजिक प्रक्रिया को उन व्यक्तियों के सम्मुख लाने की दिशा में आगे बढ़े जो इसके लिए अयोग्य हैं।"

योग्य नागरिकों का निर्माण—प्रत्येक राष्ट्र के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक नागरिकता के उत्तम गुणों से सम्पन्न हो, जिसकी पूर्ति के लिए यह अति आवश्यक है कि शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध हो। प्रत्येक बालक को राष्ट्र के प्रति अधिकार और कर्तव्यों को समझने और निभाने की योग्यता उत्पन्न करना शिक्षा द्वारा ही सम्भव है।

सामाजिक सुधार और उनकी उन्नति—शिक्षा के ही माध्यम से सामाजिक परिवर्तन के नियमों व सिद्धान्तों का अध्ययन हो सकता है और तत्पश्चात् समाज को इच्छानुकूल दिशा की ओर अग्रसर किया जा सकता है। इस प्रसंग की पुष्टि में प्रसिद्ध दार्शनिक डीवी (Deway) के शब्द उपयुक्त हैं :

"Here (in Education) is found the flowering of social and institutional motive, interest in the welfare of society and its progress and reformby surest and shortest means.".

"शिक्षा में ही सामाजिक एवं अल्पमत साधनों द्वारा समाज के कल्याण-सुधार एवं उन्नति की रुचि का पुष्पित होना पाया जाता है।"

मीमांसा—राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा के ही माध्यम से लोगों में विकास की भावना आ सकती है। प्रत्येक नागरिक अपने हितों का अपने समूह, समाज, देश और राष्ट्र के लिए त्याग कर सकता है। राष्ट्र के लिए त्याग की भावना से ओत-

प्रोत नागरिक ही राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करने में अपार हर्ष तथा आनन्द का अनुभव कर सकता है।

उपरोक्त विवेचन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि प्रसिद्ध दार्शनिक एन० एल० बोसिंग (N. L. Bossing) के शब्द उपयुक्त हैं :

"The function of education is conceived to be the adjustment which contemplates mans adaption to and the reconstruction of his environment to and that this most enduring satisfaction may accure to the indvidual and society."

"शिक्षा का कार्य व्यक्ति और समाज के मध्य ऐसा सामञ्जस्य स्थापित करता है, जिससे व्यक्ति अपने को इच्छानुसार व्यवस्थित कर सके और परिस्थितियों को भी पुनर्व्यवस्थित कर सके, ताकि दोनों को अधिकाधिक स्थायी सन्तोष प्राप्त हो सके।"

अध्याय २

शिक्षा के उद्देश्य
(Aims of Education)

प्रश्न ४—शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए सर्वोत्तम उद्देश्य का वर्णन कीजिए।

भूमिका—प्रत्येक कार्य के करने के पीछे कोई न कोई लक्ष्य होता है। कभी-कभी यह लक्ष्य अपरोक्ष रहता है। यहाँ तक कि मानव को कार्य करने से पूर्व उसका लक्ष्य निर्धारित अवश्य कर लेना आवश्यक है क्योंकि बिना विचार किये और कार्य के लाभदायक परिणामों को सोचे लक्ष्यहीन कार्य करने पर असफलता निश्चित रहती है। अतः लक्ष्य निर्धारण करने के लिए शिक्षा ही अन्धकार में दीपक का कार्य करती है। भारत के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री भाटिया एवं भाटिया (K. Bhatia and B. D. Bhatia) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया—

"Without the Pknowledge of aims the educator is like a sailor who does not know his goal or his destination and the child is like a ruderless uessel which will be drifted along some-where as pere."

"उद्देश्य के ज्ञान के अभाव में शिक्षक उस नाविक के सदृश है जिसे अपने लक्ष्य या मंजिल का ज्ञान नहीं और विद्यार्थी उस पतवार विहीन नाव के सदृश है जोकि सागर की लहरों में बलखाती तट की ओर बहती जा रही है।"

अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उद्देश्यहीन शिक्षा भी प्राप्त करने में मन नहीं लगता और न उसका कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है। वह फल-दायिनी भी नहीं होती है। शिक्षा किन-किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्राप्त की जाती है—यह तथ्य दो रूपों में स्पष्ट रूप से विभक्त किया जा सकता है :—

(१) शिक्षाशास्त्रियों द्वारा व्यक्त किये गये उद्देश्य, और

(२) स्थान तथा समय के अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार उद्देश्य।

जब तक शिक्षा के उद्देश्यों का भास न हो शिक्षक उचित रूप से शिक्षा नहीं दे सकता है और न शिक्षार्थी ही पढ़ने में रुचि कर सकता है। इस

प्रसंग में विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों के विभिन्न मत हैं। महान् शिक्षाशास्त्री डीवी के मतानुसार—

"लक्ष्य का ज्ञान करके जो कार्य किया जाता है वह सार्थक होता है। उन्हीं के अर्थों के आधार पर कार्यकर्त्ता अन्य वस्तुओं के अर्थ खोजता है। पूर्व लक्षित उद्देश्य क्रिया को उचित दिशा में ले जाते हैं।"

सुकरात के मतानुसार—

"शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सत्य समझकर उसके अनुसार उसे व्यवहार सिखाना है।"

रूसो के मतानुसार—

"शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बालक को पढ़ने-पढ़ाने पर बल देना नहीं है, वरन् उसका विकास प्रकृति के अनुकूल करना है।"

टी० पी० नन् के मतानुसार—

"शिक्षा द्वारा प्रत्येक को ऐसी व्यवस्थाएँ प्राप्त होनी चाहिए जिनमें व्यक्तित्व अधिक-से-अधिक पूर्ण रीति से विकसित हो।"

रेमेण्ट के मतानुसार—

"शिक्षा द्वारा चरित्र निर्माण तथा बौद्धिक एवं हार्दिक अनुभूतियों का विकास होना चाहिए और व्यवहारिक ज्ञान के द्वारा व्यक्ति एक आदर्श एवं सफल नागरिक बन सके।"

अरस्तू के मतानुसार—

"सुख की प्राप्ति ही शिक्षा का उद्देश्य है।"

महात्मा गांधी के मतानुसार—

"बालकों की शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक शक्तियों का विकास ही शिक्षा का उद्देश्य है।"

भारतीय संस्कृत के अनुसार वैदित मतानुसार—

"शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य जीवन में वासनाओं से उत्पन्न दुःख से मोक्ष का मार्ग बताना है।

स्थान तथा समय के अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार निम्न उद्देश्य मुख्यतया नमांकित किये जा सकते हैं—

(१) चरित्र-निर्माण का उद्देश्य,
(२) ज्ञानार्जन का उद्देश्य,
(३) जीविकोपार्जन का उद्देश्य,
(४) पूर्ण अथवा सम विकास का उद्देश्य,
(५) सामाजिक उद्देश्य,
(६) व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य,
(७) शारीरिक विकास का उद्देश्य,

(८) सांस्कृतिक एवं सौन्दर्यात्मक उद्देश्य,
(९) आत्मबोध का उद्देश्य,
(१०) परिस्थिति के अनुकूल बनाने का उद्देश्य।

चरित्र-निर्माण का उद्देश्य—प्रत्येक विद्वान यह मानता है कि शिक्षा द्वारा चरित्र का निर्माण होता है। अरस्तू, प्लेटो, हरबर्ट, डीवी, नानक, मनु, राधाकृष्णन्, गाँधी, नेहरू और विनोबा आदि भारतीय व अभारतीय समस्त विद्वान पुरुष इस बात का समर्थन करते हैं। गाँधीजी ने अपने शब्दों में कहा है—

"What is education without character and what is character without elementary personal purity."

अर्थात्—"चरित्र के अभाव में शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं है एवं प्रारम्भिक व्यक्तिगत पवित्रता के अभाव में चरित्र का कोई अस्तित्व नहीं।"

व्यक्ति, स्थान एवं समय के अनुसार चरित्र की परिभाषा में विभिन्नता आ जाती है, परन्तु यह निश्चय है कि सच्चरित्र व्यक्ति में समाज सेवा एवं परोपकार की भाव निहित होती है। सहानुभूति एवं भावात्मक अनुभूति द्वारा पारस्परिक प्रेम व शारीरिक विकास होता है।

चरित्र निर्माण के सम्बन्ध में शिक्षक का कर्तव्य एक विशेष स्थान रखता है। उसका कर्त्तव्य है कि वह बालकों के चरित्र निर्माण में यथासम्भव सहयोग दे। बालक एक आदर्श नागरिक बने। उनका व्यावहारिक जीवन समाज, देश एवं विश्व-कल्याण की भावना से ओत प्रोत हो। यूनान के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्लेटो ने मनुष्य में विभिन्नताएँ मानी हैं और मनुष्यों को तीन श्रेणी में विभक्त किया है—(१) कारीगर (२) योद्धा और (३) दार्शनिक। उसके विचार से तीनों को शिक्षा देने में अन्तर होना आवश्यक है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है जो आदर्श नागरिक है वह व्यापारी होने के साथ-साथ एक कुशल योद्धा भी बन सकता है। इस प्रसंग में शिक्षाशास्त्री एवं दार्शनिक बी० डी० (B. D. Bhatia) ने व्यक्त किया है—

"A wise teacher, while realising the importance of moral education and his duty to help the pupils to live rightly in accordance with the moral order, will steer dear, not only himself but his pupils as well, of the coberey of eternal disputes over metaphysical necessities."

शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण सिद्ध करने हेतु अन्य सिद्धान्तों के मत निम्न है—

"The troubles of the whole world including India are due to the fact that education has become a mere intellectual essense and not the acquisition of moral and spiritual values."

—Dr. S. Radhakrishnan.

"The one and whole work of education may be summed up in the concept.—MORALITY." —Herbart.

"It is a common place of educational theory that establisping of character is a comprehensive aim of school instruction and discipline." —Dewey.

ज्ञानार्जन का उद्देश्य—बालक की बुद्धि में ज्ञान को बलपूर्वक भरना चाहे उसके लिए व्यावहारिक रूप से लाभदायक सिद्ध न हो, परन्तु ज्ञान देने की शृंखला के लिए अति आवश्यक है। यह विचार अनेक दार्शनिक प्रस्तुत करते हैं। बालक को अल्पआयु में ही ज्ञान देने की तृष्णा से माता-पिता अथवा अभिभावक उसे पुस्तकों से लाद देते हैं। ऐसा करने वाले अथवा सोचने वाले व्यक्ति विद्या की परिभाषा निम्न भाँति करते हैं—"जो वस्तु हमारे सम्मुख और निकट है, जो हमारे अनुभव रुचि और मूल प्रवृत्तियों के अनुकूल है विद्या नहीं है; विद्या वह ज्ञान होता है, जो केवल विद्वानों द्वारा ही जाना जा सकता है और वही जानते हैं।

प्रोफेसर भाटिया ने अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि प्रत्येक मानव समाज के लिए शिक्षकों को अपने कर्त्तव्य और सामाजिक अनुशासन के अन्तर्गत ही ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए। इसके समर्थन में बेकन तथा प्राचीन काल के सूफी लोग हैं। ज्ञान एक शक्ति है जिससे मनुष्य को अच्छाई व बुराई का बोध होता है, तत्पश्चात् वह अपना चरित्र बनाता है। विभिन्न भाँति के व्यक्तियों में विभिन्नता पाई जाना स्वाभाविक है। ज्ञान के लिए निम्न बातों की जानकारी आवश्यक है—

(१) केवल ज्ञान पर बल देने से मनुष्य की बुद्धि विभिन्न सूचनाओं का संग्रहालय बन जाता है, अतः ज्ञान का व्यवहारिक होना आवश्यक है। केवल ज्ञान के लिए ज्ञान उतना लाभदायक नहीं होता है।

(२) ज्ञानार्जन मात्र से बालक व्यवहार शून्य हो जाता है और सामाजिक गुणों की अभिवृद्धि नहीं हो सकती है।

(३) ज्ञान प्राप्ति के लिए केवल चरित्र का होना आवश्यक नहीं उसके लिए अभ्यास, अनुकूल वातावरण आदि भी आवश्यक होते हैं ताकि बालक जीविकोपार्जन सम्बन्धी बातों से अपरिचित न रहे। अन्यथा बालक स्वतन्त्र रूप से अपनी प्रतिभा का विकास नहीं कर सकता और पराश्रित रहने की भावना का उदय हो जाता है।

(४) बालक के लिए ज्ञान स्वयं साध्य न होकर साधन भी है अतः साधन को साध्य कहना अनुचित है। बालक को ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक, सांस्कृतिक, भावनात्मक आदि क्षेत्रों में भी उन्नति करना अति आवश्यक है।

मुख्यतया यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि बुद्धि का विकास और बुद्धि पर अनुशासन ज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक है। विकास से व्यक्ति में विश्लेषण की शक्ति उत्पन्न होती है और नवीन विचारों का अभ्युदय होता है। अनुशासन रखने से

क्षमता द्वारा व्यक्ति में श्रेष्ठ व्यवहार करने की कला आती है। प्रोफेसर भाटिया (B. D. Bhatia) ने इस प्रसंग में अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"......knowledge can be a means to an end and is not an end in itself, and even as a means such knowledge as is purposeful...... should be imported by our teachers in our schools."

जीविकोपार्जन का उद्देश्य—परमाणु युग में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताएँ अत्यधिक हो गई हैं। साथ ही संयुक्त परिवार का प्रचलन घट गया है अतः प्रत्येक परिवार के लिए रोजी-रोटी का सवाल बढ़ता जा रहा है। शिक्षा की दृष्टि से बालकों को जीविकोपार्जन के योग्य शिक्षा देना अनिवार्य हो गया है। यदि शिक्षा जीविकोपार्जन में सहायक नहीं होती तो व्यर्थ है। फलतः शिक्षा का प्रधान उद्देश्य प्रत्येक बालक को किसी व्यवसाय में प्रशिक्षित करना आवश्यक है। प्रत्येक राष्ट्र का परम कर्त्तव्य है कि अपने नागरिकों को व्यवसाय, कला-कौशल, उत्पादन आदि की वृद्धि के लिए आवश्यक शिक्षा का प्रबन्ध करे अन्यथा व्यक्ति ही नहीं समाज तथा देश भी अशक्त और धनहीन बन जायगा। प्रो० भाटिया (B. D. Bhatia) ने इस प्रसंग में व्यक्त किया है :

"Education with the vocational aim in the foreground will prepare each individual for an occupation which......will balance the distinctive capacity of an individual with his social service."

मनुष्य को ज्ञान बढ़ाने के लिए जो शिक्षा मिलती है वह जन साधारण के उपयोग की नहीं। उसका वास्तविक लाभ तीव्र बुद्धि के मनुष्य ही उठा पाते हैं। वास्तविक रूप में मनुष्य शारीरिक कार्य को जीविकोपार्जन के लिए आवश्यक मानते हैं, अतः शिक्षा का केन्द्र शारीरिक ज्ञान के समक्ष रहता है। मनुष्य की तीन प्राथमिक आवश्यकता भोजन, कपड़ा और मकान हैं। शिक्षा द्वारा यदि इनकी पूर्ति नहीं होती तो शिक्षा अधूरी है। हस्त कला द्वारा मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियों और भावनाओं को नियोजित रूप से कार्यान्वित किया जाता है जिससे देश की आर्थिक उन्नति सम्भव है। जो बालक सांस्कृतिक व विचारशील भावों को नहीं समझ पाते है उन्हें यदि जीविकोपार्जन के लिए शिक्षा दी जाय तो वह सरलता एवं सुगमता से उसका अध्ययन कर लेते हैं। एक अन्य प्रमुखता यह है कि खाली घर शैतान का होता है अतः शिक्षा का प्रचार बालकों में होना अनिवार्य है।

यह बात भी सत्य नहीं है कि केवल जीविकोपार्जन के उद्देश्य से ही शिक्षा अनिवार्य हो। यदि ऐसा मानें तो धनी व्यक्तियों के लिए शिक्षा की कोई आवश्यकता ही न रहे। मनुष्य की अन्तरप्रेरणा उसका सर्वांगीण विकास कभी किसी शिक्षा द्वारा समुचित विकास में बाधक सिद्ध होते हैं। क्योंकि इस भाँति की शिक्षा एक साधन मात्र बन जाती है।

अवकाश के क्षणों में मनुष्य अपना समय किस प्रकार व्यतीत करें, यह एक

समस्या बन जाती हैं अतः व्यावसायिक शिक्षा इस समस्या को हल कर सकती है और व्यक्ति तब ही सुखी रह सकता है जब उसके कार्य एवं अवकाश दोनों कालों में एक उचित संतुलन स्थापित हो। कभी-कभी यह देखा जाता है कि किसी प्रमुख व्यवसाय की महत्ता के कारण व्यक्ति उसकी ओर विशेष रूप से अग्रसर होते हैं। इस भाँति उनकी आंतरिक आकांक्षाओं एवं प्रवृत्तियों का दमन हो जाता है। अथवा एक व्यवसाय वाले दूसरे व्यवसाय वालों को हीन दृष्टि से देखते हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान के लिये ही ज्ञान की आवश्यकता रहती है। प्लेटो (Plato) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"It is the business of education to discover what each person is good for and to train him to mastery that, made of excellence, becauc such development secures the fulfilment of social needs in the most hormonions way."

अर्थात्—"प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार प्रशिक्षित करना आवश्यक है ताकि वह समाज की आवश्यकताओं को समुचित रूप से पूर्ति कर सके।"

पूर्ण अथवा सम विकास का उद्देश्य—१८वीं शताब्दी में फ्रांस के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जीन जेक्यूस रूसो (Gean Gacques Rousseau) ने सामाजिक दशा के अनुसार शिक्षा-क्षेत्र में सम विकास के उद्देश्य को प्रकट किया—"प्रकृति के हाथ से प्रत्येक वस्तु उचित रूप में आती है लेकिन मनुष्य के हाथ में आकर वह, बुरी हो जाती है।"

"Everything is good as it comes from the hands of nature, but everything degenerates in the hands of man."

परन्तु १९वीं शताब्दी में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने शिक्षा-क्षेत्र में सम्पूर्ण विकास का उद्देश्य प्रतिपादित किया। उसके विचारानुसार—"हमें केवल भौतिक अर्थ में ही जीवन नहीं बिताना है बल्कि विस्तृत रूप में जीवन को ढालना है। समस्त परिस्थितियों के अन्तर्गत समस्त क्षेत्रों में अच्छी तरह से व्यवहार पर नियन्त्रण करना एक सामान्य समस्या है।"

"...not to live in more material sense only, but in the widest sense. The general problem is the right ruling of conduct in all direction under all circumstances."

जहाँ तक विकास में शिक्षा का कर्तव्य है कि वह बालक के समस्त पहलुओं-शारीरिक, सामाजिक, नैतिक, मानसिक, राजनैतिक, सौन्दर्यात्मक आदि रूप से विकसित होने का स्वतन्त्र अवसर मिले। इस सम्बन्ध में श्री वी० डी० भाटिया ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है।

"The harmonious development aim means the harmonious cultivation of the physical, intellequal aesthetic and moral sides of human nature."

जिसके समकक्ष सम्पूर्ण विकास में विद्यार्थी स्वतः अपना संरक्षण करना सीखता है। संसार के इस संघर्ष में बालक को अपने द्वारा प्रतिपादित कर्मों का फल मिलना चाहिए जिससे बालक कार्य उचित और भली भाँति करना सीख जाय। शिक्षा केवल इस बात को दृष्टिगोचर करे कि शिक्षार्थी को अच्छे व बुरे कार्यों का फल उसी अनुपात में मिलता है जिस अनुपात में कार्य फल उपलब्ध होता है।

प्रायः समाज में एक बात निश्चित रूप से दृष्टिपात होती है कि शारीरिक-मानसिक, भावात्मक एवं सामाजिक आदि रूप से समान विकसित व्यक्तियों का अभाव है। जो अधिक पढ़े-लिखे हैं वह शारीरिक दृष्टि से कमजोर होते हैं, कुछ कार्य करने के इच्छुक हैं वह करने न करने के विचार-विमर्श में पड़े रहते हैं, कुछ एक विषय के महापण्डित हैं और दूसरे विषयों पर अनभिज्ञ रहते हैं। यह असन्तुलन दूर करने के तो लिए सम विकास के उद्देश्यों की पूर्ति आवश्यक है। इस प्रसंग में गाँधीजी (M. K. Gandhi) के शब्द उपयुक्त हैं—

"Man is neither intellect, nor the gross animal body, nor the heart and soul alone. A proper and harmonious combination of all the three is required for the making of the whole man and constitutes the true economics of education."

परन्तु सम्पूर्ण विकास में बालक प्रारम्भ में यह नहीं जानता कि उसे क्या करना है और उसका क्या फल होगा? बालक संचित ज्ञान के लाभ से अछूता रह जाता है क्योंकि प्रत्येक अनुभव को उसे स्वयं करना होता है। वर्तमान जीवन इतने नवीन ज्ञान पर निर्भर है कि थोड़े से काल में बालक सम्पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता जब तक कि अधिकतर ज्ञान उसे पहले ही न दे दिया जाय।

सब विकास की प्रणालियों में यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति बलवान, पण्डित अथवा विद्वान या नैतिक आदर्शवादी पूर्ण रूप से नहीं होता है। अतः सम विकास के लिए पाठ्यक्रम में विषयों का चुनाव करना ही एक समस्या बन जाती है। किन-किन विषयों का अध्ययन कराया जाय ताकि बालकों का सम विकास हो। फलतः सम विकास का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है जैसा श्री टी० पी० नन ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है—

"The word harmonious...was not clear in its meaning...,

सामाजिक उद्देश्य—शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को व्यक्तिगत शक्तियों के आधार पर विकसित करना है। यही शिक्षाशास्त्री श्री टी० पी० नन् का भी कथन है—

"Nothing good enters into human world except in and through the free activities of individual men and women and that education practice must be shaped to accord with that truth."

अर्थात्—"मानव संसार में जो श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं वे सभी किसी न किसी व्यक्ति

के स्वतन्त्र प्रयत्न से आती हैं और शिक्षा की व्यवस्था इसी सत्य के आधार पर होनी चाहिए।"

रूसी के विचारानुसार बालक जब उत्पन्न होता है तो वह अच्छा होता है और समाज की व्यवस्था के अनुसार खराब हो सकता है। अत: बालक के जो भी गुण उसमें विद्यमान हैं उनका विकास होना अनिवार्य है। बालकों को आने वाले समय के लिए तैयार करना चाहिए। उन्हें अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त होना चाहिए। शिक्षा प्राप्त बालक समाज के स्वरूप को स्वतन्त्र और सुन्दर बना सकते हैं, ऐसा उसका विचार था। अत: समाज सुधार के लिए शिक्षा का उद्देश्य अनिवार्य है।

'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' इस तथ्य के अनुसार भी शिक्षाशास्त्री रेमाण्ट ने बिना समाज वाले व्यक्ति को तो कोरी कल्पना ही कहा है—"समाज के हित के लिए बालकों में सामाजिकता की भावना की अभिवृद्धि करना शिक्षा का परम उद्देश्य है।"

जान् डीवी (John Devey) ने भी इसी प्रसंग में स्पष्ट कहा है।

"School should be the representative of the society."

अर्थात्—"स्कूल को समाज का सच्चा प्रतिनिधि होना चाहिए।"

व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य—जब बिना व्यक्ति के समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती, तो बिना समाज के व्यक्ति की कल्पना भी असम्भव है। अत: शिक्षा द्वारा समाज और व्यक्ति दोनों में समन्वय उत्पन्न करना है। इस कथन की पुष्टि में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रॉस (Ross) का कथन है।

"Individuality is of no value, and personality is a meaningless term a part from the social environment in which they are developed and made made manifest."

अर्थात्—"जिस सामाजिक वातावरण में व्यक्ति अपने व्यक्तितत्व का समुचित विकास करता है, उससे परे होने पर वैयक्तिकता मूल्य रहित एवं व्यक्ति निरर्थक शब्द हो जाते हैं।"

शारीरिक विकास का उद्देश्य—प्रत्येक व्यक्ति को बचपन में ही शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट बनाने का ज्ञान उचित रूप से मिलना आवश्यक है। अत: शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य शारीरिक शिक्षा देना अनिवार्य होना चाहिए। प्रसिद्ध कहावत है कि स्वास्थ काया के अन्तर्गत ही स्वस्थ मस्तिष्क का विकास सम्भव है। फलत: शरीर और मन दोनों ही उचित रूप से विकासमान हो सकते हैं। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री बी० डी० भाटिया (B. D. Bhatia) ने भी अपने शब्दों में व्यक्त किया है—

"Mind and body work together, and for perfect working of the mind there must be proper functioning of the body also."

सांस्कृतिक एवं सौन्दर्यात्मक उद्देश्य—कुछ विद्वान शिक्षा को जीविकोपार्जन का उद्देश्य न मानकर सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाना शिक्षा का श्रेष्ठ उद्देश्य मानते हैं।

वह चाहते हैं कि समाज सुसंस्कृत एवं सभ्यता से ओतप्रोत हो। इस पूर्ति के लिए संगीत, साहित्य, नृत्य, रहन-सहन, आचार-विचार आदि की शिक्षा बालकों को अवश्य प्रदान की जाय ताकि उनके व्यक्तित्त्व का सुन्दर विकास हो सके। किसी कवि ने कहा है कि—"सुन्दरता ईश्वर का हस्तलेख है।" इसके अनुसार बालकों में सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करना आवश्यक है। इस विचार से भी बालकों की शिक्षा का स्वरूप प्रकृति निरीक्षण, कला, साहित्य एवं संगीतमय होना चाहिए।

आत्मबोध का उद्देश्य—भारत की प्राचीन संस्कृति के अनुसार अनेकों शिक्षा-शास्त्रियों का मत है कि प्रकृति, ईश्वर एवं पुरुष का बोध विद्या अध्ययन से ही होता है। शब्द की अर्थ व्याख्या के अनुसार सृष्टि का समस्त संचालन, संवहन आदि क्रियायें उसी में निहित हैं और शब्द की प्राप्ति विद्या अध्ययन पर आधारित है। आत्म का बोध अथवा प्रकृति का रहस्य विद्या में ही निहित होता है। अतः बालक को वास्तविक सुख, शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति शिक्षा द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, इसलिए शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य आत्म-बोध होना चाहिए।

परिस्थिति के अनुकूल बनाने का उद्देश्य—प्रत्येक व्यक्ति में परिस्थिति के अनुकूल अपने आपको ढालने की क्षमता होनी चाहिए। प्रसिद्ध प्राणिशास्त्र-वेत्ताओं डारविन, लेमार्क आदि के विचारानुसार प्राणी को जीने के लिए अपनी-अपनी परि-स्थितियों से जूझना पड़ता है और योग्यता के अनुसार ही जीत का अनुपात प्राप्त होता है। इस वैज्ञानिक विचारधारा से प्रभावित शिक्षाशास्त्री शिक्षा का उद्देश्य बालकों में परिस्थिति के अनुकूल बनाने की क्षमता का विकास करना होना चाहिए। जैसे कि अवकाश के क्षणों में बालकों को समय का सदुपयोग करने की क्षमता का ज्ञान होना परमावश्यक है जिससे वह अपनी कला का मार्जन कर सकें, आर्थिक लाभ के साथ-साथ चरित्र का भी निर्माण कर सकें।

उपरोक्त शिक्षा-उद्देश्य की अवहेलना करते हुए अमेरिकन प्रोफेसर जान ड्यूवी के विचार अत्यन्त ही विलक्षण हैं। उनके विचारानुसार शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा की प्रक्रिया है। शिक्षक का कार्य एक मात्र समस्या-मूलक परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है। शिक्षार्थी इन परिस्थितियों के समाधान में क्रियाशील रहता है। शिक्षा की प्रक्रिया में ही उद्देश्य निर्धारित हो जाता है। इस उद्देश्य की प्रणाली अपनाने वाले देशों ने सर्वांगीण उन्नति की है।

मीमांसा—सभी उद्देश्यों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कोई भी उद्देश्य पूर्ण नहीं है। प्रत्येक उद्देश्य में कुछ न कुछ अवगुण पाये जाते हैं परन्तु शिक्षा की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न उद्देश्य एक वैज्ञानिक व क्रियाशील उद्देश्य है। वही उद्देश्य सफल माना जाता है जिसे विश्व में अधिकांश देश अपनायें। वैसे तो समस्त उद्देश्य ही व्यक्ति एवं समाज के हित के लिए देश, काल और परिस्थिति के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं। परन्तु सफल उद्देश्य वही है जिसके द्वारा विश्व के शिक्षक, शिक्षाशास्त्री, शिक्षा-दार्शनिक एवं समाजशास्त्री अपना दृष्टिकोण निर्धारित करें।

प्रश्न ५—शिक्षा के वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्य से क्या तात्पर्य है ? इन उद्देश्यों में समन्वय किस भाँति स्थापित किया जा सकता है ?

भूमिका—विश्व में विद्वानों के मत सदैव ही विभिन्न रहे हैं। प्राचीनकाल में अनेक विद्वान व्यक्ति तथा समाज का आपेक्षिक स्थान प्रस्तुत करते रहे हैं। कुछ विद्वानों ने समाज की अवहेलना करके व्यक्तित्व के विकास को प्रधान कहा है। कुछ विद्वान समाज की उन्नति के लिए व्यक्ति के बलिदान का विचार प्रस्तुत करते हैं। तीनों विचारधाराओं के आधार पर ही शिक्षा के वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्यों का प्रारम्भ होना माना जाता है। इन दोनों उद्देश्यों में समन्वय किस भाँति हुआ यह जानने के पहले इनके उद्देश्यों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

वैयक्तिक उद्देश्य का अर्थ—प्राचीनकाल से ही अनेकों विचारक शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का उल्लेख करते चले आ रहे हैं। फिर भी वर्तमान वैज्ञानिक युग में शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान को एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। इस उद्देश्य की प्रधानता पर विशेष बल दिया जाता है।

इसके समर्थन में जे० एस० रॉस (J. S. Ross) ने व्यक्त किया है—

"The 'individual aim in education has been clearly and emphatically expressed by Sir Percy Nunn, the leading educational philosopher of this generation in England."

अर्थात्—"शिक्षा में वैयक्तिक उद्देश्य को सर पर्सीनन् ने, जो इंगलैण्ड में इसी पीढ़ी के प्रमुख शिक्षा दार्शनिक हैं, स्पष्ट रूप से और बलपूर्वक प्रकट किया।"

उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्रिटिश दर्शन व्यक्तिवादी रहा है। अपने पक्ष में तर्क द्वारा प्रस्तुत करते हुए लिखा है :

"That nothing good enters into the human world except in and though the free activities of indvidual men and women and that educational practice must be shaped to accord with that truth."

अर्थात्—"मानव जगत में प्रत्येक अच्छाई पुरुषों और स्त्रियों के स्वतन्त्र कार्यों से और इसके द्वारा ही प्रविष्ट होती है और उसके द्वारा शिक्षा पद्धति भी इस सत्य के साथ समन्वय करनी चाहिए।"

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बालकों की प्रवृत्तियों, रुचियों, आवश्यकताओं आदि को ध्यान में रखते हुए समाज, राज्य शिक्षण संस्थाओं को उनके व्यक्तित्व का उच्चतम विकास करना चाहिए, जिससे उनका भविष्य सुखमय हो।

यूकेन (Eucken) ने वैयक्तिककता को अर्थ से परे करते हुए व्यक्त किया है—

"Individuality means rather the spiritual individuality which individual acquires through his inner strengthening by an inner world present to him."

अर्थात्—"वैयक्तिकता का अर्थ आध्यात्मिक वैयक्तिक होना चाहिए जोकि मनुष्य अपने सामने उपस्थित अन्तर्गगत द्वारा अपनी आन्तरिक बलशक्ति के द्वारा एवं प्रवृत्ति के उत्कृष्ट आध्यात्मिकता द्वारा अपने उन्नयन के द्वारा प्राप्त करता है।"

जे. एस. रॉस (J. S. Ross) ने व्यक्त किया है :

"शिक्षा में हम वैयक्तिक उद्देश्य का जो अर्थ स्वीकार करते हैं, वह यही है कि मूल्यवान व्यक्तित्व एवं माध्यमिक वैयक्तिकता का परिवर्तन हो।"

वैयक्तिक उद्देश्य के दो रूप :

(१) आत्माभिव्यक्ति (Self-expression) तथा
(२) आत्मानुभूति (Self-realization)

आत्माभिव्यक्ति—आत्म-प्रकाशन पर विशेष बल देने वाले वैयक्तिक विकास को अतिवादी रूप में लेने वाले शिक्षाशास्त्री आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। उनके विचारानुसार आत्म प्रकाशन वह कहलाता है जिसमें व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल वाह्य हस्तक्षेप न पाते हुए व्यवहार करे। उसे यह तात्पर्य ही न हो कि उसके व्यवहार से किसी अन्य को लाभ होगा अथवा हानि। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्मा प्रकाशन का उद्देश्य सही और उचित ठहरते हुए भी हानिकारक है क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यक्ति पाशविक मूल प्रवृत्तियों को विना वाह्य हस्तक्षेप के प्रकाशन का अवसर पा जाता है जिससे हमारा समस्त सामाजिक जीवन गड़बड़ा जाता है।

आत्मानुभूति—जब कि आत्माभिव्यक्ति में आत्मा का तात्पर्य 'जैसा मैं उसे जानता हूँ' से है, परन्तु आत्मानुभूति में आत्मा का तात्पर्य 'जैसा मैं उसे चाहता हूँ' से है। जहाँ समाज का ध्यान आत्माभिव्यक्ति में लेशमात्र भी नहीं रखा जाता है वहाँ आत्मानुभूति में अपनी अनुभूति द्वारा समाज विरोधी कोई भी कृत्य नहीं किया जाता है। फलतः शिक्षा के आत्मानुभूति के उद्देश्यानुसार शिक्षार्थियों के गुणों का विश्लेषण कर निर्देशित किया जाय ताकि वे उच्चतम गुण की अनुभूति कर सकें।

सामाजिक उद्देश्य का अर्थ—सामाजिक दृष्टि से राज्य अपने नागरिकों की इच्छाओं से कहीं उच्च है। नागरिकों को राज्य के कल्याण के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने को प्रशिक्षित करना इस उद्देश्य का प्रमुख लक्ष्य है। प्राचीन काल में राज्य अपनी सुरक्षा और शक्तिवर्द्धन के लिए अपने नागरिकों को सैनिक प्रशिक्षण देने पर विशेष ध्यान देते थे। स्पार्टा और जर्मनी इस प्रसंग के लिए ज्वलन्त उदाहरण हैं। वहाँ यह सिद्धान्त कि 'राज्य सर्वोच्च नैतिक सत्ता है' पूर्ण रूप से प्रतिपादित किया गया है। अतः इसी सिद्धान्त पर आधारित शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के ये उक्त स्वरूप अत्यन्त ही गलत और भ्रमोत्पादक सिद्ध हुए। वर्तमान युग में प्रजातांत्रिक देशों में शिक्षा निम्न दो उद्देश्यों पर दी जाने का विचार प्रतिपादित हो रहा है :

(१) शिक्षा समाज सेवा के लिए (Education for Social Service) और (२) शिक्षा नागरिकता के लिए (Education for Citizenship)।

इस भाँति शिक्षा का अधिक व्यापक और लचीला रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। इसके अन्तर्गत बालकों को योग्य नागरिक बनाने तथा समाजसेवी बनाने के लिए विभिन्न विषयों तथा सामाजिक क्रियाओं पर ध्यान दिया जाता है। जार्ज एस० काउन्ट (George S. Counts) के मतानुसार :

"Until school and society are bound together by common purposes the programme of education will lack meaning and validity."

अर्थात्—"जब तक स्कूल एवं समाज सामान्य प्रयोजनों द्वारा एक साथ संलग्न नहीं होते शिक्षा के कार्यक्रम को, सार्थकता और शान्ति का अभाव स्थायी रहेगा।"

डब्लू० ओ० लिस्टर स्मिथ (W. O. Lister Smiths) ने भी इसी समर्थन में व्यक्त किया है :

"School should assume wider functions and definitely set itself to the task of creating and fostering the sense of social obligation and loyality to the community."

अर्थात्—"स्कूल को व्यापक कार्य संभलना चाहिए एवं उसे निश्चित रूप से ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कि सामाजिक कृतज्ञता और समुदाय भक्ति के उत्पन्न तथा पोषित किये जाने का कार्य हो सके।"

सामाजिक दक्ष व्यक्ति की प्रमुख विशेषताएँ—प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री डीवी एवं प्रो० बाँगले महोदय ने शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य का तात्पर्य "सामाजिक दक्षता प्राप्त करना बतलाया है। सामाजिक दक्ष व्यक्ति की निम्न तीन प्रमुख विशेषता स्पष्ट की गयी हैं :

(१) आर्थिक दक्षता (Economic efficiency),
(२) निषेधात्मक नैतिकता (Negative morality) और
(३) विधायक नैतिकता (Positive morality)।

इन तीनों सिद्धान्तों में विधायक नैतिकता का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार व्यक्ति समस्त कार्यों का मूल्यांकन अपने सामाजिक कर्त्तव्यों द्वारा निर्धारित करता है। इस भाँति इस विचार द्वारा समाज सेवा की शिक्षा के उद्देश्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

वैयक्तिक उद्देश्य के पक्ष में तर्क—शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए क्योंकि समाज का निर्माण व्यक्ति के हित के लिए व्यक्ति द्वारा ही होता है। दूसरे संसार का प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र है और अपनी-अपनी पूर्णता के लिए प्रयत्नशील रहता है। ऐसी अवस्था में शिक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक विकास में

सहयोग प्रदान करने वाला होना चाहिए। यदि कोई वस्तु व्यक्ति पर जवरदस्ती थोपी जाय तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसे मानसिक आघात होगा। व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों को देखते हुए उसे विकसित करने के साधन के रूप में शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करना चाहिए। मानव के स्वतन्त्र प्रयत्नों के द्वारा संसार की सम्पूर्ण अच्छाइयाँ उत्पन्न हुई हैं। इस विचार के अन्तर्गत शिक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक होना चाहिए। समाज की संस्कृति तथा सभ्यता व्यक्तियों द्वारा ही पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती रहती है, अतः शिक्षा में वैयक्तिक विकास का महत्त्व होना चाहिए। टी० पी० नन् ने वैयक्तिकता के समर्थन में अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"Individuality is the idea of life. A scheme of education is to be valued by its success fostering the highest degree of individual excellence."

अर्थात्—"वैयक्तिकता जीवन का आदर्श है, शिक्षा की किसी भी योजना का मूल्य उसके उच्चतम वैयक्तिक श्रेष्ठता प्रदान करने की सफलता में मापा जाना चाहिए।"

सामाजिक उद्देश्य के पक्ष में तर्क—समाज को एक जीवित प्राणी मानते हैं और उस जीवित प्राणी का व्यक्ति एक अभिन्न अंग है। अतः समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्ति के जीवन पर आश्रित है। इसलिए शिक्षा में समाज का हित करने के लिए विशेष वल देना आवश्यक है। जे० एम० वाल्डविन (J. M. Baldwin) ने अपने शब्दों में स्पष्ट कहा है—

"Personality cannot be expressed in any but social terms."

अर्थात्—"व्यक्तित्व सामाजिक शब्दों के अतिरिक्त किसी में भी परिभाषित नहीं किया जा सकता है।"

मनुष्य का जन्म समाज में होता है और वह वंशानुक्रम से पाशविक प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है। उसकी सामाजिक पर्यावरण से ही मानव कहलाने का अवसर मिलता है अतः शिक्षा में सामाजिक हित का स्थान होना आवश्यक है। यहाँ तक कि उसके लिए बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए। प्रायः यह देखा गया है कि समृद्धशाली और सुखी देशों में समाजवादी विचारधारा का प्रचलन है। सामाजिक व्यवस्था के लिए बालकों को राज्य के प्रति तैयार करना, सामाजिक शान्ति और संगठन के लिए नागरिकता के गुण उत्पन्न करना आवश्यक है। उन्हें हर समय हर क्षेत्र में समाज में लीन रहने की शिक्षा देना आवश्यक है। प्रसिद्ध दार्शनिक जोसफ के० हार्ट (Joseph K. Hart) के मतानुसार—

"That is good enough for us is good for our children."

अर्थात्—"जो हम सबके लिए पर्याप्त रूप से अच्छा है वही हमारे बालकों के लिए पर्याप्त रूप से अच्छा है।"

वैयक्तिक उद्देश्य के विपक्ष में तर्क—समाज का अहित होते हुए भी वैयक्तिक उद्देश्य प्रत्येक दशा में व्यक्तित्व के विकास को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का हिमायती है। इस कारण समाज में अव्यवस्था की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और व्यक्ति का विकास या उसकी प्रगति रुक जाती है। सिद्धान्तानुसार होते हुए भी वैयक्तिक उद्देश्य का कोई व्यावहारिक रूप नहीं है। एक सीमित पाठ्यक्रम और सीमिति विकास के अन्तर्गत ही एक कक्षा के समस्त विद्यार्थियों के साथ एक सा व्यवहार होता है। उनके साथ भेद या उनकी स्वयं की विकास योग्यता के अनुसार कार्य करना असंगत है। वैयक्तिक उद्देश्य व्यक्तिवाद का समर्थक तथा पोषक होने के कारण उसके भयकर दुष्प्रिणाम से हानि उठानी पड़ती है। तर्क शक्ति के विकास के विपरीत होने के कारण व्यक्ति में तर्क शक्ति का विकास पर्याप्त रूप से नहीं हो पाता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो प्रकृति सी देन है। इसके अनुसार केयर्ड (Caird) महोदय ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है—

"It is through the surrender of himself to social life man is first lifted above his animal individuality."

अर्थात्—"व्यक्ति अपने आपको सामाजिक जीवन के समर्पण करते हुए अपनी पाशविक प्रवृत्ति से ऊँचा उठाने का अवसर प्राप्त करता है।"

इसी प्रकार प्रसिद्ध दार्शनिक एम्फेसिस (Emphasins) ने भी व्यक्त किया है—

"Man's nature is social as tru ly as is selfregarding, we are all members another."

अर्थात्—"मानव प्रकृति उतनी ही सामाजिक है जितनी कि आत्म-गौरव। हम सब परस्पर सदस्य हैं।"

केयर्ड तथा एफेसिस के उपरोक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि वैयक्तिक उद्देश्य का कोई ठोस कारण नहीं है। दूसरे शिक्षा में स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास पर बल देने का तात्पर्य व्यक्ति को वातावरण के अनुकूल स्वतन्त्रता देना है। किन्तु शिक्षा का क्षेत्र से कोई सन्तोषजनक अनुकूल आदर्श नहीं प्रतीत होता। मानव का आदर्श तो वातावरण को विभाजित कर एक मात्र उचित परिवर्तन करने का प्रयास करना ही है। वैयक्तिक शिक्षा नैतिक गुणों की अपेक्षा करके आत्म प्रदर्शन की भावना के भ्रमात्मक मूलाधार पर स्थिर है। और वैयक्तिक उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अजीबो-गरीब रूप से प्रस्तुत कर समाजवाद के विरुद्ध प्रयास करना है। दार्शनिक दृष्टि से भी वैयक्तिक उद्देश्यों में तीन दोष हैं—(१) बहुतत्ववाद, (२) द्वैतवाद और (३) एकत्ववाद। प्रसिद्ध दार्शनिक डब्ल्यू० एम० उरबन ने व्यक्त किया है—

"Even the pluralists rend to believe that at least the tendency in the universe is towards greater and greater wholes and that the direction of the development in knowledge is tolality."

अर्थात्—"एकत्ववादी ही नहीं बहुत्ववादी तक उत्तरोत्तर सम्पूर्ण की ओर विश्व की प्रकृति की दिशा तथा ज्ञान के विकास की दिशा सम्पूर्णता की ओर मानने के अनुयायी हैं।"

महाकवि टैनीसन (Tennyson) के मतानुसार भी—

"Flowe in the crannied well.
If know you, what you are, all in all.
I should know what man is and what God is.

"संसार के समस्त व्यक्ति एक ही पूर्णतया के अभिन्न अंग हैं। फलतः वैयक्तिक शिक्षा का उद्देश्य दर्शन के महान् सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। वैयक्तिक उद्देश्य के समर्थक वंशानुक्रम से प्राप्त पाशविक प्रवृत्तियों के स्वतन्त्र विकास को प्रधान मानते हैं। परन्तु इस स्थिति में सामाजिक पर्यावरण की उपेक्षा कर व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की कल्पना व्यर्थ है। जैसा कि लैन्डिस और लैन्डिस (Landis and Landis) ने व्यक्त किया है—

"Heridity explains man the animal, environment man the human being."

अर्थात्—"वंशानुक्रम मनुष्य के पशुरूप की व्याख्या करता है पर्यावरण मनुष्य के मानवस्वरूप की व्याख्या करता है।"

प्रसिद्ध दार्शनिक जे० एस० रॉस (J. S. Ross) के मतानुसार—

"Thus individuality is of no value and personality is meaningless term apart from the social environment in which they are developed and made manifest."

अर्थात्—"इसी भाँति अपने इस सामाजिक वातावरण से हटकर, जिसमें वैयक्तिकता एवं व्यक्तित्व विकसित एवं प्रकाशित होता है, इनका कोई मूल्य नहीं है।"

सामाजिक उद्देश्य के विपक्ष में तर्क—शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य अत्यन्त महत्वपूर्ण और लाभप्रद होते हुए भी उसमें अनेकों दोष पाये जाते हैं। समाजवादी उद्देश्य के अनुसार बालक की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों, रुचियों और योग्यताओं का कोई स्थान नहीं हैं। फलतः बालक के व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। नीतिशास्त्र की प्रमुख मान्यता इच्छा-स्वातन्त्र्य की अपेक्षा शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य है। ऐसा कर व्यक्ति अपने बुरे कार्यों के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता। उसके जीवन के प्रत्येक कार्य बाध्यता पर ही आश्रित रहते हैं तो वह प्रगति नहीं कर सकता है। मनुष्य को राज्य और समाज के लिए अपना सब कुछ बलिदान करना होता है पर शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य साधन के रूप में मनुष्य के लिए अत्यन्त ही हानिकारक

है। इस उद्देश्य से साहित्य, कला, संगीत की प्रगति के लिए स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत प्रयासों का कोई स्थान नहीं रह पाता, जिससे प्रगति असम्भव है। सामाजिक उद्देश्य के दुष्परिणाम इतिहास में भी दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए यह देखा जाता है कि राष्ट्र या राज्य के नेता के अयोग्य होने पर राष्ट्र या राज्य का सम्पूर्ण समाज नष्ट हो जाता है। कभी-कभी संकुचित राष्ट्रीयता की भावना का विकास पूर्णरूप से होता है जो महायुद्धों के रूप में भलीभाँति देखी जा सकती है। महायुद्ध से व्यक्ति और समाज दोनों की हानि किसी से छिपी नहीं है। जबकि शिक्षा द्वारा व्यक्ति को पहले प्रशिक्षित करना चाहिए ताकि वह एक आदर्श व्यक्ति की भाँति नागरिक बन सके। अतः व्यक्ति प्रधान है न कि समाज। शिक्षा का आदर्श ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होना चाहिए। नागरिकता के उद्देश्य के विपरीतगामियों के अनुसार मनुष्य को राजनैतिक क्रियाओं को करने में संलग्न रहने पर केवल एक मात्र राजनैतिक क्षेत्र ही का विकास सम्भव है, अतः जीवन के विभिन्न अंगों का विकास रुक जायगा, जो कि अतिआवश्यक है। यदि व्यक्ति के मानसिक, कलात्मक, चारित्रिक या आध्यात्मिक विकास में बाधाएँ आईं तो उस व्यक्ति का व्यक्तित्व ही व्यर्थ है। यह एकांगीपन का दोष कहलाता है।

प्रायः यह देखा जाता है कि समाजवादी राष्ट्र किसी एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा के अनुचित साधनों का उपयोग करते हैं, जो कि शिक्षा-क्षेत्र में उचित नहीं लगता है। एक मात्र सामाजिक कुशलता की शिक्षा व्यक्ति को एक ही पेशा दे सकती है। वह सौन्दर्य, कला, धर्म आदि का उचित विकास नहीं कर पाता। इसी भाँति के शब्द एक प्रसिद्ध दार्शनिक हार्नी ने व्यक्त किये हैं :

"Such an education will produce cultivated vocationist in the end........it underestimate the importance of religious and spiritual experience."

अर्थात्—"इस प्रकार की शिक्षा अन्त में व्यक्ति को पेशेवर मात्र बना देती है। यह धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभव के महत्व को स्थान नहीं देती।"

वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्यों का समन्वय—दोनों भाँति के उद्देश्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए निम्न शीर्षकों से समझने में सरलता एवं उपयोगिता है :

(१) वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्यों में समन्वय की आवश्यकता,

(२) वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्य एक दूसरे के पूरक हैं और

(३) वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्य के समन्वय के अनुसार शिक्षा का स्वरूप।

समन्वय की आवश्यकता—जहाँ वैयक्तिक उद्देश्य के प्रशंसक शिक्षा द्वारा व्यक्ति के विकास का उल्लेख करते हैं, तो सामाजिक उद्देश्य के अनुयायी राज्य या

समाज के लिए व्यक्ति को वलिदान करने के लिए तैयार रहने की शिक्षा देते हैं। दोनों विचारों को अतिरंजित ढंग से प्रस्तुत कर व्यक्ति और समाज की हानि होती है। अतः प्रथम कर्त्तव्य तो यही है कि दोनों उद्देश्यों में समन्वय की स्थापना की जाय तभी शिक्षा द्वारा व्यक्ति और समाज दोनों को लाभ प्राप्त होगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से दोनों उद्देश्यों में समन्वय की कोई आवश्यकता नहीं होती है। दोनों उद्देश्यों का पृथक् समझना गलती है। ये दोनों उद्देश्य स्वयं ही समन्वित होते हैं।

पूरकता—वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य जब स्वयं ही एक दूसरे से समन्वित होते हैं तो वह एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से गहराई से अध्ययन करने पर यह भी भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है। बिना समाज के या समाज के अभाव में व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। जैसा कि जे. एस. रॉस (J. S. Ross) ने व्यक्त किया है।

"Individuality develops only in social atmosphere where it can feed on common interests and common activities."

अर्थात्—"वैयक्तिकता का विकास सामाजिक वातावरण में ही होता है जहाँ कि सामाजिक रुचियों और क्रियाओं का इसे भोजन मिलता है।"

जार्ज मीड (George Mead) के मतानुसार :

"The self which can be object to itself is essentially a social structure and it arises in social experiences."

अर्थात्—"आत्मा जो अपने आप ही कर्म बन जाता है आवश्यक रूप से एक सामाजिक स्वरूप है और यह सामाजिक स्वरूप सामाजिक अनुभव पर खड़ा है।"

दूसरी ओर समाज व्यक्तियों का समूह है। बिना व्यक्तियों के समाज का अस्तित्व खोजना भ्रम है इसी भाँति समाज के बिना व्यक्ति। व्यक्ति के लाभ के लिए ही स्वाभाविक रूप से समाज का निर्माण होता है। अतः व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आश्रित हैं, वे पारस्परिक विरोधी नहीं हैं बल्कि पूरक हैं। इस सम्बन्ध में आर. एम. मैकाइवर (R. M. Maciver) ने स्पष्ट समर्थन किया है :

"Socialization and individualizateon are two sides of a single process."

अर्थात्—"समाजीकरण तथा वैयक्तीकरण एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष हैं।"

समन्वय के अनुसार शिक्षा का स्वरूप—उपरोक्त विवेचन में यह निर्णय किया जा चुका है कि वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्यों में क्या समन्वय तथा सहयोग हैं। इसके अनुसार शिक्षा का क्या स्वरूप होगा? शिक्षा द्वारा न तो समाज को इतना शक्तिशाली बनाना है और न व्यक्ति को स्वतन्त्र या उच्छृखला। समाज के शक्तिशाली हो जाने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को दास बनाकर उसका शोषण करें और व्यक्ति के उच्छृंखल होने से वह समाज के नियमों की अवहेलना कर मनमाना

कर्म करे। व्यक्ति का विकास समाज के विकास में सहयोग देने पर ही है। इसके समर्थन में भारतीय विद्वान हुमायूँ कबीर का कथन है :

"If one is to be creative member of society, one must not only sustain one's own growth, but contribute something to the growth of society."

अर्थात्—"यदि व्यक्ति को समाज का रचनात्मक सदस्य बनना है तो उसे केवल अपना ही विकास न करना चाहिए बल्कि समाज के विकास के लिए भी अपना योग प्रदान करना चाहिए।"

इसी भाँति रस्क के (Rusk) मतानुसार :

"Self realization can be achieved only through social service and social ideal of real value can come into being only through free individuals who have developed valuable individuality."

अर्थात्—"आत्म विकास केवल समाज द्वारा ही हो सकता है तथा वास्तविक मूल्य का सामाजिक आदर्श उन व्यक्तियों के माध्यम से ही सजीव हो सकता है जिन्होंने अपने मूल्यवान व्यक्तित्व का विकास कर लिया है।"

जे० एस० रॉस (J. S. Ross) के मतानुसार :

"The interests of the state were enhanced by the development of virtue and wisdom in the individual. and individuals found their best chances of self-development in the service of the state."

अर्थात्—"व्यक्ति में सदगुण और बुद्धिमता के परिवर्तन से समाज के हित की वृद्धि होती थी और व्यक्ति में आत्म परिवर्धन का सर्वोत्तम अवसर समाज की सेवा में ही था।"

मीमांसा—उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हमको वैयत्तिक तथा सामाजिक उद्देश्यों में समन्वय स्थापित करके बालकों की शिक्षा योजना का स्वरूप प्रस्तुत करना चाहिए। ये दोनों उद्देश्य परस्पर विरोधी नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक एवं सहायक हैं। अतः यह ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि जहाँ एक ओर माता-पिता, शिक्षक, अभिभावक, समाज तथा राज्य का कर्तव्य है कि वे बालकों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने का प्रयास करें वहाँ बालक नागरिक जीवन में प्रवेश कर समाज तथा राष्ट्र की उन्नति करने का प्रयास करें, तभी व्यक्ति और समाज दोनों का हित सम्भव होगा।

प्रश्न ६—वर्तमान भारत के लिए शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित कीजिए।
(उ० प्र० १९५६, ५७ व ५८)

भूमिका—भारतीय इतिहास के पृष्ठ पलटने पर स्पष्ट पता लगता है कि कोई भी युग ऐसा न था, जिसमें कि शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का

उच्चत्तम विकास स्थिर किया गया हो। वर्तमान में हम भारतीय स्वतन्त्र हैं, परन्तु हमारी शिक्षा की प्रणाली उच्चत्तम उद्देश्यों की पूर्ति न कर पाने के कारण दोषपूर्ण है। फलत: देश के मनोवैज्ञानिकों, शिक्षाशास्त्रियों, दार्शनिकों एवं समाजसेवियों का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वे शिक्षा के उद्देश्यों को इस भाँति निर्धारित करें कि उन्हें व्यवहारिक रूप में परिणत करने पर व्यक्ति एवं समाज का अधिक से अधिक हित हो सके। इस प्रसंग में के० भाटिया एवं वी० डी० भाटिया (K. Bhatia and B. D. Bhatia) ने स्पष्ट व्यक्त किया है :

"Due to the far-reaching political, social ond economic changes that have taken place in India during the last twelve years it is imperative that the goal of education be reexamined and re-stated in terms of the needs that have arisen in society as a conse-quence of those changes."

सिद्धान्त—अब सर्वप्रथम यह निश्चय करना आवश्यक है कि शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित करते समय किन-किन सिद्धान्तों को ध्यान में रखना आवश्यक है। यह सिद्धान्त निम्न तथ्यों पर आधारित होने चाहिए :

(१) यह आवश्यक है कि शिक्षा का उद्देश्य पूर्णतया स्पष्ट एवं निश्चित हो।

(२) शिक्षा का उद्देश्य समय एवं समाज के अनुरूप हो।

(३) शिक्षा का उद्देश्य लचकदार एवं कोमल हो।

(४) शिक्षा का उद्देश्य व्यावहारिक हो।

(५) शिक्षा का उद्देश्य ऐसा हो, जिससे बालक शिक्षा प्राप्त कर जीविकोपार्जन कर सके।

(६) शिक्षा का उद्देश्य इस भाँति हो जिसमें व्यक्ति एवं समाज का सन्तुलन स्थिर बना रहे।

(७) शिक्षा का उद्देश्य सर्वांगीण हो जो बालक का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास कर सके।

वर्तमान भारत में शिक्षा के उद्देश्य—स्वतन्त्र भारत की परिस्थितियों को देखते हुए शिक्षा के उद्देश्य विभिन्न समय में विभिन्न रहे हैं। जैसा कि आयोजित शिक्षा आयोगों के मतों से स्पष्ट हो जाता है।

विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन १९४८ के अनुसार—

"Democracy depends for its very life, on a highest standard of general vocational and professional education. Therefore the task of universities should be dismination of learning, increased thirst for new knowledge, increased efforts to piumb the meaning of life and provision for professionai education to satisfy the need of our society."

अर्थात्—"प्रजातन्त्र का स्वयं जीवन सामान्य, व्यावसायिक तथा जीवकोपार्जन सम्बन्धी शिक्षा के उच्च स्तर पर निर्भर होता है। इस परिस्थिति में विश्वविद्यालयों का कर्तव्य इस प्रकार का हो कि शिक्षा का प्रचार, नवीन ज्ञान की प्राप्ति की आकांक्षा में वृद्धि, जीवन के अर्थ को प्राप्त करने का प्रयास, समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा जीविकोपार्जन की सुविधा की व्यवस्था हो सके।"

माध्यमिक शिक्षा कमीशन १९५२-५३ के अनुसार :

"Education system must make contribution to the development of habits, attitudes and qualities of character which will enable its itizen to bear worthly the responsibilities of democratic citizenship and to contract all those fissiporous tendencieswhich hinder the emergency of broad national and secular outlook."

अर्थात्—"शिक्षा व्यवस्था की आदतों, प्रवृत्तियों तथा चारित्रिक गुणों के विकास हेतु अपना योग प्रदान करना होगा जिसके फलस्वरूप यहाँ के नागरिक योग्यता पूर्वक प्रजातन्त्रात्मक नागरिकता के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की क्षमता प्राप्त कर सकें तथा उन ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का विरोध करें जो व्यापक राष्ट्रीय और धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण के विकास में सहायक न हों।"

स्वतन्त्र भारत के शिक्षा के निर्धारित उद्देश्य—उपरोक्त आयोगों को दृष्टि गोचर करके यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शिक्षा के उद्देश्यों में यह विशेषता हो कि उनसे व्यक्ति एवं समाज दोनों का हित हो। अतः मुख्यतः शिक्षा के उद्देश्य दो दृष्टि से निर्धारित किये जा सकते हैं :

(१) व्यक्ति की दृष्टि से।

(२) समाज की दृष्टि से।

व्यक्ति की दृष्टि से शिक्षा के उद्देश्य—शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित करते हुए ध्यान में रखना है कि व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक से उन्नति एवं निर्माण करें। साथ ही वैज्ञानिक, व्यावसायिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी विकास आवश्यक है। व्यक्तित्व का सम्पर्क तथा सर्वांगीण विकास भी अत्यन्त आवश्यक है।

(१) शारीरिक विकास—"स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है।" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने से स्पष्ट होता है कि बालक का शरीर उचित रूप से विकास कर सकता है। शारीरिक उद्देश्य का समर्थन करते हुए के० भाटिया एवं बी० डी० भाटिया (K. Bhatia B. D. Bhatia) ने व्यक्त किया है :

"The education should give us a knowledge of the laws of health and right, living, should develop bodily, grace and harmony is an aim... ..."

(२) मानसिक विकास—जिस भाँति शारीरिक विकास बालक के लिए आवश्यक है उसी भाँति मानसिक विकास भी अति आवश्यक है। भारतीय नागरिकों का मानसिक स्वास्थ्य गिरा हुआ है। वे विचार, तर्क, निर्णय आदि का उपयोग करने में अयोग्य हैं। अत: स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का उद्देश्य मानसिक विकास को दृष्टि में रखते हुए निर्धारित करना चाहिए।

(३) चारित्रिक विकास—स्वतन्त्र भारत आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक वातावरण में इतना निम्न स्तर पर है कि भ्रष्टाचार, अनाचार आदि काफी पनप गये हैं जिन्हें रोकने और दूर करने के लिए शिक्षा का उद्देश्य चारित्रिक विकास होना अति आवश्यक है, जिससे उत्तम चरित्र का निर्माण हो सके। स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"If you have assimilated fine ideas and made them bases of your life and character you have more education than any man who has got by heart a whole library".

अर्थात्—यदि आपने उत्तम विचारों को ग्रहण करके उन्हें अपने जीवन एवं चरित्र का आधार बना लिया तो आप उस व्यक्ति से अधिक शिक्षित हैं जिसने कि सम्पूर्ण पुस्तकालय को कंठाग्र कर लिया है।"

(४) आध्यात्मिक विकास—पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण कर भारतीय जीवन में आध्यात्मिक शिक्षा का ह्रास होता जा रहा है। वैज्ञानिक युग की यह देन भारत के लिए हानिकारक है। भारत में शिक्षा द्वारा भारतीयों का आध्यात्मिक विकास अति आवश्यक है। डॉ० राधाकृष्णन ने प्रसंग के सम्बन्ध में व्यक्त किया है :

"The aim of Education is neither national efficiencye, nor world solidarity, but making the individual feel that he has within himself something deeper than intellect call it spirit if you like."

अर्थात्—"शिक्षा का उद्देश्य न तो राष्ट्रीय कुशलता है, न अन्तर्राष्ट्रीय एकता है, बल्कि व्यक्ति को यह अनुभव करना है कि बुद्धि से भी अधिक गहराई में एक तत्त्व है जिसे तुम चाहो तो आत्मा कह सकते हो।"

(५) वैज्ञानिक विकास—वर्तमान वैज्ञानिक युग में भारतीय नागरिकों का शिक्षा का उद्देश्य अभी तक पूर्ण रूप से अवैज्ञानिक है क्योंकि दूसरों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति अधिकांश रूप में पायी जाती है। इसलिए शिक्षाशास्त्रियों, दार्शनिकों आदि का प्रमुख कर्तव्य है कि वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने में सहयोग प्रदान करें ताकि प्रत्येक नागरिक प्राकृतिक अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त कर उचित क्रम में कार्य प्रस्तुत कर सके और उससे लाभान्वित हो।

(६) व्यावसायिक विकास—भारत की अधिकांश जनता अनपढ़ है फलत: वे अपने व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर पाते हैं और न वे समाज का हित ही कर पाते हैं। अत: शिक्षा द्वारा नागरिकों को हस्तशिल्प एव उत्पादन सम्बन्धी प्रशिक्षण देने

पर अधिक ध्यान दिया जाय और परिस्थिति के अनुसार पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाय।

(७) सांस्कृतिक विकास—सभ्य एवं सुशिक्षित व्यक्ति बिना सांस्कृतिक विकास के होना असम्भव है। अतः शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करते समय बालक में कलात्मक भावों एवं कलात्मक रहन-सहन के गुणों की अभिवृद्धि योग्य पाठ्यक्रम बनाना अति आवश्यक है।

उपरोक्त प्रमुख उद्देश्यों के अतिरिक्त कुछ इस भाँति के भी उद्देश्य निर्धारित करना आवश्यक है कि बालक को स्वतः ही मानसिक रोगों से बचाव करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो, दूसरे अवकाश के समय-समय का सदुपयोग करना भी सीखना आवश्यक है। यदि वर्तमान काल में व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करें तभी वह अपने जीवन में पूर्णरूपेण सफल हो सकता है अन्यथा उसे जीवन निर्वाह करना भी दुरूह हो सकता है।

समाज की दृष्टि से शिक्षा के उद्देश्य—जिस भाँति व्यक्ति के दृष्टिकोण से शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य हो सकते हैं उसी भाँति नागरिक के रूप में व्यक्ति के लिए समाज का दृष्टिकोण अपनाते हुए शिक्षा के भिन्न उद्देश्य हो सकते हैं :

(१) समाजवादी समाज का निर्माण—स्वतन्त्र भारत एक प्रजातान्त्रिक प्रभु-सत्ता सम्पन्न राष्ट्र है, परन्तु जाति और वर्ण के रहते यह कहना अतिशयोक्ति है। यहाँ पर अजातिवादी और वर्णहीन समाज की स्थापना होनी चाहिए। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने शब्दों में इसी समाजवादी समाज का उल्लेख किया है :

"मैं समाजवादी राज्य पर विश्वास करता हूँ और मैं चाहूँगा कि शिक्षा का इस उद्देश्य की ओर विकास किया जाय।"

(२) सामाजिक कुप्रथाओं पर आक्षेप—भारतीय समाज में कुछ असहनीय कुप्रथाओं का प्रचलन अत्यधिक होता जा रहा है, जैसे दहेज प्रथा, बाल-विवाह, पर्दा प्रथा, जातिवाद, छूआछूत आदि। इन कुप्रथाओं का प्रभाव अनेकों युवक एवं युवतियों पर पड़ता है और वे विकास की ओर अग्रसर होने से वंचित रह जाते हैं। अतः इन सामाजिक कुप्रथाओं को समाप्त करने के उद्देश्य से ही शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये जाएँ।

(३) धर्म सम्बन्धी समाधान—प्राचीन काल से ही भारत एक धर्म-प्रधान देश गिना जाता है। यहाँ समय-समय पर ऋषियों, मुनियों और महापुरुषों ने धर्म का उल्लेख कर विश्व को मानवता का पाठ पढ़ाया है। फिर भी विभिन्न धार्मिक समस्याएँ यहां पनप रही हैं, जैसे प्रायश्चित द्वारा पाप से निवृत्त हो जाने की भावना से पाप करने की प्रेरणा, धर्म के ठेकेदार पण्डित, मुल्ला, पादरी आदि द्वारा जनता का शोषण, वास्तविक धार्मिक पुस्तकों के स्थान पर अनेकों टिप्पणी भरे काल्पनिक विचारों का अनुमोदन, विभिन्न देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों आदि का विश्वास। इन समस्याओं से राष्ट्र की बर्बादी होती है. और विकास में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं अतः

शिक्षा द्वारा धार्मिक समस्याओं को हल करने का प्रयास करना और शिक्षा के उद्देश्य उसी की पूर्ति हेतु निर्माण करना अति आवश्यक हो जाता है।

(४) सुयोग्य नागरिकता का प्रशिक्षण—भारत में अनेकों राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ हैं, जिनका समाधान होना अनिवार्य है। अनेकों राजनैतिक दलों का पारस्परिक संघर्ष देश की उन्नति में और बाधाएँ उपस्थित कर रहा है, क्योंकि नयी पीढ़ी के लिए नेतृत्व और अनुशासन का अभाव है। अतः यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि राष्ट्र हित की दृष्टि से बालकों की शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित हो। शिक्षा द्वारा बालकों को उनके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान कराना आवश्यक है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री के० जी० सैय्यद्दीन (K. G. Saiddin) ने समर्थन करते हुए व्यक्त किया है कि :

"We cannot sustain or consolidate freedom, toat we have won, unless we can train our present and future citizens to appreciate and discharge their new and exacting duties properly."

अर्थात्—"हमने जो स्वतन्त्रता प्राप्त की है उसे हम सम्भाल या बना नहीं सकते हैं जब तक कि हम वर्तमान तथा भविष्य के नागरिकों को उनके जीवन कर्त्तव्यों को समुचित रूप से समझने और प्रतिपादिन करने की शिक्षा नहीं देते।"

मीमांसा—उपरोक्त विवेचन के उपरान्त सिर्फ यह कहना है कि भारत के शिक्षा के उद्देश्य कुछ इस भाँति के हों कि देश और समाज के साथ-साथ व्यक्ति का भी स्तर उच्च हो। इस समर्थन में डा० राजेन्द्रप्रसाद (Dr. Rajendra Prasad) ने व्यक्त किया है—

"India has to choose for herself a culture that derives inspiration from what is noble in our ancient and at the same times does not ignore the demands of the present age."

अर्थात्—"भारत को अपने लिए ऐसी संस्कृति का निश्चय करना होगा जो कि प्राचीन संस्कृति की उत्तमता से प्रेरणा ले और साथ ही साथ वर्तमान मार्गों की भी उपेक्षा न करे।

प्रश्न ७—ब्रिटिशकाल की शिक्षा के उद्देश्य एवं स्वतन्त्र भारत के शिक्षा के उद्देश्यों का तुलनात्मक वर्णन कीजिए।

(उ० प्र० १९५७ एवं ६७)

भूमिका—प्राचीन काल में भारत के आर्य लोग अपना सम्पूर्ण समय आध्यात्मिक बातों में लगाते थे। धर्म और पूजा की अनेकों विधियों का प्रचलन बढ़ गया था। समाज में तर्क और न्याय का विकास हुआ। आर्य लोगों की शिक्षा में युद्ध, विद्या, धर्म और राजनीति को भी विशिष्ट स्थान प्राप्त था। समय के साथ-साथ समाज अपने सिद्धान्तों, मान्यताओं और रिवाजों में परिवर्तन करता रहा है, क्योंकि

विश्व और व्यक्ति के प्रति उसके ज्ञान की वृद्धि होती जाती है, फलतः व्यक्ति अपने पुराने विचारों एवं मान्यताओं को बदल लेता है या उन्हें त्याग देता है। इस भाँति समाज के सिद्धान्तों के परिवर्तन के साथ शिक्षा का उद्देश्य भी परिवर्तित हो जाता है। अन्ततोगत्वा भारत में जब मुसलमानी राज्य का विस्तार हुआ तो हिन्दू राज्य व धर्म खतरे में पड़ गये। इस समय शस्त्र विद्या के साथ एक इस भाँति की भावना का उदय हुआ जिससे धर्म पर होने वाले प्रहारों का प्रभाव न पड़े। इस भावना को भक्तिवाद कहते हैं। इस समय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य भक्ति और पूजा की भावना था।

तदनन्तर अंग्रेजी राज में शिक्षा में भारतीय उद्देश्यों की उपेक्षा की गई : व्यक्ति में दासता की भावना का विकास हुआ। भारतीयों को केवल इतनी शिक्षा उपलब्ध थी कि वह पढ़-लिखकर केवल क्लर्कों के योग्य बनें। ईसाई मिशनरियों ने भी अपना जाल फैलाना शुरू कर दिया। उनका प्रमुख उद्देश्य भारतीय जनता को ईसाई बनाना था।

बीस साल पहले से स्वतन्त्र भारत की कुछ अपनी जिम्मेदारी है। अब भारत की उन्नति औद्योगिक उन्नति पर आधारित है। अतः शिक्षा का उद्देश्य औद्योगिक प्रशिक्षण देना है, जबकि अंग्रेजों के काल में शिक्षा का उद्देश्य भारतीयों को दास बनाकर जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त था। औद्योगिक प्रशिक्षण के साथ भारतीयों को स्वाभिमानी, बुद्धिमान और स्वस्थ रहने की भावना का विकसित रूप समझाना भी अति आवश्यक है।

ब्रिटिश काल—अंग्रेजों के समय में शिक्षा का उद्देश्य भारत में नागरिकों को केवल सरकारी सेवाएँ करने और आपस में फूट पैदा करने के लिए था। वे सरकार के प्रति वफादार बनाते थे। उस काल की शिक्षा का उद्देश्य यूरोपीय पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर आधारित था। इस भाँति की शिक्षा से कला के विषयों द्वारा बुद्धि को परिष्कृत किया जाता था और शिक्षा द्वारा अंग्रेजी शासन का महत्त्व बढ़ाया जाता था। शिक्षा पद्धति प्राचीन थी जिस कारण व्यक्तियों का सर्वांगीण विकास सम्भव न था।

स्वतन्त्रता का काल—अभी भारत को स्वतन्त्र हुए बीस साल ही गुजरे हैं। इस अवधि में सरकार का प्रमुख उद्देश्य साक्षरता प्रदान करना और संगठन की भावना उत्पन्न करना है। संगठन द्वारा ही राष्ट्रीय भावना की जागृति सम्भव है। व्यक्ति को सर्वांगीण विकास की गति प्रदान करना शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है। वर्तमान शिक्षा में वैज्ञानिक विकास एवं औद्योगिक प्रशिक्षण देना विशेष उद्देश्य हैं ताकि आर्थिक विकास सफल हो सके। उद्देश्यों की सफलता के लिए भविष्य में आदर्श नागरिक प्राप्त करना भी शिक्षा का एक उद्देश्य है फलतः आज की शिक्षा सर्वतोमुखी एवं सर्वांगीण विकास करती है और राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ विश्व भावना उत्पन्न कर स्वस्थ समाज बनाकर अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध की पुष्टि करती है।

मीमांसा—तुलनात्मक दृष्टि से शिक्षा का अध्ययन कर लेने पर दोनों कालों की अवस्था, परिस्थिति एवं सामाजिक दृष्टिकोण सरलता एवं सुगमता से अध्ययन किये जा सकते हैं। उनके आधार पर शिक्षा के उद्देश्य का निर्माण भी उचित रूप से हो सकता है। यही उद्देश्य विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रदायक और समाज एवं राष्ट्र का सर्वांगीण विकास कर सकता है।

प्रश्न ८—"विभिन्न कालों में भारतीय शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य रहे हैं।" संक्षेप में इस कथन की विवेचना कीजिए।

भूमिका—एक सरसरी दृष्टि डालने से भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में यह पूर्ण रूप से निश्चित किया जा सकता है कि विभिन्न परिस्थितियों में परिवर्तन होते रहते हैं। सिद्ध दार्शनिक राधाकुमुद मुकुर्जी ने इसके समर्थन में लिखा है:

(Radha Kumud Mukerjee)

"Learning in India through ages had been prized and persued for its own sake."

अर्थात्—"प्राचीन भारत में युग-युग में ज्ञान का मूल्यांकन ज्ञान के लिए किया जाता रहा है।"

वर्तमान युग में हमारे सम्मुख पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, विभिन्न धर्मों, मतों तथा भाषाओं का एक साथ होना, प्राचीन संस्कृति की आस्था की समाप्ति, जनसंख्या की अभिवृद्धि आदि अनेकों कारणों के कारण से विरोधी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। इन कारणों का उचित मूल्यांकन न करने के कारण जीवन-दर्शन का निर्माण नहीं हो पा रहा है। फलतः जीविकोपार्जन ही एक मात्र आज शिक्षा का उद्देश्य बना हुआ है। एक मात्र इसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु आज का विद्यार्थी किताबी ज्ञान की कुञ्जी बन गया है। नैसर्गिक प्रवृत्तियों पर आधारित जीविकोपार्जन शिक्षा का उद्देश्य होने से जीवन दर्शन का अभाव है और शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती है। स्पष्ट और सरल अध्ययन की दृष्टि से प्राचीनकाल से वर्तमान काल तक के प्रमुख चार काल पर प्रकाश डालना उत्तम होगा। ये चारों काल निम्न हैं:

(१) वैदिक काल,
(२) ब्राह्मण काल,
(३) मुसलिम काल, और
(४) ब्रिटिश काल।

वैदिक काल—यह वेदों का काल धर्म-प्रधान रहा है। इस काल में ब्रह्मचर्य पालने के साथ-साथ विद्यार्थी वेदों का अध्ययन करते थे, जिनका प्रमुख उद्देश्य परम सत्य का अनुभव एवं ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करना ही था। परन्तु साथ-साथ शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास के प्रयास करते थे।

ब्राह्मण काल—वैदिक काल के पश्चात् ब्राह्मण काल में शिक्षा का उद्देश्य एक मात्र धर्म, प्रधान नहीं था। इस काल के उद्देश्यों में सांसारिक प्रसंगों का भी समावेश हो गया था। अतः इस काल के शिक्षा के उद्देश्यों को निम्न उद्देश्यों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य,
(२) व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य,
(३) चरित्र निर्माण का उद्देश्य,
(४) भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का उद्देश्य,
(५) नागरिक का ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य,
(६) मानसिक विकास का उद्देश्य,
(७) सामाजिक कुशलता प्राप्त करने का उद्देश्य तथा

(८) राष्ट्रीय संस्कृति की सुरक्षा एवं विश्व बन्धुत्व की भावना के विकास का उद्देश्य।

मुस्लिम काल—इस काल में भी जो शिक्षा का रूप था वह धार्मिक ही था। समाज के धार्मिक नेता मुल्ला एवं मौलवी अध्ययन कार्य करते थे। शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो पाठ्यक्रम निर्धारित किये जाते थे। उन पर भी धर्म का ही प्रभाव रहता था। इस काल के शिक्षा के उद्देश्य निम्न थे :

(१) जीविकोपार्जन का उद्देश्य,
(२) ज्ञानार्जन का उद्देश्य,
(३) चरित्र निर्माण का उद्देश्य,
(४) सामाजिक कुशलता प्राप्त करने का उद्देश्य तथा
(५) कलात्मक विकास का उद्देश्य।

ब्रिटिश काल—ब्रिटिश काल की प्रमुख विशेषता यह रही कि सरकार ने जनता अर्थात् भारतीय नागरिकों को बौद्धिक दास बनाया। राजनैतिक नेता इस बात को जानते थे कि भारतीयों को दास बनाकर भारत में शासन की जड़ें दृढ़ हो जायेंगी, अतः शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक दास बना देना ही था। इस काल के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—

(१) जीविकोपार्जन के हेतु क्लर्क का जीवन बनाने योग्य शिक्षा देना,
(२) धर्म परिवर्तन कर ईसाई बनने की प्रेरणा प्रदान करना,
(३) अंग्रेजी का ज्ञान केवल मात्र शासन कार्य चलाने हेतु देना,
(४) अंग्रेजी शासन की नींव दृढ़ करने के लिए पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण करने की प्रेरणा देना और

(५) भारतीयों को अंग्रेजों के समकक्ष हीन भावना उत्पन्न करना शिक्षा के उद्देश्य थे।

मीमांसा—भारत जैसे विशाल देश में शिक्षा के उद्देश्य का निर्धारण एक रूप से एक समान नहीं हो सकता है। विभिन्न कालों, देश में विभिन्न समुदायों या वर्गों में विभिन्न उद्देश्य शिक्षा के लिए निर्धारित किये गये हैं। स्वतन्त्र भारत में शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित करते समय काल, देश, स्थान आदि का ध्यान रखकर ही बालकों का पाठ्यक्रम बनाया गया है।

अध्याय ३

शिक्षा के प्रमुख साधन
(Main Agencies of Education)

प्रश्न ६—शिक्षा के साधनों से आपका क्या तात्पर्य है ? औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों के गुण-दोष व्यक्त करते हुए सन्तुलन स्थिर कीजिए।

भूमिका—व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास शिक्षा द्वारा होता है अतः प्रमुख रूप से शिक्षा प्रदान करने के लिए व्यक्ति को समाज का ही आलम्बन लेना होता है। समाज अथवा उसका अन्य रूप संस्था का विकास हुए बिना शिक्षा का प्रसार होना असम्भव है। प्रसिद्ध दार्शनिक बी० डी० भाटिया (B. D. Bhatia) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"Society has developed number of specialized institutions to carry out their functions of education. These institutions are known as the agencies of education."

अर्थात्—"सामाजिक शिक्षा के इन कार्यों को क्रियान्विति देने के लिए अनेक संस्थाओं का विकास किया है। ये संस्थाएँ ही शिक्षा के साधन कही जाती हैं।"

बालक को शिक्षा प्रदान करने के लिए प्रमुख साधन कौन-कौन से हो सकते हैं। इस प्रसंग में सर गॉडफ्रे थामसन (Sir Gandfrey Thomson) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"The whole of the enuironment is the instrument of man's education in the widest sense. But in that enviranment certain factors are distinguishable as being particulary concerned; the home, the school, the church, the phress, amusement and Robbies."

अर्थात्—"विस्तृत अर्थ में सम्पूर्ण वातावरण व्यक्ति की शिक्षा का साधन है किन्तु वातावरण में कुछ विशेष तत्व जैसे घर, स्कूल, चर्च, प्रेस, व्यवसाय और इच्छाओं का प्रमुख स्थान है।"

शिक्षा के साधनों के भेद—शिक्षा के साधनों को प्रमुख रूप से निम्न प्रकार विभक्त किया जा सकता है :

(१) औपचारिक साधन,

(२) अनौपचारिक साधन,
(३) सक्रिय साधन और
(४) निष्क्रिय साधन।

औपचारिक साधन—औपचारिक साधन का तात्पर्य उन साधनों से है जिनके द्वारा स्वतः ही विचारपूर्वक शिक्षा प्राप्त हो। इन साधनों में शिक्षालय, चर्च, संग्रहालय पुस्तकालय आदि आते हैं। ये प्रत्येक शिक्षार्थी को औपचारिक रूप से शिक्षा प्रदान करते हैं।

लाभ एवं दोष—औपचारिक शिक्षा के लाभ एवं दोषों के वारे में जान डीवी (John Dewey) ने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है—"औपचारिक शिक्षा के विना समाज के समस्त साधनों एवं सिद्धियों में हस्तान्तरित करना असम्भव है। इसके द्वारा ऐसे अनुभव की प्राप्ति होती है जिससे बालक दूसरों के साथ रह कर शिक्षा प्राप्त कर सकता है। जहाँ प्रमुख गुण का वर्णन है वहीं उसका एक महान् दोष भी है।

"औपचारिक शिक्षा वड़ी ही सरलता से तुच्छ, निर्जीव, अस्पष्ट एवं किताबी वन जाती है। छोटे और अविकसित समाजों में संचित ज्ञान कार्य रूप में सुगमता से परिवर्तित किया जा सकता है, परन्तु उन्नति समाज की संस्कृति के प्रतीक के रूप में होने के कारण कार्यों में परिणित नहीं की जा सकती है। इस अवस्था में यह भय है कि औपचारिक शिक्षा जीवन के अनुभव से कोई सम्वन्ध न रखकर विद्यालयों या शिक्षालयों की विषय सामग्री न वन जाय।"

अनौपचारिक साधन—वह साधन जिनका विकास समाज में स्वतः होता है शिक्षा के अनौपचारिक साधन हैं। इन साधनों की कोई निश्चित योजना नहीं होती है न कोई निश्चित नियम। ये बालक के संस्कारों के रूप में विद्यमान रहते हैं। यह अज्ञात अप्रत्यक्ष रूप से छाये रहने वाले साधन हैं। इनके अन्तर्गत परिवार, समाज, राज्य, विभिन्न संस्थाएँ, चलचित्र सिनेमा, पत्र-पत्रादि, रेडियो आदि आते हैं।

लाभ एवं दोष—जान डीवी के मतानुसार—"बालक अन्य बालकों के साथ अनौपचारिक ढंग से शिक्षा प्राप्त कर सकता है और साथ रहने की प्रक्रिया ही शिक्षा प्रदान करने का कार्य करती है। यह प्रक्रिया अनुभव का विस्तार करती है, कल्पना करने की क्षमता प्रदान करती है। यह कथन और विचार में शुद्धता एवं सजीवता उत्पन्न करती है।" यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि अनौपचारिक साधनों का बालकों की शिक्षा में अत्यधिक योग है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इनका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवनपर्यन्त बना रहता है। यही साधन बालक में आदतों, दृष्टिकोणों अभिरुचियों तथा अभिवृत्तियों का स्वाभाविक रूप से निर्माण करते हैं और बालक का चरित्र तथा व्यक्तित्व का विकास इन्हीं साधनों पर आश्रित रहता है।

लाभ के होते हुए भी अनौपचारिक साधनों में दोष भी पाये जाते हैं। बालक को अनौपचारिक साधनों द्वारा जो शिक्षा प्राप्त होती है वह सर्व प्रथम तो

अव्यवस्थित होती है, दूसरे साधारण एवं उच्च उद्देश्यों से हीन होती है। इस भाँति बालक जो कुछ ज्ञान प्राप्त करता है वह सामान्य व्यक्तियों का-सा होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी ऐसे गुणों का भी विकास सम्भव है जो स्वयं बालक के व्यक्तित्व, समाज एवं राष्ट्र के लिए लाभप्रद सिद्ध न हों।

औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों में सन्तुलन—यह तो निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि दोनों प्रकार के साधन अपना-अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। दोनों ही की महत्ता है जैसा कि उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। वर्तमान युग में जबकि जनसंख्या की वृद्धि हो गयी है और समाज का नागरीकरण एवं उद्योगीकरण हुआ है, इस वैज्ञानिक युग में आविष्कारों के परिणामस्वरूप औपचारिक शिक्षा का महत्त्व बढ़ गया है, किन्तु विद्यालय अथवा शिक्षालय से प्राप्त अनुभवों एवं सम्पर्क से प्राप्त अनुभवों के कारण औपचारिकता दूर होती जा रही है। इस नवीन परिस्थिति में दोनों प्रकार के साधनों में सन्तुलन बनाये रखना अति आवश्यक है। यह सन्तुलन उसी अवस्था में स्थिर रह सकता है जबकि दोनों भाँति के साधनों को समान महत्त्व प्रदान किया जाय, साथ ही समान सह-सम्बन्ध स्थापित हो।

प्रश्न १०—शिक्षा के कुछ प्रमुख साधनों पर प्रकाश डालिए।

भूमिका—जैसा कि पहले प्रश्न ९ में स्पष्ट किया जा चुका है कि शिक्षा के अनेकों साधन हैं जिनको कई-भाँति विभाजित किया जा सकता है। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री ब्राउन (Brown) के मतानुसार शिक्षा के निम्न प्रमुख साधन हैं :

(१) औपचारिक साधन,
(२) अनौपचारिक साधन,
(३) व्यावसायिक और
(४) अव्यावसायिक साधन।

(१) औपचारिक साधन—औपचारिक शिक्षा प्रदान करने वाले प्रमुख साधनों में शिक्षालय, धार्मिक संस्थाएँ, संग्रहालय, आर्ट-गैलरीज आदि प्रमुख हैं। प्राचीनकाल में धार्मिक संस्थाएँ—मन्दिर, मस्जिद, चर्च आदि शिक्षा देने का कार्य करती थीं। जहाँ बालकों को चारित्रिक विकास एवं ज्ञानार्जन की शिक्षा प्रदान की जाती थी और वर्तमान युग में शिक्षा का कार्य शिक्षालय में किया जाता है। कुछ प्रजातान्त्रिक देशों में संग्रहालयों द्वारा बालकों को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं, जीव-जन्तुओं, ऐतिहासिक लेखों आदि द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती है जिसके द्वारा शिक्षार्थियों का ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं सामाजिक विकास सम्भव है। कहीं-कहीं पुस्तकालय औपचारिक साधन बनते हैं। आजकल इनका महत्त्व बढ़ता जा रहा है। अनेकों भाँति की पुस्तकों, पत्रिकाओं एवं समाचार-पत्रों द्वारा व्यक्ति का बौद्धिक विकास होता है। पुस्तकालय की भाँति ही आर्ट गैलरीज द्वारा साहित्य एवं कला के प्रति

रुचि उत्पन्न एवं विस्तृत होती है। आर्ट-गैलरीज में चित्रों की कला देखने को प्राप्त होती है।

(२) अनौपचारिक साधन—शिक्षा प्रदान करने के लिए कुछ विद्वानों के मतानुसार परिवार बालक की प्रथम पाठशाला है। बालक घर पर ही प्रेम, परोपकार, सहानुभूति, दया, त्याग, कर्त्तव्य-पालन, सहयोग, परिश्रमशीलता एवं आर्थिक सिद्धान्तों की शिक्षा प्राप्त करता है। दूसरे बालक के ज्ञान की अभिवृद्धि खेलकूद में पारस्परिक मित्रों के विचार-विनिमय, वाद-विवाद द्वारा होती है। सामाजिक प्राणी होने के कारण बालक समाज या राज्य का सदस्य है और उसके द्वारा संगठित एवं व्यवस्थित रूप से स्वभाविक शिक्षा प्राप्त करता है।

(३) व्यावसायिक साधन—आर्थिक दृष्टिकोण से वर्तमान युग के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रेस एक महत्त्वपूर्ण साधन है। प्रेस से ही पुस्तकें, पत्रिकाएँ एवं समाचार-पत्र आदि छपकर प्राप्त होते हैं जिनसे शिक्षा की वृद्धि होती है। सिनेमा द्वारा भी पुस्तकों की ही भाँति बालक संस्कृति एवं सभ्यता का अध्ययन करता है। प्राचीन काल में नाट्यशालाओं द्वारा ऐतिहासिक, सामाजिक एवं धार्मिक नाटकों द्वारा बालक को शिक्षा प्राप्त होती थी। वही रूप अब सिनेमा का होता जा रहा है। साथ ही नाना भाँति के सांस्कृतिक नृत्यों आदि से कला, भाव एवं सौन्दर्य आदि की शिक्षा प्राप्त होती है। वैज्ञानिक युग में रेडियो भी एक ज्ञान में अभिवृद्धि करने का साधन बन गया है। रेडियो से घर पर रहकर ही नाना भाँति की कविताएँ, सूचनाएँ, समाचार, वैज्ञानिक भाषण, प्रवचन आदि सुनने को प्राप्त होते हैं जो ज्ञान की वृद्धि में सहायक होते हैं।

(४) अव्यावसायिक साधन—व्यवसाय से सम्बन्ध न रखने वाले साधन समाज की भलाई के लिए प्रयोग आने वाले, सामाजिक सदस्यों द्वारा निर्मित अव्यावसायिक साधन होते हैं। प्रमुख रूप से वह संस्थाएँ जो बालक की ज्ञान वृद्धि में सहायक होती हैं अव्यावसायिक साधन कहलाती हैं जैसे—नाटकीय संघ, खेल-कूद संघ, सामाजिक कल्याण समितियाँ, स्काउटिंग एवं गाइडिंग तथा प्रौढ़-शिक्षा केन्द्र। बालकों का समाजीकरण एवं ज्ञान वर्द्धन नाटकीय संघों द्वारा सम्भव है तो खेलकूद द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य की वृद्धि, समय का सदुपयोग एवं बन्धुत्व की भावना विकसित होती है। आजकल सेवासदन, भारत सेवक समाज आदि द्वारा सामाजिक कल्याण की शिक्षा प्रदान की जाती है जिससे बालकों को यथायोग्य सेवा करने की भावना प्राप्त होती है। बालक इन संस्थाओं में भाग लेकर समाज के लिए सुयोग्य एवं आदर्श नागरिक बन सकते हैं। इसी भाँति स्काउटिंग से व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त होती है। भारतीय संविधान में प्रत्येक नागरिक को शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है, फलतः प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों द्वारा शिक्षा का प्रसार किया जा रहा है जिनमें प्रौढ़ प्रशिक्षित होते हैं।

शिक्षा के प्रमुख साधन—शिक्षा के प्रमुख दो साधनों का वर्णन करने के उपरान्त अन्य साधनों का भी ज्ञान कर लेना आवश्यक है। सर्व प्रथम शिक्षा का साधन परिवार या घर है, तदनन्तर बालक पाठशाला या विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने जाता है। पाठशाला के पढ़ चुकने के बाद समाज में रहकर मनुष्य शिक्षा प्राप्त करता है। इस अवस्था में व्यक्ति नागरिक के रूप में किसी नगर या गाँव में रहता है। वहाँ भी स्थानीय संस्थाओं अर्थात् निकायों में शिक्षा ग्रहण करता है। नागरिक जिस राज्य के प्रति होता है उस राज्य द्वारा भी शिक्षा प्रदान की जाती है।

परिवार—अधिकांश विद्वानों ने परिवार को प्रथम पाठशाला कहा है। यदि बालक की शिक्षा के प्रति परिवार के महत्व और उसके कार्यों का विश्लेषण करें तो निम्न कार्य परिवार द्वारा बालक के प्रति होते हैं :

(१) बालक के सीखने का पहला स्थान परिवार है,

(२) परिवार समाजीकरण का आधार है,

(३) परिवार में रहकर दूसरे से अनुकूलन की शिक्षा प्राप्त होती है,

(४) बालक की मानसिक एवं भावात्मक प्रकृति का विकास होता है।

(५) आदतों का निर्माण परिवार में सुगमता से पड़ जाता है,

(६) प्रेम, स्वार्थ त्याग, सहयोग, परोपकार, सहिष्णुता, आज्ञापालन एवं अनुशासन, कर्तव्य-पालन आदि की भावना का उत्पन्न होना परिवार में रहकर ही बालक सीखता है।

(७) न्याय की शिक्षा परिवार द्वारा ही मिलती है और

(८) आर्थिक सिद्धान्त परिवार से बालक को सीखने को मिलते हैं।

विद्यालय—जब बालक पाठशाला या विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने जाता है तो उसका पथ-प्रदर्शन योग्य एवं अनुभवी शिक्षक द्वारा होता है। घर की शिक्षा में जो पूर्ति न हो सकी थी उनकी पूर्ति पाठशाला में होती है। पाठशाला बालक की शिक्षा में निम्न भाँति से योग देती है :

(१) पाठशाला में प्राकृतिक शक्तियों को विकसित करने का अवसर प्राप्त होता है,

(२) पाठशाला में परिवार के अनेकों उत्तरदायित्वों को निभाने की कला सीखता है,

(३) पाठशाला में ही बालक अनुभवों, सामाजिक अधिकारों, कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को सुरक्षित रखना सीखता है,

(४) जनतान्त्रिक आदर्शों की रक्षा एवं पूर्ति पाठशाला में ही होती है,

(५) बालक को शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं परिशिष्ट के शिक्षण का सहयोग तथा जीविकोपार्जन की शिक्षा पाठशाला में ही प्राप्त होती है,

(६) पाठशाला में ही बालक को मानव-कल्याण की शिक्षा मिलती है,

(७) बालक पाशाविक प्रवृत्तियों का शोधन एवं परिष्कार कर सामाजिक प्राणी बनता है और समाजीकरण में पाठशाला से ही सहयोग मिलता है और

(८) सामाजिक कुप्रथाओं को दूर करने का दृष्टिकोण बालक को पाठशाला में ही मिलता है।

समाज—समाज शिक्षा का एक विशाल परिवार है जिसमें अनेकों साधन निहित रहते हैं। परिवार समाज की इकाई का रूप है जिसमें बालक सामाजिक गुणों को सीखता है। समाज द्वारा ही पाठशाला की स्थापना होती है, जहाँ समाज की सभ्यता एवं संस्कृति का विकास होता है। पाठशाला के माध्यम से समाज अपनी भावी पीढ़ी का ज्ञान करता और शिक्षा प्रदान करता है। अतः समाज के कार्यों को निम्न रूप से व्यक्त किया जा सकता है :

(१) समाज पाठशालाओं की स्थापना करता है जहाँ बालक को सभ्य एवं सुशिक्षित बनने की शिक्षा मिलती है,

(२) समाज ही पाठशाला में बालकों के पाठ्यक्रम में उन विषयों का समावेश करता है जिससे उन्हें समुचित ज्ञान प्राप्त हो,

(३) बालकों की शिक्षा को व्यावहारिक रूप समाज द्वारा प्राप्त होता है, जैसे विभिन्न उत्सव, मेले, सभा, व्याख्यान आदि,

(४) व्यवस्था सम्बन्धी कार्य समाज ही प्रस्तुत करता है जैसे वे अवसर जिनमें बालकों के व्यक्तित्व का विकास हो और भविष्य में जीविकोपार्जन की समस्या का हल निकल सके,

(५) बालकों के हितों की रक्षा समाज द्वारा ही होती है वही सौन्दर्यानुभूति की भावना के विकास के लिए साधनों को संगठित करता है,

(६) बालकों को योग्य नागरिकता का प्रशिक्षण समाज में ही मिलता है तथा समाज के विभिन्न विचारों, समस्याओं एवं विचार धाराओं का परिचय समाज में रहकर ही प्राप्त होता है।

स्थानीय संस्थाएँ—समाज का एकांकीकरण होने पर अर्द्ध सरकारी संस्थायें जो अपने क्षेत्र में बालकों को शिक्षा देती हैं इस शीर्षक के अन्तर्गत आती हैं। ग्राम पंचायतें, जिला परिषदें, नगरपालिकायें, नगर महापालिकायें आदि अर्द्ध सरकारी संस्थायें अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार ही पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर तक शिक्षा का प्रबन्ध करती हैं। शिक्षा को सार्वभौतिक बनाने का महत्वपूर्ण कार्य इन्हीं संस्थाओं का होता है।

राज्य—देश की उन्नति और सुरक्षा की दृष्टि से शासन द्वारा शिक्षा कार्य प्रतिपादित होता है। राज्य अपने नागरिकों को सुरक्षित बनाने के लिए शैक्षणिक संस्थाओं को स्थापित कर उनको संचालित एवं निर्देशित करता है। शिक्षा के साधन के रूप में राज्य के निम्न कार्य हैं :

(१) शिक्षालय की व्यवस्था,
(२) माता-पिता अथवा अभिभावकों को प्रेरित करना,
(३) शिक्षालय की आर्थिक व्यवस्था की पूर्ति करना,
(४) शिक्षालय का आवश्यक नियन्त्रण करना,
(५) अध्यापकों को प्रशिक्षा देना व उसकी व्यवस्था करना,
(६) शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित करना,
(७) सैनिक शिक्षा का प्रबन्ध,
(८) शैक्षणिक अन्वेषणों को प्रोत्साहित करनी,
(९) निम्न स्तर की शिक्षा अनिवार्य करना और
(१०) नागरिक का प्रशिक्षण देने के लिए विद्यालय पद्धति पर नियन्त्रण एवं निर्देशन करना।

मीमांसा—विवेचन एवं विश्लेषण के उपरान्त यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि शिक्षा के साधन का तात्पर्य उस तत्व, वस्तु माध्यम, स्थान अथवा संस्था से होता है जहाँ या जिसके द्वारा बालक पर शैक्षिक प्रभाव पड़ता है।

✓प्रश्न ११—आदतों का निर्माण किस प्रकार होता है ? इनका जीवन में क्या महत्व है ? (उ० प्र० १९६०, ६५ व ६७)

भूमिका—कार्य के करने के बाद उसी कार्य को पुनः करना और अनेकों बार दोहराना आदत बन जाती है। इस प्रसंग में विलियम जेम्स (W. James) का कथन है :

"The tendency of an organism to behave in the same way as it has behaved before is called habit."

अर्थात्—"कोई भी प्राणी जैसा वह पहले कर चुका है अगर फिर करता है तो उसको आदत कहते हैं।"

एक अन्य दार्शनिक ने आदत की परिभाषा व्यक्त करते हुए लिखा है :

"An acquired act, usually a relative simple one, that is regularly or customarily manifested."

परन्तु वर्तमान नवीन मनोवैज्ञानिकों का कथन निम्न है :

"Repitition of any act again and again not creat a habit. The reason why we repeat it brings out the motive power of habit."

अर्थात्—"किसी कार्य के बार-बार करने से आदत नहीं होती, बल्कि किसी कार्य को दोहराने का कारण आदत के संचालन शक्ति को स्पष्ट करता है।"

इस नवीन परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि कार्य को बार-बार करने के पीछे एक प्रेरणात्मक शक्ति होती है, वही आदत कहलाती है। उदाहरणार्थ सिगरेट पीने की आदत बार-बार पीने से पड़ी अथवा व्यक्ति बार-बार सिगरेट इसलिए पीता है कि उसे पीने की आदत पड़ गयी है।

आदतों के गुण—आदतों के गुणों को निम्न भाँति से प्रगट कर सकते हैं :

(१) प्रेरणा,
(२) वाधित कार्य,
(३) अर्जित कार्य,
(४) कठिनाई,
(५) शक्ति की बचत, और
(६) निश्चित रूप।

आदतों की विशेषताएँ—किसी कार्य को वार-वार करने से प्राणी को कार्य करने की आदत सी पड़ जाती है। आदत का रूप धारण कर लेने के पश्चात् वह क्रिया यन्त्रवत् पूरी होने लगती है। निरन्तर कार्य करते रहने पर उस कार्य के करने में अधिक ध्यान भी नहीं देना होता। इसी कारण यह कहना सत्य ही है :

"Habits are good servants but bad masters."

अर्थात्—"अच्छी आदत सेविकायें और बुरी मालकिनें होती हैं। अच्छी आदत बन जाने से जीवन अच्छा बन जाता है और बुरी आदत पड़ जाने पर जीवन निकम्मा बनता है। इसी विचारधारा के अन्तर्गत आदतों की विशेषताओं को चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) एकरूपता,
(२) सम्मान,
(३) सुगमता, और
(४) ध्यान की स्वतन्त्रता।

आदतों की विशेषता यह है कि कार्य को करने की प्रवलता जब बाढ़ जाती है तो वह आदत कहलाने लगती है। स्काउट महोदय ने स्पष्ट व्यक्त किया है।

"We are prove to do what we are used to do."

अर्थात्—"जिस काम की हमें आदत होती है उसी कार्य को करने को हमारा चित्त लगता है।"

प्रोफेसर गेष्ट का भी यही मत है :

"Habits may be compond to well born out channel along which our vital energy flows when rebaned."

अर्थात्—"आदतें एक प्रकार की परिमार्जित नहर हैं जिनमें होकर हमारी शक्ति का प्रवाह होता है।"

विपरीत आदत न पड़ने पर कार्य करना कितना कठिन होता है अर्थात् मोटर चलाना, टाइप करना सीख जाने अर्थात् आदत पड़ जाने पर अत्यन्त सरल हो जाता है। इस वारे में प्रोफेसर गाल्ट एण्ड होवर्ड (Prof. Gault Howard) ने व्यक्त किया है :

"Habitual actions go strait to its mark with a minimum of wastage, efforts and energy."

अर्थात् – "बिना किसी प्रयास अथवा शक्ति के ह्रास के आदत वाले कार्य अपने लक्ष्य पर जाकर ही रुकते हैं।"

यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि साइकिल चलाते समय या स्वेटर बुनते समय बातचीत बिना किसी रुकावट के सुगमता के साथ की जा सकती है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि कार्य की आदत बन जाने पर कार्य की ओर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

आदतें डालने के नियम—यह कुछ अनुभव किया जाता है कि इच्छा करने पर किसी बात की आदत नहीं पड़ती। हर व्यक्ति अच्छी आदतों को डालने की इच्छा रखता है। प्रयास करने पर भी आदत नहीं डाल पाता। कुछ ऐसे भी निश्चित नियम हैं जिनसे आदतें सुगमता एवं सरलता से डाली जा सकती हैं जैसे—

अभ्यास—समयानुसार लगातार अभ्यास करने से आदत पड़ सकती है। जब तक आदत न बन जाय अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए।

संलग्नता—जिस कार्य की आदत डालनी हो उसे करने में लग्न होना आवश्यक है। यदि व्यक्ति लग्न से कार्य करता रहे तो आदत पड़ जाना सुगम होता है।

कार्यशीलता—आदत बनाने के लिए कार्यशीलता भी आवश्यक होती है। किसी कार्य को करने के लिए वह कार्य करने को कल पर नहीं टालना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक अवसर पर सजग रहना अति आवश्यक होता है तभी आदत पड़ती है।

संकल्पता—आलस्य या ढीलेपन से ऐच्छिक कार्य में विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं अतः संकल्पता से पूरी शक्ति लगाकर आदत बनना कोई कठिन कार्य नहीं होता है।

चरित्र निर्माण में आदतों का महत्त्व—उपरोक्त आदत की परिभाषा व विशेषताएँ तथा उनको डालने के नियम का अध्ययन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि आदत का चरित्र से निकट का सम्पर्क होता है। दोनों परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जब कोई कार्य आदत बन जाती है तो वह जल्द नहीं छूटती। कभी-कभी अभ्यास की अधिकता के कारण जो आदत बन जाती है, उस आदत का आधार चेतना की प्रबल इच्छा होती है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री मैकडूगल के मतानुसार :

"प्रत्येक आदत किसी मूल प्रकृति की प्रेरणा से ही बनती है। इसलिए उसकी स्वतन्त्र प्रेरणा नहीं होती।"

एक अन्य विद्वान् जेम्स चरित्र को आदमी का दूसरा स्वभाव मानते हैं। अनुकूल परिस्थितियों के आने पर आदतें स्वतः ही काम करने लगती हैं, परन्तु

विपरीत चरित्र को व्यक्ति अपने आदर्शों के अनुकूल बनाता है। उसके आदर्श उन्हीं व्यवहारों को संचालित करते रहते हैं। इसके अलावा चरित्र निर्माण में आदतों से सहायता भी ली जा सकती है। बालक का स्वभाव कोमल होता है। उस अवस्था में उसे जो कार्य करने का अभ्यास डाला जाता है वह जीवन भर बना रहता है। अतः उसकी रुचि को इस भाँति संचालित करना चाहिए जो अच्छी आदतों का स्वरूप बन जाय और उसका जीवन सुखमय व्यतीत हो जाय। यह कहा जा सकता है कि चरित्र ही आदतों का पुञ्ज है।

मीमांसा—उपरोक्त दृष्टि से आदत का महत्व आँका जा सकता है। चरित्र में दृढ़ता, क्रम और नियम आता है। प्रत्येक भाँति के स्थायी भाव विशेष आदतों द्वारा ही प्रगट होते हैं। बाल्य अवस्था में माता-पिता द्वारा जो आदतें डाल दी जाती हैं: जैसे—खाने-पीने का ढंग, सफाई से रहने का सलीका, व्यवस्था-पूर्वक कार्य करने की क्षमता। बालक को स्वच्छता और मर्यादा से लगाव हो जाता है। अतः जिस काम को करने की आदत नहीं होती वह काम उसे कठिन और दूभर प्रतीत होगा। यहाँ तक कि उससे वह घृणा भी करने लगेगा। यदि बालक घृणा की भावना रखता है तो आदत का महत्व बढ़ जाता है। इस प्रसंग में गाँधीजी का कथन है:

"घृणा करना बुरी बात नहीं है, दुर्गुणों से घृणा करने की आदत डालनी चाहिए। केवल सचेष्ट इस अर्थ में रहना चाहिए कि वह दुर्गुणों की ओर न मुड़ने पाये।"

प्रश्न १२—बालकों में प्रायः कौन-कौन सी बुरी आदतें पाई जाती हैं? इसकी सूची तैयार करके किसी एक आदत के कारण और निवारण के उपाय की व्याख्या कीजिए। (उ० प्र० १९६२)

भूमिका—प्रायः यह देखा जाता है कि बुरी आदतें बालकों को बचपन में ही पड़ जाती हैं। झूठ बोलना, गाली देना, जी चाहे जहाँ थूकना, देर तक सोना, दीवारों पर लिखना, छिपकर सिगरेट पीना, एक दूसरे की बुराई करना आदि साधारण लगने वाली बातों से बच्चों को सतर्क रखना आवश्यक है। गन्दी आदत पड़ने के कई कारण हैं। इनको दूर करने के लिए गन्दी आदत पड़ जाने का कारण जानना आवश्यक है। अतः हम गन्दी आदतें पड़ने के प्रमुख कारण निम्न रूप से अध्ययन कर सकते हैं:

(१) बुरी संगत,
(२) बड़ों का आचरण,
(३) माता-पिता या अभिभावक की अशिक्षा,
(४) माता-पिता का लाड़-प्यार,
(५) आदर्शों का अभाव,
(६) दण्ड का प्रभाव,

(७) एकान्त में रहने की प्रवृत्ति और
(८) रचनात्मक कार्यों की कमी।

बुरी संगत—हर नगर, हर पाठशाला या विद्यालय, हर गाँव में अच्छे और बुरे आचरणों वाले बालक होते हैं। अच्छे आचरण वाले बालक प्रायः बुरी संगति में पड़कर बुरी आदतें सीख लेते हैं। अतः यह आवश्यक है कि बालक को बुरी संगति में पड़ने से रोका जाय।

बड़ों का आचरण—परिवार में जब बड़े सदस्य परस्पर गालियाँ दें व बुरी बातों या गन्दी आदतों में प्रसन्न रहें तो बालक भी उनका अनुकरण कर गन्दी आदत सीख लेता है। क्योंकि बालक का मन प्रतिबिम्ब के समान होता हैं वह दूसरों को देखकर शीघ्र अनुकरण करने लगता है। अतः बड़ों को बालकों का आचरण स्वच्छ एवं सुन्दर बनाने के लिए सर्वप्रथम अपने आपको सुधारना चाहिए।

माता-पिता या अभिभावक की अशिक्षा—अशिक्षा के कारण बालक की प्रत्येक गलती पर यदि माता-पिता क्रोधित होकर डाटने लगे तो बच्चे की प्रगति करने की भावना मन्द पड़ जाती है। दूसरे अशिक्षित माता-पिता बालक की देख-भाल या संरक्षण भी उचित रूप से नहीं कर पाते हैं। वे बच्चों की इच्छाओं का दमन करने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं परन्तु बालक का सुधार होने की बजाय उसमें कुछ गन्दी आदतें उत्पन्न हो जाती हैं। उसके आचरण बिगड़ जाते हैं। उसका विकास स्वाभाविक रूप से नहीं होता है।

माता-पिता का लाड़-प्यार—जब माता-पिता बालक पर अधिक लाड़-प्यार दिखाते हैं तो उस बालक के मन में अन्य भाईयों या बहिनों तथा पड़ोसियों तक के बालकों के प्रति ईर्ष्या या द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है तथा अन्य सब मिलकर उस बालक को तंग करने का प्रयास करते हैं। बालकों में मार-पीट, गाली-गलौंच, चोरी आदि अनेकों गन्दी आदतें पड़ जाती हैं। अधिक लाड़-प्यार के कारण बच्चों में हीन भावना उत्पन्न हो जाती है और वे कार्य करने से जी चुराने लगते हैं। इस भाँति वह बुरी आदतों का शिकार हो जाता है।

आदर्शों का अभाव—यह संयुक्त परिवार प्रणाली का अन्त हो जाने पर प्रायः देखा जाता है कि माता-पिता छोटी-छोटी घरेलू बातों पर विचार-विनिमय करते रहते हैं। उनका ध्यान उच्च स्तर की बातों पर नहीं जा पाता है। सेवा भाव, विनय, सहनशीलता आदि का परिवार में अभाव रहता है और उन पर न कोई आचरण ही होता है। फलतः बालक अच्छे गुणों के सीखने का अवसर प्राप्त नहीं कर पाता और वह निम्न स्तर पर ही रहता है।

दण्ड का प्रभाव—बालकों को अधिक मारने-पीटने अथवा डाँटने से सुधार के स्थान पर हानि अधिक होती है। उन्हें अपने ऊपर से विश्वास हट जाता है, वे जद्दी हो जाते हैं और बुरे काम करने के लिए चोरी करने लगते हैं। यह उनकी

समझ से परे होता है कि उन्हें सजा किस कारण से दी गयी है। वे तो मन को अच्छा लगने वाला कार्य बुरा नहीं मानते। अतः बड़े सदस्यों को प्रेम व सहानुभूति द्वारा उनकी बुरी आदतें छुड़वानी चाहिए, अन्यथा उनका कार्य करने का उत्साह ठण्डा पड़ जायगा।

अकेले रहने की प्रवृत्ति—जब बालक को अकेले रहने की आदत पड़ जाती है तो उसको अनेकों अन्य अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं। काल्पनिक विचारधारा में रहने के कारण रचनात्मक कार्यों में उनका मन नहीं लगता। इस भाँति रहने वाले बालक वहमी, अभिमानी व निराशावादी हो जाते हैं। फलतः यह परम आवश्यक है कि उनकी इस बुरी आदत को छुड़वाने के लिए उन्हें रचनात्मक कार्यों की ओर उद्धृत किया जाय।

रचनात्मक कार्यों की कमी—बचपन से ही बालक नयी-नयी बातों की जानकारी करने का इच्छुक होता है। यदि रचनात्मक कार्यों की इस प्रवृति को रोका जाय, तो बालक का ध्यान बुरे कार्यों की ओर जाने लगता है। माता-पिता या अभिभावक बालक की स्वाभाविक क्रियाओं को दबाने का प्रयास करते हैं तो बालक में अनेकों भाँति की विकृति उत्पन्न हो जाती हैं। अतः रचनात्मक कार्यों में लगाना अधिक लाभप्रद रहता है। गृह कार्य, जन सेवा आदि रचनात्मक कार्यों में आते हैं।

बुरी आदतों से बचने के उपाय—विद्वानों ने बुरी आदतों को छुड़ाने या बालकों को उनसे बचाने के कुछ उपायों का उल्लेख किया है, जिनमें से प्रमुख उपाय निम्न हैं :

(१) **समझाने का उपाय**—बालक को हानि कारक कार्य के अवगुण एवं दोष समझाने चाहिए, जिससे हानि के डर के कारण वह बुरी आदत को छोड़ देगा और उसके बदले में अच्छी आदत अपना लेगा।

(२) **नियन्त्रण**—माता-पिता को बालक को हमेशा नियमित नियन्त्रण में रखना चाहिए। यदि बालक को नियन्त्रण में नहीं रखा जाय तो वह अपने मन की करेगा और उसमें स्वेच्छाचारिता का भाव बढ़ जायगा जो बड़े होने पर बालक को उच्छृंखल बना सकता है। अतः माता-पिता अथवा गुरुजनों का परम कर्त्तव्य है कि बालक को नियन्त्रण में रखें।

(३) **विरोधी आदत डालना**—यदि बालक में कोई गन्दी आदत पड़ने की सम्भावना है तो उसके संरक्षकों को चाहिए कि उसमें उस आदत के विरुद्ध प्रकृति वाली कोई दूसरी आदत डालने का अवसर दें ताकि वह बुरी आदत न पड़े। जैसे चाय की आदत को रोकने के लिए दूध पीने की आदत डालें आदि।

(४) **दण्ड देना**—यदि बालक में कोई बुरी आदत देखी जाय तो समय पर ही उसे दण्ड दिया जाय जिससे दण्ड का भय खाकर भविष्य में वह उस कार्य की पुनरावृत्ति न कर सके।

(५) पुरस्कृत करना—यदि बालक कोई अच्छा कार्य करे तो गुरुजनों को चाहिए कि बालक को पुरस्कार देकर प्रोत्साहित करें। इस भाँति वह अच्छे कार्य करने की रुचि करेगा और बुरे कार्यों से स्वभावतः ही घृणा करने लगेगा।

(६) उद्धरण विधि—संरक्षकों एवं गुरुजनों को चाहिए कि बालक को पौराणिक सच्चरित्रपूर्ण उदाहरण सुना कर और उनका उदाहरण देकर अच्छी-बुरी आदतों को भली भाँति समझावें। हो सकता है कि फिर बालक बुरी आदतों के परिणाम के भय से उन्हें न अपनावे।

(७) स्थान परिवर्तन—बालक पर वातावरण या कुसंगत का प्रभाव शीघ्र पड़ जाता है। इससे बचने के लिए बालक का कहीं अन्य स्थान पर स्थानांतर कर दिया जाय तो वह उस आदत से बच जाता है।

मीमांसा—उपरोक्त आदतों के निर्माण और बचाव के अध्ययन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि बालक को आदतों के वशीभूत नहीं होने देना चाहिए बल्कि उसकी इस भाँति की प्रवृत्ति पैदा करे कि आदतें उसके वशीभूत रहें अर्थात् उन्हें जब चाहे तब छोड़ देने की क्षमता बालक में हो।

प्रश्न १३—अनुशासन से आपका क्या तात्पर्य है ? इसके भेदों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

भूमिका—अनुशासन की आवश्यकता आज के युग में ही नहीं काफी समय से अनुभव की जाती रही है। अनुशासन विद्यार्थियों का पारस्परिक शिक्षक और विद्यार्थी के बीच, विद्यार्थी का जनता अथवा समाज के साथ और अपने परिवार के अन्य सदस्यों के साथ एक नियमित व्यवहार का रूप है। इस अवस्था में प्रत्येक सदस्य अपना-अपना कार्य समुचित रूप एवं क्रम से पूरा कर सकता है। अनुशासन की महानता के लिए सन्त तुलसी के वचन थे :

"जो राउर अनुशासन पावउं। कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठावउं।"

इसी सम्बन्ध में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जेम्स एम० रॉस (James S. Ross) ने भी व्यक्त किया है :

"Education as a discipline or training is the notion that has come down to do through the ages."

अर्थात्—"शिक्षा अनुशासन या प्रशिक्षण का नाम है, यह विचार युगों से आज तक माननीय रहा है।"

अनुशासन का अर्थ—अंग्रेजी शब्द 'डिसीप्लिन' (Discipline) का हिन्दी अनुवाद अनुशासन है। इसको संस्कृत में विनय कहा जाता है। अनुशासन का अर्थ बड़ों का अनुकरण अथवा बंधकर चलना है। शिक्षा क्षेत्र में शिक्षा संस्था सम्बन्धी नियमों का पालन करना एवं गुरुजनों की आज्ञानुसार कार्य करना अनुशासन कहलाता है। शिक्षाशास्त्री जेम्स एस० रॉस ने अनुशासन की परिभाषा में व्यक्त किया है :

"Discipline is much wrider notion and it ought always to refer to the effect of the school on the pupils charactor. It is concerned not mainly with outward behaviour, but with the inner motives of conduet.

इसी भाँति बोर्ड आफ एजूकेशन के शब्दों में अनुशासन की परिभाषा :

"Discipline is the means whereby children are trained in order, sliness, good conduct, and the habit of getting the best out of themselves."

अर्थात्—"अनुशासन वह साधन है जिसके जरिये बालकों को व्यवस्थित रीति के अनुसार अच्छे आचरण तथा अपना सर्वोत्तम उपयोग करने की आदत का प्रशिक्षण दिया जाता है।"

अनुशासन के भेद - प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों एवं दार्शनिकों ने अनुशासन के प्रमुख तीन भाग व्यक्त किये हैं :

(१) दमनात्मक अनुशासन,
(२) प्रभावात्मक अनुशासन और
(३) मुक्तित्यात्मक अनुशासन।

दमनात्मक अनुशासन—विद्यार्थियों को शासित करने के लिए दृढ़ आदेश और आदेश न मानने पर दण्ड की आवश्यकता होती है। स्वामी अखिलानन्द के कथन के अनुसार अधिक स्वतन्त्रता में बालक काबू से बाहर हो जाते हैं।

"Child and mind are alike. If you will make them free you will find them jumpy and difficult to control."

शिक्षाशास्त्री जेरेमियाँ का भी यह कहना है :

"The heart is decietful above all things, and desperately wicked"

अर्थात्—"दिल सबसे अधिक धोखा देने वाला है और वह अति दुष्ट है।"

प्रभावात्मक अनुशासन—इसके अनुसार शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह अपने व्यक्तित्व के द्वारा विद्यार्थियों को इस तरह प्रभावित करे कि विद्यार्थियोंमें अनुशासन-हीनता न उत्पन्न हो। इस प्रसंग में जेम्स एस० रॉस (James S. Ross) का स्पष्ट कथन है :

"मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्यापक विद्यार्थियों की भावना को प्रेरित नहीं करता बल्कि अनुवर्ती सहज प्रकृति को जानते हुए सुनिश्चित रूप से प्रयोग में लाता है।"

मुक्तित्यात्मक अनुशासन—इस प्रणाली को अपनाने वाले उपरोक्त दोनों प्रणालियों-दमनात्मक और प्रभावात्मक अनुशासन, को पसन्द नहीं करते हैं। उनके मतानुसार बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। जैसा कि अंग्रेज कवि वर्डसवर्थ का मत है।

"He (child) comes from heaven trailing clouds of glory."

अर्थात् —"यश और गौरव के बादलों पर चलकर बालक स्वर्ग से आता है।"

"बालक के स्वयं को जानने के लिए बालकों को पूर्णरूपेण पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। साथ ही बालकों को भी अपनी समस्त शक्तियों का समुचित उपयोग करने के लिए अनुशासन एवं प्रशिक्षण को स्वीकार करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।"

उपरोक्त तीन भागों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अनुशासन को दो भागों में ही विभक्त कर सकते हैं :

(१) बाह्य अनुशासन और

(२) आन्तरिक अनुशासन।

बाह्य अनुशासन—बाह्य अनुशासन में अधिकारी सदैव सर पर खड़ा होकर आदेश देता रहता है। यह एक भाँति से दबाव और बलपूर्ण का अनुशासन है जिसका आधार केवल दण्ड देना है। व्यक्ति या विद्यार्थी के प्रत्येक कार्य दूसरों की इच्छा पर निर्भर होते हैं, जिनको वह अपने मन से कभी भी स्वीकार नहीं करता है। इससे बालक का अन्तःकरण शुष्क हो जाता है और विकास में बाधा बन जाता है।

आन्तरिक अनुशासन—वास्तविक अनुशासन तो मनोवैज्ञानिक आधार पर आन्तरिक अनुशासन ही है। इससे तो किसी अन्य पुरुष का बाहरी कोई दबाव या बल अथवा आदेश नहीं होता है बल्कि बालक आन्तरिक प्रेरणा द्वारा ही अपना कार्य करता है। फलतः बालक अपनी मूल-प्रवृत्तियों, उद्वेगों आदि को उचित मार्ग पर अग्रसर कर सकता है।

मीमांसा—ऊपर वर्णित अनुशासन के भेदों में सर्वोत्तम आन्तरिक अनुशासन है, जिसमें बालक आत्मनिर्भर हो जाता है और आत्मनियन्त्रण की भावना के कारण उसमें आत्म गौरव उत्पन्न होता है। वह स्वयं अपने कार्यों के करने की क्षमता रखता है। अच्छे-बुरे का ज्ञान स्वयं अनुभव करता है। आत्म गौरव की रक्षा के कारण वह किसी बाहरी लालच या लोभ में आकर अपने विचारों में परिवर्तन नहीं करता है। अतः वह अनुशासन त्यागने योग्य है जिसमें बालक के उच्च गुणों का ह्रास होता है।

प्रश्न १४—अनुशासन के विकास के कौन-कौन से स्तर हैं? वर्तमान शिक्षा संस्थाओं में विद्यमान अनुशासनहीनता के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें दूर करने के उपाय भी बताइए। (उ० उ० १९५९ व १९६४)

भूमिका—अनुशासन का परिभाषा और महत्त्व का वर्णन प्रश्न १३ के अन्तर्गत किया जा चुका है। अनुशासन के विकास का सम्बन्ध आयु एवं गुणों के आधार से है। प्रत्येक बालक का विकास समान नहीं होता है। न एक ही सी आयु वाले बालकों

में एक ही विकास का स्तर बनता है। शिक्षा के आधार पर अनुशासन का वर्गीकरण करते हुए उसका विकास का स्तर अध्ययन करते हैं।

विकास के स्तर—अनुशासन का वर्गीकरण निम्न भांति से किया जा सकता है :

(१) प्राकृतिक अनुशासन,
(२) दण्ड एवं पुरस्कार,
(३) निन्दा एवं प्रशंसा, और
(४) आत्म-सम्मानजनित अनुशासन।

प्राकृतिक अनुशासन—अल्प आयु में बालक अधिक उत्पाती होता है और इस काल में उत्पात के कारण उसे शारीरिक क्षति भी अधिक होती है। अतः शारीरिक क्षति का अनुभव करने के बाद बालक स्वयं ही उस कार्य को करना बन्द कर देता है। जैसे मिर्च आदि के प्रयोग करने के बाद मिर्च खाना भी बन्द कर देता है। आग से खेलने पर जलने का अनुभव हो जाने पर आग के खेल से या गर्म वस्तुओं को छूने से भी संकोच करता है। यह अनुशासन मूर्ख भी मान लेते हैं। प्रायः यही देखा जाता है कि सर्दी में बड़े बालक भी कपड़ों का उचित प्रयोग नहीं करते और सर्दी व बुखार के रोग से ग्रसित हो जाते हैं। संरक्षक बालक को इस भांति का अनुशासन देने में असमर्थ होते हैं और बालक अपनी हानि स्वयं करता है।

दण्ड एवं पुरस्कार—कुछ समझ आने पर बालक का अनुशासन उसको दिये जाने वाले दण्ड या पुरस्कार पर आधारित होता है। अनुचित कार्य करने पर दण्ड या उचित अथवा आदर्श कार्य करने पर पुरस्कार मिलता है तो उससे बालक स्वतः ही अनुचित कार्य से घृणा और उचित कार्य में तत्परता दिखाता है। फलतः अच्छे-बुरे कार्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

निन्दा एवं प्रशंसा—बालक के कुछ वयस्क होने के उपरान्त दण्ड एवं पुरस्कार का इतना अधिक प्रभाव नहीं होता है जितना कि सामाजिक निन्दा एवं प्रशंसा का होता है। यदि बालक की सामाजिक प्रशंसा होती है, तो बालक उस कार्य को उत्साह के साथ करता है और बुरे कार्य से घृणा करने या उसको करने से जी चुराता है। जैसे, खेलते समय पुरस्कार प्राप्त होने का उत्साह नहीं होगा जितना कि जनता द्वारा तालियाँ बजाने पर उत्साह होता है।

आत्म-सम्मान जनित अनुशासन—बालक को आदर्श बनाने का कार्य आत्म-सम्मानजनित अनुशासन का ही है। यह अनुशासन की उच्च अवस्था है। जब बालक को अपना आदर्श और आत्म तुष्टि का अनुभव होता है, तो वह सामाजिक निन्दा एवं प्रशंसा की भी उपेक्षा कर देता है।

अनुशासनहीनता के कारण—शिक्षाशास्त्र के अन्तर्गत अनुशासन के विकास का स्तर अध्ययन करने के पश्चात् यह भी अध्ययन करना अति आवश्यक है कि अनुशासन की हीनता के कौन-कौन से प्रमुख कारण हो सकते हैं। शिक्षा प्रदान करने

का स्थान विद्यालय (शिक्षालय) होते हैं, अतः शिक्षालय के अन्दर या वाहर दो ही जगह अनुशासन के कारणों का विचार करना है।

शिक्षा में अनुशासनहीनता के कारण—सर्वप्रथम अध्यापक यदि बालकों की विभिन्नता को दृष्टि में रखते हुए व्यवहार नहीं करता तो बालकों में द्वेष और अध्यापक के प्रति कटुता उत्पन्न हो जाती है, जो अनुशासन हीनता उत्पन्न कर देती है। दूसरे अनुचित, अव्यवस्थित अथवा अव्यवहारिक विधि द्वारा अध्यापन होने पर अनुशासनहीनता आ जाती है। अध्यापक द्वारा अनुशासन को स्थिर रखने में अधिक शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो शिक्षार्थी उसे असहनीय समझते हैं और अनुशासन को तोड़ देते हैं। यह अध्यापक की अनुपस्थिति या उपस्थिति का भी ध्यान नहीं रखते। कभी-कभी पाठ्य विषयों की अपेक्षा के कारण भी अनुशासन-हीनता उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त अनुशासनहीनता का कारण विद्यार्थी में पहले से ही बुरी आदतों का होना हो सकता है।

शिक्षालय के वाहर अनुशासनहीनता के कारण—अध्यापक यदि कम शिक्षित हो, तो विद्यार्थी कक्षा के वाहर भी अनुशासनहीनती उत्पन्न कर देते हैं। कभी-कभी देखा गया है कि अध्यापक की चरित्रहीनता, गरीबी या अनुचित वेश-भूषा भी अनुशासन हीनता उत्पन्न करती है। वर्तमान में भारत के अन्दर विद्यार्थी वर्ग में अनुशासन हीनता विशेष पाई जाती है जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं :

(१) शासन की अनुचित नीति अर्थात् शिक्षालयों में शासन द्वारा हस्तक्षेप।

(२) शिक्षा को जीविकोपार्जन का साधन मानना न कि ज्ञानार्जन का।

(३) शिक्षक वर्ग द्वारा शिक्षा का आधार शिक्षा का आदान-प्रदान नहीं बल्कि आर्थिक पूर्ति का साधन मानना है।

(४) उचित, प्रभावकारी अथवा उच्चस्तर की शिक्षा का अभाव।

(५) विद्यार्थियों का अथवा शिक्षालयों का वातावरण दूषित होना।

अनुशासन बनाने के साधन—शिक्षालयों में अनुशासन बनाने के लिए निम्न साधन अधिक उपयोगी रहते हैं :

(१) शिक्षकों का अपना पाठ्यक्रम दोहरा कर रखना।

(२) शिक्षार्थी व शिक्षक का पारस्परिक प्रेम।

(३) शिक्षक का सतर्क रहना एवं परिश्रम से शिक्षा का देना।

(४) शिक्षा देते समय बालक की मनोवृत्तियों का ध्यान रखना।

(५) प्रत्येक विद्यार्थी के साथ समान व्यवहार करना, कोई पक्षपात का वर्ताव न करना।

(६) विद्यार्थियों में परस्पर सहयोग के लिए एक समिति का गठन एवं वाद-विवाद के निर्णय के लिए अपनी ही एक अदालत का निर्माण अनुशासन बनाने में सहायक होता है।

(७) शिक्षकों को अभिभावकों का सहयोग भी आवश्यक है।

(८) सांस्कृतिक कार्यों पर ध्यान देना अर्थात् सांस्कृतिक विषय पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ही करते रहना।

(९) बालकों के शारीरिक एवं सामाजिक विषयों पर ध्यान रखते हुए शिक्षा का क्रम बनाया अनुशासन बनाने के साधन ही हैं।

मीमांसा—जहाँ अनुशासन का स्तर और उसका विकास अध्ययन किया है वहाँ यह भी अति आवश्यक है कि हम यह भी जानें कि विद्यार्थी जीवन के लिए अनुशासन क्यों आवश्यक है ? यदि आवश्यक है तो उसके न होने के कारण क्या हैं। और अनुशासन को स्थापन करने के क्या-क्या साधन हैं। उपरोक्त समस्त बातों का अध्ययन इस प्रश्न में किया गया है।

प्रश्न १५—दण्ड का स्वरूप वर्णन करते हुए उसके उद्देश्य बताइये।

भूमिका—दण्ड देने की प्रथा वर्तमान युग की नहीं बल्कि प्राचीन काल से इसकी व्यवस्था है या उल्लेख प्राप्त होते हैं। दण्ड के कारण का उल्लेख प्रश्न १४ में किया गया है। यहाँ उसके स्वरूप एवं उद्देश्य का उल्लेख करेंगे।

दण्ड का स्वरूप—अति प्राचीन काल में भारतवर्ष में ऋषि-मुनि छात्रों को आसनों के रूप में दण्ड दिया करते थे। चार-पाँच दशाब्दियों पूर्व भी छात्रों की इतनी पिटाई होती थी कि छात्र शिक्षालयों में जाने का नाम भी नहीं लेते थे। परन्तु वर्तमान युग में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के पश्चात् इस तथ्य पर पहुँचे कि दण्ड प्रणाली द्वारा लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से दण्ड देना अनुचित है।

कानूनी दृष्टि के अन्तर्गत दण्ड का प्रयोग बालक की पाशविक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए किया जा सकता है। दण्ड का प्रचलन प्रत्येक देश में प्रचलित है। सभी शिक्षा संस्थाओं एवं प्रत्येक अवस्था में दण्ड दिया जाता है। विद्यार्थियों के लिए एक मात्र शारीरिक दण्ड ही लाभदायक रहता है। उसका स्वरूप ऐसा हो जिससे उसको स्वास्थ्य लाभ हो। इस प्रसंग में शिक्षा शास्त्री श्री एम. जे. सेथन्ना का कथन सत्य है :

"Punishment is some sort of social censure, and necessarily the involing or infliction of physical pain."

अर्थात्—"दण्ड एक सामाजिक नियन्त्रण है, जिसमें शारीरिक प्रपीड़न का होना आवश्यक नहीं माना है।

दण्ड के उद्देश्य—विद्यार्थी जब अनुशासनहीनता उत्पन्न कर देते हैं तो अध्यायक या अध्यापक वर्ग उनके लिए पृथक्-पृथक् या सामूहिक रूप से दण्ड का प्राविधान करते हैं। दण्ड के इस उद्देश्य के लिए हम दण्ड का सिद्धान्त भी कह सकते हैं क्योंकि विद्यार्थी वर्ग में विभिन्न भांति का अनुशासन या आदत या अन्य कोई त्रुटि होती हैं जिस कारण वह दण्ड का भागी है। अतः दण्ड के सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही उद्देश्यों के निम्न भेद किये जा सकते हैं :

(१) अवरोधात्मक,
(२) सुधारात्मक और
(३) बोधात्मक।

अवरोधात्मक—नियम के उल्लंघन के कारण जो दण्ड दिया जाता है वह अवरोधात्मक दण्ड कहलाता है। इस प्रकार के दण्ड से दण्ड पाने की बुराई या बुरी आदत का सुधार तो होता है, साथ ही उस दण्ड को देखने और सुनने वालों में भी सुधार होना सम्भव होता है।

सुधारात्मक—बदला लेने की भावना से दिया जाने वाला दण्ड सुधारात्मक कहलाता है। कष्टदायक दण्ड होने के कारण बालक दुबारा उस कार्य को नहीं करता है और उसमें सुधार हो जाता है अतः सुधारात्मक दण्ड में कठोर विधि अपनायी जाती है।

बोधात्मक—यह देखा जाता है कि बालक को यह बोध नहीं होता कि हमने क्या बुराई या गलती की है जिस कारण उन्हें दण्ड मिल रहा है। इस भाँति के दण्ड का प्रमुख उद्देश्य ही उनकी गलती को बताना है, जिससे आगे चलकर उस गलती की पुनरावृत्ति न हो। यह उद्देश्य बोधात्मक कहलाने का यही कारण है।

दण्ड की विशेषताएँ—दण्ड का स्वरूप और उसका उद्देश्य तो ऊपर वर्णन किया जा चुका है। यहाँ यह कैसा होना चाहिए और यह भी कह सकते हैं कि दण्ड में कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं। दण्ड में निम्न विशेषताएँ होना अनिवार्य है :

(१) दण्ड अपराध के अनुकूल हो,
(२) दण्ड अपराध के अनुपात में हो,
(३) दण्ड का स्वरूप सर्वप्रिय हो,
(४) दण्ड का स्वरूप उदाहरण रूप हो,
(५) दण्ड सामूहिक रूप में न दिया जाय,
(६) दण्ड का बालक की प्रकृति के अनुकूल होना आवश्यक है,
(७) दण्ड से होने वाली क्षति की पूर्ति होना आवश्यक है और
(८) दण्ड देते समय गम्भीर मुद्रा अति लाभदायक होती है।

प्रश्न १६—दण्ड के भेद कितने हैं ? दण्ड देते समय किन-किन सावधानियों को प्रयोग में लाना आवश्यक है ?

भूमिका—बालक अपराध करता है। उसकी अपराध करने की आदत को स्थायी बनने से पूर्व ही रोकना आवश्यक है और रोकने के लिए दण्ड का प्राविधान है। अपराध के रूप विभिन्न होते हैं। इसलिए अपराध की गुरुता को देखते हुए दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरे दण्ड देने के उद्देश्य को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

दण्ड के भेद—दण्ड के निम्न भेद किये जा सकते हैं।

(१) आर्थिक दण्ड,

(२) शारीरिक दण्ड, और

(३) मानसिक दण्ड।

आर्थिक दण्ड—वालक स्कूल देर से पहुँचते हैं। इसमें बालक की त्रुटि के साथ-साथ माता-पिता या अभिभावक का भी कारण हो सकता है, जो बालक स्कूल देर से पहुँचता है। अतः इस अपराध के लिए आर्थिक दण्ड देना उचित है। इस आर्थिक दण्ड का वास्तविक भोगी अभिभावक होते हैं। यह दण्ड अधिक भी नहीं होना चाहिए क्योंकि अधिकता का बोझ वह उठाने में असमर्थ हो सकते हैं। दण्ड के कारण अभिभावक या संरक्षक सजग रहते हैं और बालक को समय पर स्कूल पहुँचने का ध्यान रखते हैं।

शारीरिक दण्ड—शारीरिक दण्ड कई प्रकार से दिया जाता है। सर्वप्रथम तो तत्काल दण्ड देना है जो अपराध के बाद ही दिया जाता है। जैसे—बेंत मारना, थप्पड़ मारना आदि। दण्ड के अत्यधिक उपयोग से बालक को कोई प्रभाव नहीं होता और वह सुधरने के बजाय ढीठ बन जाता है। शारीरिक क्षति भी सम्भव हो जाती है। जैसे—कान के पर्दे फटना, आँख फूटना या हड्डी आदि टूट जाना। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शारीरिक दण्ड देना नितान्त अनुचित बताया गया है।

शारीरिक दण्ड के अन्तर्गत ही परिश्रम सम्बन्धी दण्ड भी आते हैं। इस प्रकार के दण्ड कक्षा-कार्य के अतिरिक्त कार्य होते हैं। जैसे—जमीन खोदना, कक्षा की सफाई आदि। स्कूल की हानि सम्बन्धी अपराध या अन्य सहपाठियों को हानि पहुँचाने के अपराध में इस भाँति के दण्ड देना उचित है। कभी-कभी बालकों को अपराधों के लिए उन्हें गृह-कार्य में वृद्धि करके भी दण्ड दिया जाता है। इस भाँति कार्य भी हो जाता है और बालक को दण्ड भी मिल जाता है।

मानसिक दण्ड—यह निश्चित है कि बालक अपने आत्म-सम्मान का आघात सहन नहीं कर पाता है और भविष्य में मानसिक दण्ड के परिणामस्वरूप वह सुधार कर लेता है। फटकारना, कटु वचन कहना आदर्श मानसिक दण्ड के अन्तर्गत आते हैं। अपराध के स्तर के अनुपात में बालक का बहिष्कार करना भी आवश्यक होता है। कक्षा के बाहर खड़ा करना, बेंच पर खड़ा करना बालक के आत्म सम्मान पर आघात पहुँचाते हैं। इस प्रकार के दण्ड से बालक की ही हानि होती है। अत्यधिक अपराध की स्थिति में बालक को स्कूल से निकाल तक दिया जाता है। यह मानसिक दण्ड या तो बालक का सुधार ही कर देता है, या फिर और उद्दण्ड बना देता है अतः यह दण्ड बहुत सोच-विचार करने के उपरान्त दिया जाता है।

श्रेष्ठ बालकों को कक्षा में या स्कूल में कोई न कोई पद प्राप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ—मोनिटर, संघ सचिव या खेलों का सचिव आदि। ऐसे बालकों को

अपराध करने पर दण्ड के रूप में पद-मुक्त करके मानसिक दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार के दण्ड भी प्रभावकारी होते हैं।

दण्ड में सावधानियाँ—शिक्षक वर्ग को बालकों को दण्ड देते समय मनमानी या क्रोध के वशीभूत होकर कार्य नहीं करना चाहिए बल्कि उन्हें अपने पर संयम रखकर दण्ड देते समय निम्न सावधानियाँ अवश्य बरतनी चाहिए :

(१) दण्ड देना उस समय आवश्यक होता है जबकि यह निश्चय हो जाय कि किसी साधन से बालक का सुधार नहीं किया जा सकता। शिक्षक को बालक के प्रति न तो क्रोध ही करना है, न उससे घृणा ही अर्थात् उससे किसी भाँति की बदले की भावना नहीं रखनी चाहिए। यदि शिक्षक का क्रोध या घृणा बालक पर प्रगट हो गया तो बालक शिक्षक की बुराइयों का प्रचार करने लगते हैं और शिक्षक का आदर व सम्मान समाप्त हो जाता है।

(२) क्रोध, घृणा या असावधानी के कारण शिक्षक दण्ड और अपराध का अनुपात सही नहीं निश्चित कर पाते हैं। ऐसा होने के कारण विभिन्न हानियाँ उत्पन्न हो जाती है। बालक अपने को दोषी नहीं मानता और शिक्षक का अनादर करता हैं। यहाँ तक कि शिक्षक को अपराधी समझने लगता है। प्रायः ऐसा तभी होता है जबकि दण्ड की अपेक्षा अपराध कम हो। यदि अपराध की अपेक्षा दण्ड की मात्रा कम होती है तो बालक को पुनः अपराध करने की प्रेरणा मिलती है।

(३) बिना विचार किये भी दण्ड देने पर यह निर्णय ही नहीं हो पाता कि वास्तव में बालक का अपराध है भी या नहीं।

(४) दण्ड देते समय शिक्षक ने अपने गौरव या गम्भीरता का त्याग कर दिया तो बालक को अपने अपराध का आभास नहीं होगा।

(५) शिक्षक को यह भी जान लेना अति आवश्यक है कि वह जो दण्ड बालक के लिए निर्धारित कर रहे हैं वह बालक की प्रकृति के अनुकूल है या नहीं। कोमल स्वभाव के बालक को सूक्ष्म दण्ड ही काफी होता है जबकि कठोर प्रकृति के बालक के लिए दण्ड भी कठोर होना चाहिए। एक ही से अपराध के लिए दो असमान प्रकृति के बालकों को समान दण्ड नहीं देना चाहिए।

प्रश्न १७—दण्ड के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।

भूमिका—वर्तमान काल में यह समस्या अत्यन्त विकट रूप धारण करती जा रही है कि पाठशालाओं में बालकों को शारीरिक दण्ड देना चाहिए या नहीं। दण्ड देना उचित है या अनुचित। आज से दो-ढाई दशाब्दी पूर्व पाठशालाओं के शारीरिक दण्ड के शारीरिक शोई अन्य दशा ही नहीं था। प्राइमरी पाठशालाओं में तो शिक्षक लोग अन्य सहपाठियों द्वारा बालक को जबरदस्ती घर से उठवा कर पढ़ने के लिए बुलाया करते थे और स्कूल आ जाने पर उसकी घड़ी चांटे आदि से अच्छी तरह पिटाई की जाती थी।

शारीरिक दण्ड का गुण—बालक को तुलसीदास के कहे अनुसार कि "बिनु भय होय न प्रीति" अनुशासन में रखा जाता था, जिसका फल यह होता था कि बालक को जो भी कण्ठस्थ करने को कहा जाता था वह हर समय याद रहता था। अनुशासन बनाये रखने के लिए और त्रुटियों का सुधार करने के लिए बालकों को दण्ड देने का विधान था। यह प्रणाली दो प्रकार की होती थी: (१) शारीरिक पीड़ा और (२) मानसिक पीड़ा।

शारीरिक पीड़ा के लिए शारीरिक दण्ड दिया जाता है। परन्तु वर्तमान काल में मनोविज्ञान ने शिक्षा के क्षेत्र में से शारीरिक दण्ड को हटाने का भरसक प्रयास किया है। परन्तु अनेक बालक इतने शरारती और चालाक होते हैं कि मनोवैज्ञानिक ढंग से दिये गये दण्ड का उन पर प्रभाव ही नहीं होता है। यहाँ तक कि इस भाँति के दण्ड का मजाक भी उड़ाया जाता है। कुछ शिक्षार्थी अपने शारीरिक बल के भरोसे अपनी बात या आदत का समर्थन करने लगते हैं। इस भाँति की प्रकृति वाले बालकों के कल्याण हेतु उनका गर्व चूर्ण करने के लिए शारीरिक दण्ड देना परम आवश्यक है। यदि यह दण्ड बदले की भावना से दिया जाता है तो शिक्षक के विपरीत विद्रोह उठ जाता है। बालक को पीड़ा का अनुभव जिस तरह शारीरिक दण्ड द्वारा प्राप्त होता है उसी तरह मानसिक अनुभव होना भी अनिवार्य है और अन्य बालक को भी अनुभव हो जाता है। तभी अपराध करने की प्रवृत्ति को दूर किया जा सकता है। अर्थात् शारीरिक और मानसिक पीड़ा द्वारा मानसिक पीड़ा का स्तर आवश्यक है। मानसिक पीड़ा से वास्तविक सुधार शीघ्र होने की संभावना रहती है।

दण्ड के दोष—शारीरिक दण्ड प्रणाली में अनेकों दोष पाये जाते हैं। यह दोष कभी तो तत्काल प्रत्यक्ष हो जाते हैं और कभी देर से पता लगता है। अंग-भंग हो जाना या बालक का बेहोश हो जाना तत्काल के लक्षण हैं। इस भाँति के दण्ड देने से बालक एवं शिक्षक दोनों को ही हानि उठानी पड़ती है। क्रोध के वशीभूत शिक्षक अपना विवेक खो बैठता है और दण्ड देते समय उसके परिणाम का विचार नहीं कर पाता। यदाकदा ऐसा भी हो सकता है कि किसी मर्म स्थान पर चोट लगने के कारण बालक की मृत्यु भी हो जाती है। कनपटी की गहरी चोट से बहरापन आ जाता है, दांत टूट जाते है। इस शारीरिक हानि के अतिरिक्त दण्ड प्रणाली के अन्य दोष भी हैं।

मारने-पीटने के अधिक चक्कर में रहने के कारण शिक्षक का प्रभाव बालकों से उठ जाता है। बालक उससे घृणा करने लगते हैं या द्वेष। घृणा के प्रभाव में आने के कारण बालक कक्षा के बाहर शिक्षक को मार भी देते हैं। बालक अपना आत्म विश्वास खो देता है और उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। उसकी आन्तरिक शक्तियाँ भी उभरने नहीं पाती हैं। इस प्रसंग में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री फ्रोबेल का कथन है:

"All the child is ever to be and ever to becomes lies, however, slightly indicated in the child and can be attained only through development from within outward."

अर्थात्—"बालक जो कुछ भी होता है वह उसके अन्दर ही निहित है। चाहे उसका कितना ही कम संकेत हमको मिले। बालकों को जो कुछ बनना है वह उसकी आन्तरिक शक्तियों के बाह्य विकास से ही प्राप्त किया जा सकता है। शारीरिक दण्ड के कारण यह विकास बिलकुल अवरुद्ध हो जाता है।"

अन्यत्र—

"Education must provide for the development of the free personality of every child; it must guide but not restrict; it must not interfere with the divinity in each child."

अर्थात्—"शिक्षा को प्रत्येक बालक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्रदान करना चाहिए। शिक्षा को प्रत्येक बालक का मार्ग दिखलाना चाहिए न कि रोकना। उसे प्रत्येक बालक में निहित दैवत्व को रोकना नहीं चाहिए।"

मीमांसा—शारीरिक दण्ड में सबसे बड़ा दोष यही पाया जाता है कि बालक का दैवत्व रुक जाता है। इसके फलस्वरूप मनोविज्ञान ने शारीरिक दण्ड का घोर विरोध शुरू किया है। शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रणाली का प्रयोग एक अपराध और एक अयोग्यता के लक्षण के रूप में अंगीकार किया है। शारीरिक दण्ड के कारण अब पहले की पाठशालाओं को बूचड़खाना कहा जाने लगा है। अतः समाजसुधारकों ने शारीरिक दण्डों के दोष का प्रचार किया और दण्ड की प्रणाली का ह्रास होता जा रहा है।

प्रश्न १८—दण्ड के अतिरिक्त बालक का सुधार किस रूप से किया जा सकता है। उसके स्वरूप, उद्देश्य, भेद का वर्णन करते हुए उसको देने की सावधानियों का भी वर्णन करो।

भूमिका—जहाँ विद्यार्थियों की बुरी आदत में सुधार लाने के लिए दण्ड का प्राविधान है, उसी भाँति अच्छी आदतों को प्रोत्साहित करने के लिए पुरस्कार देने की भी प्रणाली है। यदि अनुचित रूप से दण्ड देने पर विद्यार्थियों या शिक्षकों को हानि हो सकती है, तो पुरस्कार का भी अनुचित लाभ उठाकर विद्यार्थी उद्दण्ड बन सकता है। अतः यहाँ पुरस्कार के स्वरूप, उद्देश्य आदि का वर्णन कर देना अनुचित न होगा

पुरस्कार का स्वरूप—मनुष्य जो कुछ भी कार्य करता है उसका आधार पुरस्कार का फल ही होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से किसी भाँति का कोई कार्य कराता है और उसके बदले में पारिश्रमिक का पुरस्कार नहीं देता तो कार्य के करने वाले व्यक्ति का मन कुण्ठित हो जाता है। और उसके मन में ईर्ष्या,

द्वेष उत्पन्न हो जायगा जिस कारण वह अपराधी बनने की इच्छा करने लगता है। जिस भाँति अपराध या बुरी आदत रोकने के लिए दण्ड दिया जाता है उसके विपरीत पुरस्कार न देकर, अपराध को बढ़ावा देना है।

पुरस्कार के उद्देश्य—शिक्षा क्षेत्र में विद्यार्थियों को पुरस्कृत करने के निम्न उद्देश्य प्रमुख हैं :

(१) पुरस्कार प्रणाली के प्रतिफल स्वरूप विद्यार्थियों में परस्पर स्वस्थ स्पर्धा उत्पन्न होती है।

(२) विद्यार्थी वर्ग में शिक्षकों के प्रति आदर भाव उत्पन्न होता है।

(३) विद्यार्थी अनुशासन में रहने की इच्छा से प्रयुक्त होते हैं।

(४) विद्यार्थी अपनी इच्छित पूर्ति के लिए उत्साह एवं लगन से युक्त रहते हैं।

पुरस्कार के भेद—पुरस्कार देने के अनेकों रूप हैं। पुरस्कार केवल धन के रूप में ही नहीं दिया जाता वल्कि बालक की प्रशंसा करना भी पुरस्कार का ही अप्रत्यक्ष रूप है। पुरस्कार देने के प्रमुख भेद निम्न हैं :

(१) प्रशंसा करना—अच्छे कार्य करने वाले विद्यार्थी की कक्षा में अन्य सहपाठियों के सामने प्रशंसा करना एक श्रेष्ठ पुरस्कार होता है। इससे बालक का सम्मान बढ़ता है और वह तथा अन्य विद्यार्थी उस कार्य को करने के लिए प्रोत्साहित होते हैं।

(२) सम्मान देना—खेल, भाषण या कक्षा में प्रथम आने वाले विद्यार्थी का नाम शिक्षालय की मान पट्टिका में लिखना भी बालकों में होड़ उत्पन्न करता है जिससे वह उन्नति की ओर अग्रसर होते हैं।

(३) प्रमाण-पत्र देना—विद्यार्थी को उसके श्रेष्ठ कार्य के लिए लिखित प्रमाण-पत्र देना अनुशासन की दृष्टि से एक मूल्यवान पुरस्कार है।

(४) पद पर प्रतिष्ठित करना—विद्यार्थी के अच्छे कार्य करने पर उसे पुरस्कार के रूप में मॉनीटर, लाइब्रेरियन, प्रीफेट आदि के पद से सम्मानित करना एक श्रेष्ठ व प्रभावशाली प्रणाली है। इससे विद्यार्थी मे अनुशासन आदि उच्च भाव उत्पन्न होते हैं।

(५) शील्ड या वृत्ति देना—खेल-कूद, ड्रामा, वादविवाद में प्रथम आने वाले विद्यार्थी शील्ड या मैडल प्राप्त करके प्रशंसा के पात्र बनते हैं। इससे अन्य विद्यार्थी स्पर्धा करते हैं और उन्नति की ओर अग्रसर होते हैं। इसी तरह कुछ अन्य सामाजिक कार्यों के उपलक्ष में विद्यार्थी को छात्र-वृत्ति के रूप में धन देना भी एक पुरस्कार है।

उपरोक्त पुरस्कार के भेदों के रूप विद्यार्थी को श्रेष्ठ कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और वह एक आदर्श विद्यार्थी बनता है।

सावधानियाँ—पुरस्कार देते समय शिक्षक वर्ग या अविभावकों को निम्न बातों का ध्यान रखना परम आवश्यक है :

(१) किसी प्रकार का पक्षपात करना उचित नहीं है।
(२) पुरस्कारों की संख्या सीमित या कम होनी चाहिए।
(३) पुरस्कार का मूल्य अधिक न हो।
(४) अस्वस्थ प्रतियोगिता को कोई प्रोत्साहन न दिया जायँ।
(५) पुरस्कार किसी सम्मानित व्यक्ति द्वारा वितरित कराये जायँ।
(६) पुरस्कार सामूहिक रूप से दिये जायँ।
(७) पुरस्कार सहयोगात्मक प्रवृत्ति के आधार पर वितरित हों।

मीमांसा—उपरोक्त विश्लेषण का यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि सावधानियों का ध्यान न रखा गया तो अन्य सहपाठी विजयी छात्र से घृणा करने लगते हैं या विजयी छात्र में गर्व उत्पन्न हो जाता है। विद्यार्थी में स्वार्थ की भावना उत्पन्न हो जाती है। अतः सावधानियों का बरतना भी पुरस्कार देने के साथ-साथ अति आवश्यक है।

अध्याय ४

गृह शिक्षा

(Home Education)

प्रश्न १९—गृह-शिक्षा से आप क्या समझते हैं? गृह-शिक्षा के कार्यों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

भूमिका—पहले प्रश्न १० में यह उल्लेख किया जा चुका है कि शिक्षा के अनौपचारिक साधनों में परिवार या गृह का प्रमुख स्थान होता है। शिक्षा और परिवार का सम्बन्ध स्पष्ट करने से पहले परिवार का रूप समझ लेना अनिवार्य है, अतः परिवार की परिभाषा, अर्थ निम्न वर्णित हैं :

परिवार का अर्थ—वर्तमान युग में परिवार समाज की एक ऐसी इकाई है जो सामाजिक समूह होते हुए भी आधारभूत है। परिवार में पति-पत्नी एवं उनके अविवाहित बच्चे होते हैं जो उत्तरदायित्व और स्नेह के सूत्र में बँधे रहते हैं। परिवार की परिभाषा व्यक्त करते हुए श्री क्लेयर (Clare) ने कहा है :

"By family we means a system of relationship existing between parents and children."

अर्थात्—"परिवार से हम सम्बन्धों की वह व्यवस्था समझते हैं जो माता-पिता तथा उनकी सन्तानों में परस्पर पायी जाती है।"

गृह-शिक्षा का महत्त्व—महत्त्व के प्रश्न पर विभिन्न शिक्षा-शास्त्रियों के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि गृह-शिक्षा बालकों के लिए परमावश्यक है। इस सम्बन्ध में रूसो (Rousseau) के निम्न शब्द हैं :

"आधुनिक सभ्यता में परिवार ही एक ऐसी सस्था है जो मूल रूप में प्राकृतिक है। अतः परिवार ही बालकों को सर्वोत्तम शिक्षा दे सकता है।"

पेस्टालॉजी (Pestalozzi) के मतानुसार :

"Home is the best place for education and the first school of the child.

अर्थात्—"घर ही शिक्षा का सर्वोत्तम स्थान और बालक का प्रथम विद्यालय है।"

हैण्डरसन (Handerson) के मतानुसार :

"बालक की शिक्षा उसके घर से प्रारम्भ होती है। जब वह अन्य व्यक्तियों के कार्यों को देखता है, उनका अनुकरण करता है, तब वह अनौपचारिक रूप से शिक्षित किया जाता है।"

रेमान्ट (Raymont) के मतानुसार :

"घर ही वह स्थान है जहाँ वे महान् गुण उत्पन्न होते हैं, जिनकी सामान्य विशेषता सहानुभूति है। घर में ही घनिष्ट प्रेम की भावनाओं का विकास होता है। यहीं पर उदारता और अनुदारता, निःस्वार्थ और स्वार्थ, न्याय और अन्याय, सत्य और असत्य, परिश्रम और आलस्य में अन्तर खोलता है। यहीं उसमें इनमें से कुछ की आदत सबसे पहले प्रारम्भ होती है।"

फ्रोबेल (Frobel) के मतानुसार :

"Mothers are the ideal teachers and the informal education given by home is most effective and natural."

अर्थात्—"माताएँ आदर्श अध्यापिकाएँ हैं और घर द्वारा दी जाने वाली अनौपचारिक शिक्षा सबसे अधिक प्रभावशाली और स्वाभाविक है।"

बालकों की प्रथम पाठशाला—उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के बाद यह नितान्त सत्य है कि परिवार या गृह ही बालकों की प्रथम पाठशाला है। परिवार के अनेकों कार्य प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। इन कार्यों को प्रेम सम्बन्धी, रक्षा सम्बन्धी, आर्थिक, मनोरञ्जन सम्बन्धी, पारिवारिक, शैक्षिक एवं धार्मिक कार्यों में विभक्त किया जा सकता है। परन्तु वर्तमान काल में परिस्थिति बदल चुकी है अतः परिवार के कार्यों का विभाजन औद्योगीकरण, नागरीकरण, आवागमन आदि सुविधाओं एव विज्ञान की प्रगति पर निर्भर करता है। बालकों के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व परिवार पर ही आश्रित है। यह सब परिवर्तन होने पर भी परिवार का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना प्राचीन काल में था।

व्यक्ति के भावी व्यक्तित्व और चरित्र की नींव बाल्यावस्था में ही परिवार द्वारा पड़ जाती है। उदाहरणार्थ—शिवाजी, गाँधी, नेहरू आदि की महानता का कारण गृह शिक्षा ही थी। बालक के अच्छे-बुरे गुण परिवार पर निर्भर होते हैं। बालक के व्यवहार, चरित्र, व्यक्तित्व, ज्ञानादि के निर्धारण में गृह शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। इस सम्बन्ध में श्री रेमान्ट (Raymant) के शब्द उपयुक्त हैं :

"Two children may attend the same school, may come under the influence of the same teachers, may pursue the same studies and yet may differ as regards their general knowledge, their interests, their speech, their bearing and their moral tone according to the homes they come from."

अर्थात्—"दो बालक क्यों न एक ही विद्यालय में पढ़ते हों, एक ही समान शिक्षकों से प्रशिक्षित किये गये हों, एक सा ही अध्ययन करते हों, फिर भी वे अपने सामान्य ज्ञान, रुचियों, भाषण, व्यवहार एवं नैतिकता में अपने घरों के कारण, जहाँ वे पले हैं पूर्णतया भिन्न होते हैं।"

बोगार्डस (Bagardus) के मतानुसार :

"Family group is the first human School. The informal education of every preson normally begins in the family, the child's more important education period is spent in family."

अर्थात्—"परिवार समूह प्रथम मानव पाठशाला है। प्रत्येक व्यक्ति की अविधिक शिक्षा सामान्य रूप से परिवार में ही प्रारम्भ होती है, बालक का बहुत ही महत्त्वपूर्ण समय पविार में ही व्यतीत होता है।"

गृह शिक्षा के कार्य—बालक की शिक्षा में गृह का महत्त्व उपरोक्त शब्दों से स्पष्ट हो चुका है। गृह में अनेक भाँति के शैक्षणिक कार्य प्रतिपादित होते हैं जो अन्य साधनों से असम्भव हैं। परिवार के ये शैक्षणिक कार्य निम्न हैं :

रेमान्ट (Roymont) के मतानुसार :

"सामान्य रूप से घर ही वह स्थान है, जहाँ पर कि बालक अपनी माँ से चलना, बोलना, मैं, तुम और आप में अन्तर करना और चारों ओर की वस्तुओं के गुणों को सीखता है।"

इसके अतिरिक्त गृह शिक्षा से ही बालक के सामाजिक गुणों का विकास होता है। इन्हीं गुणों पर बालक का भावी सामाजिक व्यवहार आधारित रहता है। सामाजिक प्रवृत्तियाँ जैसे संघर्ष, सहयोग, प्रेमादि बालक बाल्यावस्था में ही अपनाता है और भविष्य में व्यवहार में लाता है। साथ-ही साथ बालक परिवार में रहकर पारस्परिक प्रेम के साथ रहना सीखता है। वह परिवार के अन्य सदस्य को एक दूसरे से मेल-जोज से रहते देखकर मेल-जोल से रहना सीखता है।

बालक में मानसिक एवं भावात्मक प्रवृत्ति का विकास परिवार में ही होता है। यदि बालक का विकास साहित्यकारों के परिवार में होता है तो वह साहित्य के प्रति ही रुचि रखता है। उसमें अच्छी या बुरी आदतें परिवार में ही पड़ती हैं। बालक की अनुकरण शक्ति तीव्र होती है अतः परिवार के अन्य सदस्यों की आदतें सुगमता से सीख लेता है।

माँ के अतिरिक्त बालक को परिवार के अन्य सदस्य भी प्रेम की शिक्षा देते हैं, फलतः वह परिवार का ही नहीं, समाज देश तथा विश्व का कल्याण भी करना सीखता है। डा० राम एवं शर्मा ने इस सम्बन्ध में व्यक्त किया है :

"The comfort given to the child by perents the best living example of real altruism and selfless love."

वोगार्डस (E. S. Bogardus) ने मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण उसके लिए स्वार्थ त्याग की शिक्षा को अनिवार्य कहा है। बालक माता-पिता के त्याग को प्रतिदिन देखता है और सीखता है।

"A family rests on the principle of self sacrifice in its sacrificial nature lies its great strength, as a social training centre of children."

अर्थात्—"परिवार निस्वार्थ भावना के उद्देश्य पर आधारित होता है, उसकी त्याग भावना की प्रवृत्ति ही उसका बल है और वही बालकों की सामाजिक शिक्षा का केन्द्र है।"

श्रीमती वोसांक्वेट (Mrs. Bosanquet) ने अपने शब्दों में बालक को सहयोग दर्शन परिवार में ही कराया है। गृहस्थी के कार्य माँ द्वारा सम्पन्न होते हैं, संचालन पिता द्वारा किया जाता है और सेवा पुत्र आदि द्वारा होती है। यह परस्पर सहयोग परिवार का ही रूप है :

"Family is a place through which each new generation learns a new lesson of citizenship that no man can live to himself alone.... (or can exist without co-operation)."

अल्फ्रेड जे० शाह (Alfred J. Shaw) ने परोपकार की शिक्षा परिवार द्वारा ही अथवा परिवार में ही सीखी जाती है, के समर्थन में अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"The spirit of philanthrophy is cultivated first in the family where children not only see but often required to serve and render help to the sick, old and younger members of the family."

प्रत्येक व्यक्ति का एक सा स्वभाव नहीं होता है, उग्र, शान्त, स्वार्थी, निस्वार्थी आदि भिन्न-भिन्न स्वभावों का अवलोकन करने के कारण बालक स्वयं सहिष्णुता की शिक्षा प्राप्त करता है। परिवार के मुखिया अर्थात् प्रमुख सदस्य के अन्तर्गत रहकर अनुशासन सीखता है। यह सहिष्णुता, अनुशासन, आज्ञापालन की भावना सामाजिक जीवन में श्रेष्ठ गुण सिद्ध होते हैं, जिसके समर्थन में अगष्ट कास्टे (Auguste Comte) के शब्द उपयुक्त हैं :

"Family life will ever remain tne internal school of social life as regards both obedience and government which ought......to follow this elementry model."

श्री ब्रिम्बिल तथा में (Brimble and May) ने कर्तव्य पालन की शिक्षा का स्रोत गृह-शिक्षा को ही कहा है। परिवार में एक दूसरे के सुख के लिए अनेकों प्रकार के कार्य किए जाते हैं, जिन्हें छोटे बालक स्वतः ही सीख लेते हैं। उनके शब्दों में :

"Civic duty begins in the life of the family and their faith-

full discharge. It is the last preparation of the fulfilment in the village, town and the nation."

इसी भाँति परिवार में व्यावहारिक शिक्षा का भी बोध हो जाता है। बालक को उठना-बैठना, चलना, बातचीत करना, अतिथि सत्कार, आदि व्यावहारिक कार्यों का ज्ञान परिवार में रहकर ही प्राप्त होते हैं।

श्री एफ० आई० गुल्ड (F. I. Gould) महोदय ने व्यक्त किया है :

"It is interesting to observe how a social, economic, and civic elements are illustrated in family life. Family would may be summed up in three words, economy or economic and common wealth."

अर्थात् सहकारिता की आर्थिक क्रियाओं के परस्पर सम्बन्ध को देखकर बालक स्वयं आर्थिक सिद्धान्तों से परिचित हो जाता है। यही ज्ञान देश की राजस्व सम्बन्धी व्यवस्था को चलाने के लिए सहायक सिद्ध होता है।

उपरोक्त शिक्षाओं के अतिरिक्त बालक एक दूसरे के प्रति सम्मान करना, पारिवारिक वजट बनाना, ऐतिहासिक एवं राजनैतिक शिक्षा, सुदृढ़ संगठन, गृह परिचर्या, कला एवं संगीत आदि अनेकों शिक्षायें प्राप्त करता है। इसके लिए जोसेफ रॉस्क ने उचित ही कहा ह :

"Family may be conceived as the cradle of social traits of personality."

मीमांसा—गृह शिक्षा बालक की प्रथम पाठशाला है। यहीं पर वह व्यक्तित्व एवं आदर्श नागरिक के गुणों को सीखकर समाज में आता है। बालक जो शिक्षा का स्वरूप परिवार में ग्रहण करता है वैसा ही समाज को अपना प्रतिविम्ब प्रस्तुत करता कर समाज और राष्ट्र की सेवा करता है। अतः राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर बालक की परिवार से ही शिक्षा का उचित प्रवन्ध होना अनिवार्य है।

प्रश्न २०—गृह-शिक्षा के कौन-कौन से सिद्धान्त व उद्देश्य है? सविस्तार लिखिए।

भूमिका—पिछले पृष्ठ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि गृह शिक्षा का क्या महत्त्व है। यहाँ उसके सिद्धान्त एवं उद्देश्यों का वर्णन करेंगे। गृह-शिक्षा के सिद्धान्त अथवा विधियों का विधिपूर्वक ज्ञान ही गृहस्थ का प्रमुख कर्तव्य है विधियों की वास्तविक जानकारी से बालक को घर में शिक्षा सुगमता से दी जा सकती है।

बाल मनोविज्ञान का ज्ञान—यह तो सब ही जानते हैं कि बालक की बुद्धि बड़े मनुष्य के समान नहीं होती। माता-पिता कभी-कभी यह जानते हुए भी अनजान से बन जाते हैं। बालक मनुष्य का लघु स्वरूप न होकर व्यवहार एवं कार्य में भिन्न होता है। बालकों को घर पर उचित शिक्षा देने के लिए बड़ों को बाल मनोविज्ञान

का अध्ययन करना आवश्यक है, जिससे बालकों की रुचियों एवं आवश्यकताओं का ज्ञान करके शिक्षा का उचित प्रबन्ध कर सकें। रूसो महोदय (Rousseau) ने भी इसके समर्थन में स्पष्ट किया है :

"The child is a book which teacher has to learn from page to page."

अर्थात्—"बालक उस पुस्तक के सदृश है जिसका अध्ययन करना शिक्षकों के लिए अत्यावश्यक है।" यदि बालक की मनोवैज्ञानिक दशा का अध्ययन उचित रूप से करें तो निश्चय ही उसमें निहित योग्यताओं और विशेषताओं को समझा जा सकता है और उसके ही अनुकूल उसे जीवन व्यतीत करने की कला का बोध कराया जा सकता है। बालक को शिक्षा देने से पूर्व ही माता-पिता को बालक के मानसिक स्तर का ज्ञान कर लेना चाहिए। माता-पिता भी उचित ज्ञान प्राप्त कर लेने से मारने के स्थान पर समझाने से और डाटने के स्थान पर उचित प्रयास से बालक की मनोवृत्ति में सुधार कर सकते हैं।

सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार—शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से बालक पूर्णरूपेण माता-पिता अथवा संरक्षक के ऊपर निर्भर होता है। बालक की भावनाएँ अति कोमल होती हैं। वह प्रत्येक कार्य या बात के करने में उनकी सहायता एवं सहानुभूति का इच्छुक रहता है। यदि उनके द्वारा वह तिरस्कृत कर दिया जाता है तो उसकी भावनाओं पर एक ऐसा आघात पहुँचता है, जिसके फलस्वरूप उसका चरित्र भ्रष्ट हो सकता है। अतः प्रेम व सहानुभूति से उसकी प्रत्येक समस्या को हल करना चाहिए। थाउलस (Thouless) महोदय ने भी समर्थन में कहा है :

"Sympathy is unquestionably the source of much socialized behaviour."

अर्थात्—"बहुत से सामाजिक व्यवहारों का स्रोत सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार है।"

पेस्तालाजी और वर्डसवर्थ (Pestalozzi and Wordsworth) के मतानुसार :

"बालक के अन्दर ईश्वरीय कोमलता का अंग होता है जिसका हमें कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिए।"

सुन्दर, स्वस्थ और स्वतन्त्र वातावरण—बालक का विकास वास्तव में तभी उचित हो सकता है जब घर का वातावरण सुन्दर, स्वस्थ और स्वतन्त्र हो। माता-पिता का पारस्परिक व्यवहार सुन्दर होना आवश्यक है ताकि बालक की मनोवृत्तियाँ श्रेष्ठ बनें। नित्यप्रति कलह होने से बालक की प्रवृत्ति नीच एवं दुष्ट हो जाती है। घर के नौकर-चाकर के साथ भी अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए इससे बालकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। नौकरों की बुरी आदतें भी बालकों में बुराई उत्पन्न करती हैं। बाल्यावस्था में बालक की प्रवृत्ति क्रियाशील होती है। वह अनेकों प्रकार

के उत्पात करता है। उसकी आदतों को बुरा न समझ कर दमन नहीं करना चाहिए। बालकों को सदैव उत्साहित करना चाहिए तथा उसकी क्रियाशीलता को अच्छे कार्यों में उपयोग करने को प्रेरित करना चाहिए। माता-पिता को चाहिए कि बालकों के साथ निष्पक्ष व्यवहार करें तथा रचनात्मक कार्य करने की प्रेरणा दें। रचनात्मक कार्य इस भाँति के हों जो जीविकोपार्जन के लिए उपयुक्त सिद्ध हों। प्रत्येक शिक्षा देते समय बालक की व्यक्तिगत भिन्नता से परिचित होकर विभिन्न शिक्षा देनी चाहिए।

खेल-कूद द्वारा शिक्षा—बालकों को खेल-खेल में गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि की शिक्षा दे देना चाहिए। खेल-कूद से बालक में आत्मविश्वास, स्फूर्ति, स्वतन्त्रता का भाव उत्पन्न होता है। इस मनोदशा में बालकों को ज्ञान देने से वह उसे निश्चित रूप से ग्रहण कर लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनोरंजन एवं पढ़ाई-लिखाई साथ-साथ चलने चाहिए। वर्तमान युग में मनोविज्ञान के आधार पर ऐसे खेल-कूद आदि का आविष्कार किया गया है जिससे बालक गणित, विज्ञान आदि के सिद्धान्त सुगमता से सीख जाता है। अतः माता-पिता व अध्यापकों को चाहिए कि बालक को विभिन्न भाँति के शैक्षणिक खेल-कूद का अवसर दें जिससे वह अनजान में ज्ञान प्राप्त कर सके।

निर्देश विधि—परिवार के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है कि वे बालकों को उचित कार्यों के लिए निर्देश देते रहें क्योंकि व्यक्तित्त्व के अच्छे गुणों के लिए विकास में निर्देश सहायक होते हैं। इसके समर्थन में कश्यप एवं पुरी (Kashyap and Puri) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"For the proper development of knowledge and skill and growth of desirable traits of personality and the tendencies suggestion is a very powerful and effective instrument."

उत्तरदायित्व की विधि—मनुष्य को सदैव बच्चों की तरह कार्य करना भी कोई अच्छी आदत नहीं है। उन्हें अपने पर विश्वास करना और अपने कार्य के उत्तरदायित्व का ज्ञान होना आवश्यक है। बालकों को कार्य करने में सहायता व उत्साह प्रदान करना चाहिए ताकि वे अपने उत्तरदायित्व का भाव समझ सकें। बाजार-हाट करना, घर की सजावट करना, सफाई करना आदि छोटे-छोटे कार्यों में बालकों से सहायता लेना अच्छा रहता है। कुछ गृहस्थी के कार्यों में भी राय लेने से समझदारी के कार्यों में विचार शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों की विधि—बाल्यावस्था में बालक अपनी आगे बढ़ने और सीखने की भावना के कारण ज्ञानेन्द्रियों को प्रयोग करने में चतुर होता है। प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण अपनी इच्छा के अनुसार करने लगता है। अतः माता-पिता को चाहिए कि बालकों को ऐसे शैक्षणिक उपकरण प्रदान करें जिससे वह अपने अंगों को इच्छा-

नुसार, प्रयोग कर सकें। मांटेसरी; फ्रोबेल, किंडर-गार्टन आदि शिक्षा संस्थाओं में इस पद्धति के उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है।

प्रश्न २१—गृह और पाठशाला में क्या सम्बन्ध है? गृह शिक्षा से बालक के अध्ययन पर क्या प्रभाव पड़ता है? गृह शिक्षा को प्रभावशाली साधन बनाने के उपायों का उल्लेख कीजिए।

भूमिका—यह नितान्त सत्य है कि बालक घर में जीता है और पाठशाला में विचार सीखता है। जिसके प्रसंग में आचार्य विनोबा भावे का स्पष्ट मत है—

"विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्जीव हो जाता है और जीवन विचारशून्य हो जाता है। मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर मदरसे से घर में घुसना चाहिए।"

घर और पाठशाला में सम्बन्ध बनाने के लिए निम्न विधियाँ हैं:

(१) शारीरिक विकास में सहयोग,
(२) मानसिक विकास में सहयोग,
(३) सद् व्यवहार में सहयोग,
(४) प्रवन्धकारिणी में सहयोग, और
(५) पाठान्तर क्रियाओं में सहयोग।

शारीरिक विकास—माता-पिता का कर्तव्य है कि वालकों को चटपटे व हानिकारक पदार्थ का भोजन न दें तथा पाठशाला में जाकर यह पता लगायें कि वालकों की रुचि किस प्रकार के खेलों में है उसी के अनुकूल शरीर रक्षा हेतु भोजन का प्रवन्ध करें।

मानसिक विकास—विना घर का सहयोग प्राप्त किये पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। माता-पिता को इस भाँति की पुस्तकें लाकर देनी चाहिए जो उनमें रुची एवं शिक्षा प्रदान कर सकें। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि अश्लील एवं अवांच्छित पुस्तकें उन्हें प्राप्त न हों। जो बातें स्कूल में समझ में न आये उन्हें घर दुहरा देने से सरलतापूर्वक समझ में आ जाती हैं। पाठशाला से जो कार्य घर पर करने के लिए दिया जाता है उसको देखते रहना चाहिए। इस तरह माता-पिता या संरक्षक पाठशाला के कार्यों में सहयोग दे सकते हैं।

सद्व्यवहार में सहयोग—पाठशाला एक आदर्श समाज का लघु रूप है। अतः पाठशाला के प्रबन्धकों का कर्तव्य है कि पाठशाला को आदर्श रूप में बनाये रखने के लिए वालकों को परस्पर सद् व्यवहार, अच्छा चरित्र व सुन्दर वातावरण को बनाये रखें। परन्तु विना घर के सहयोग के यह कार्य नहीं हो सकता क्योंकि नैतिक चरित्र की आधारशिला घर से होती है। पाठशाला में तो वृद्धि होती है। बालक के

सांस्कृतिक एवं चरित्र उत्थान के लिए माता-पिता को झूठ बोलना, व्यर्थ बोलना, लड़ना-झगड़ना, बेईमानी करना, धोखा देना आदि बन्द कर देना चाहिए। अन्यथा बालक बुराइयों को सीखेंगे और पाठशाला में चोरी करना, गालियाँ देना, मारना-पीटना शुरू कर देंगे। इस भाँति परिवार के वातावरण का स्कूल पर भी प्रभाव होगा।

प्रबन्धकारिणी में सहयोग—माता-पिता को चाहिए कि स्कूल की प्रबन्धकारिणी संस्थाओं में सदस्यता प्राप्त कर शिक्षा पद्धति पर विचार करें और उसके कार्यों में सहयोग दें। ऐसा करने से माता-पिता एवं अभिभावक अपने बालकों को पाठशाला के समस्त नियमों का पालन करने को बाध्य करेंगे और एक नया वातावरण उपस्थित होगा।

पाठान्तर क्रियाओं में सहयोग—बालकों के स्वास्थ्य को स्थिर रखने एवं गन्दी आदतों से बचाये रखने के लिए पाठान्तर क्रियायें अति आवश्यक हैं। अभिभावकों को इन क्रियाओं में सहयोग देना चाहिए।

उपरोक्त अभिभावकों के सहयोग के साथ-साथ पाठशाला अथवा शिक्षण संस्थाओं को भी सहयोग देने के लिए निम्न कार्य करने आवश्यक हैं :

(१) अभिभावक दिवस,
(२) अभिभावक-अध्यापक संघ,
(३) अध्यापकों का बालकों के घर जाना,
(४) बालकों के कार्य की रिपोर्ट तैयार करना और
(५) शैक्षणिक कान्फ्रेंस करना।

परिवार या घर को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण साधन बनाने के लिए कुछ अन्य साधन भी अपनाने आवश्यक हैं। इन साधनों को निम्न नियमों में विभक्त किया जा सकता है :

पैतृक प्रभाव—माता-पिता से बालक अनेकों प्रकार की योग्यताएँ एवं क्षमताएँ सीखता है। अतः परिवार को शिक्षा का प्रभावशाली साधन बनाने के लिए माता-पिता अथवा अभिभावकों को एक स्तर तक शिक्षा प्रदान करने की अति आवश्यकता है। इस प्रसंग में थामस और लैंग (Thomas and Lang) ने प्रशिक्षण का आधार निम्न बातों को ठहराया है :

(१) पैतृकता के नियम,
(२) संतति निग्रह के साधन,
(३) पैतृक दोषों को रोकने की विधियाँ,
(४) प्रेम और सुप्रजाति प्रजनन शास्त्र का महत्त्व,
(५) बालक के विकास, स्वास्थ्य, रुचियों और दृष्टिकोणों की शिक्षा,
(६) पारिवारिक परिस्थितियों की देख-भाल,
(७) सहयोगी जनतन्त्रीय आदर्श आदि।

सामाजिक वातावरणीय प्रभाव – भारतीय ग्रामों और नगरों का वातावरण इस प्रकार का है जहाँ सामाजिक रूप से बालकों पर अस्वस्थ प्रभाव पड़ता है। बालकों को निश्चित रूप से हानि उठानी पड़ती है। प्राचीन रीति-रिवाजों का प्रभाव नगरों के बालकों पर होता है। इन दोषों को दूर करने के लिए परिवार एवं समाज का वर्तमान स्वरूप परिवर्तित करना होगा। क्रो और क्रो (Crow and Crow) ने यही बात अपने शब्दों में कही है :

"ग्रामीण क्षेत्रों में बालक मानव-सम्बन्धों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पूर्णतया अपने परिवार पर आश्रित रहता है। फलतः नगर के बालक की अपेक्षा उस पर परिवार की परिस्थितियों एवं पारिवारिक दृष्टिकोणों का प्रभाव अत्यधिक शक्तिशाली होता है। मुख्यतः नगर के बालक को अपने पड़ोस के बालकों के कार्यों में भाग लेने के और अपने समुदाय के वयस्कों से सामाजिक सम्बन्धों का अनुभव करने के कुछ अवसर होते हैं।"

यह हानि ग्रामीण तथा शहरी दोनों क्षेत्रों के बालकों को उठानी पड़ती है। इस दोष को दूर करने के लिए परिवार, शहर अथवा ग्राम तथा समुदाय का स्वरूप सामाजिक वातावरण बनाना चाहिए जिसका उन पर अच्छा प्रभाव हो।

मानसिक वातावरणीय प्रभाव—यदि माता-पिता अथवा अभिभावक निरक्षर अन्धविश्वासी या निर्धन हैं तो उनका मानसिक वातावरण बालकों की बुद्धि के विकास के लिए उचित नहीं होता है। बालकों को इस भाँति के परिवारों में पुस्तक, समाचार पत्र, पत्रिकाएँ तथा रेडियो आदि उपलब्ध नहीं हो पाते हैं, फलतः बुद्धि को आवश्यक तत्त्व विचारार्थ नहीं मिलते और मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। इन समस्याओं का निराकरण करने से मानसिक वातावरण अच्छा होगा और बालकों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

भौतिक वातावरणीय प्रभाव—भारत में परिवारों का भौतिक वातावरण भी अच्छा नहीं पाया जाता है। स्थान, रोशनी, पारिवारिक आवश्यक वस्तुओं का अभाव बना रहता है। फलतः भारतीय घरों के भौतिक वातावरण का बालकों की शिक्षा, स्वास्थ्य तथा उनके विकास पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। इसको बदलने की अति आवश्यकता रहती है। यदि गृहस्थ से अवांछनीय वस्तुओं को हटाकर उचित और उपयोगी वस्तुओं की समुचित व्यवस्था कर ली जाय, तो बालक के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा नैतिक विकास पर प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा।

सौन्दर्यात्मक वातावरणीय प्रभाव—जिस भाँति भौतिक वस्तुओं का अभाव खलता है या उचित रूप से पर्याप्त प्राप्त नहीं हो पाती है, उसी प्रकार सौन्दर्यात्मक वस्तुओं की भी परिवार में विकास के लिए अत्यन्त आवश्यकता होती है। इस प्रसंग में प्लेटो (Plato) का उल्लेख है :

"यदि आप चाहते हैं कि बालक सुन्दर वस्तुओं की प्रशंसा और निर्माण करे, तो उसके चारों ओर सुन्दर वस्तुएँ प्रस्तुत कीजिये।"

मीमांसा—उपरोक्त उल्लेख से यह निश्चय किया जाता है कि भारत में परिवार की शिक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उसके लिए पैतृक प्रभाव, सामाजिक वातावरणीय प्रभाव, मानसिक वातावरणीय प्रभाव, भौतिक वातावरणीय प्रभाव तथा सौन्दर्यात्मक वातावरणीय प्रभाव में परिवर्तन लाना और उसके योग्य सामग्री उपलब्ध करना अति आवश्यक है। अन्यथा भारत की उन्नति असम्भव है।

अध्याय ५

शिक्षा के साधन के रूप में समाज

(Society as a Agency of Education)

प्रश्न २२—समाज या समुदाय की व्याख्या करते हुए शिक्षा के साधन के रूप में उस पर प्रकाश डालिए।

भूमिका—बालकों की शिक्षा के लिए गृह की ही भाँति समाज का भी महत्वपूर्ण स्थान है। समाज द्वारा केवल उसकी आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं होती बल्कि व्यक्तिगत प्रकृति की अभिव्यक्ति करने का अवसर प्राप्त होता है। इसलिए प्राणी सामाजिक प्राणी कहलाता है। श्री विलियम ए० इजर (William A. Yeager) ने भी यही समर्थन किया है :

"Since man is by nature a social being, he has least through the years that his personality as well as group activities can be best developed through community being.

अर्थात्—"मानव स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है इसलिए उसने बहुत वर्षों के अनुभव से सीख लिया है, इसके व्यक्तित्व तथा सामूहिक कार्यों का समुचित विकास सामाजिक जीवन द्वारा सम्भव है।"

समाज का अर्थ—जब कोई व्यक्ति समूह एक साथ संगठित रूप बनाकर सामान्य जीवन व्यतीत करता है और किसी एक निश्चित भू-भाग पर रहता है, तो वह व्यक्ति-समूह समाज कहलाता है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री बोगार्डस (Bogardus) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"A community io a social group with some degree of we-feeling and living in a given area."

अर्थात्—"समुदाय एक ऐसा समूह है जिसमें हम की भावना तथा एक विशेष क्षेत्र से दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं।"

इसी भाँति डीवी (Dewey) ने भी व्यक्त किया है :

"Men live in a community on virtue of the things which they have in common order to form a community or society, are aims, beliefs, aspirations, knowledge, a common understanding."

अर्थात्—"मनुष्य समाज में उन वस्तुओं के आधार पर रहते हैं जोकि सभी के लिए सामान्य रूप से लाभदायक हैं। वस्तुएँ जो वे एक समुदाय या समाज बनाने के लिए सामान्य रूप से रखते हैं, उद्देश्य, विश्वास, महत्त्वाकांक्षाएँ, ज्ञान तथा एक सामान्य सूझ है।"

समाज के आवश्यक तत्त्व—समाज का आकार चाहे बड़ा हो या छोटा, उसमें तीन तत्त्वों का होना नितान्त आवश्यक है: (१) समाज के भौतिक या प्राकृतिक साधन, (२) समाज के मानवीय साधन और (३) मानव द्वारा निर्मित साधन। शिक्षा द्वारा समाज के इन तीनों ही साधनों में उन्नति होती है।

समाज का वर्गीकरण—तीन रूप से समाज का वर्गीकरण किया जा सकता है:—

(१) आकार की दृष्टि से,

(२) कार्य की दृष्टि से, तथा

(३) सामाजिक जीवन की समीपता की दृष्टि से।

आकार की दृष्टि से समाज के सात रूप हैं—(१) देहात, (२) झोपड़ियाँ, (३) गाँव, (४) कस्बा, (५) छोटा नगर, (६) मध्यम नगर और (७) राजधानी। कार्य की दृष्टि से कृषक, जुलाहे, मल्लाह, मजदूर आदि अनेकों रूप हैं। सामाजिक विभाजन विभिन्नता, सत्ता, आदर्श आदि पर आधारित है। शिक्षा का प्रायः सभी वर्गों पर प्रभाव पड़ता है। समाज सभी वर्गों के मिश्रण से बनता है या समाज में विभिन्न वर्गों के प्राणी होते हैं। उनके बालकों की शिक्षा में समाज का प्रारम्भ से ही प्रभाव रहता है।

परिवार समाज या समुदाय की एक आधारभूत इकाई है। फलतः उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं माना जा सकता है, जबकि बालक की शिक्षा पर परिवार का प्रभाव प्रारम्भ से ही होता है, तो यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि समुदाय या समाज भी बालक की शिक्षा को प्रारम्भ से ही प्रभावित नहीं करता है। यह तो मानने योग्य तथ्य है कि यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होता है। समुदाय या समाज के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली बातें होती हैं। उसके द्वारा ही अनौपचारिक रूप से व्यक्ति भाषा, धर्म, रीति-रिवाज, कला, नैतिकता आदि की विभिन्न विशेषताएँ सीखता है।

समुदाय या समाज का शिक्षा पर प्रभाव—यह वास्तविक तथ्य है कि शिक्षा की प्रवृत्ति का निर्धारण समुदाय की प्रकृति पर आधारित होता है। विभिन्न प्रकार के समाज जैसे—अपराधी समाज, सभ्य समाज, ग्रामीण समाज, शहरी समाज की शिक्षा के स्वरूप में विभिन्नता होती है। उदाहरणार्थ—अमेरिका में प्रजातान्त्रिक

व्यवस्था के कारण वहाँ पर स्वतन्त्रता तथा समानता का अति अत्यन्त महत्त्व है। दूसरी ओर रूस में साम्यवादी व्यवस्था है, वहाँ व्यक्ति की अपेक्षा राज्य का महत्व-पूर्ण स्थान होता है। अमेरिका में शिक्षा में बालकों को स्वतन्त्रता देते हुए उन्हें व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्राप्त होता है परन्तु रूस में राज्य की सेवा के लिए तैयार करने के लिए विशेष ध्यान दिया जाता है।

डीवी महोदय ने समाज की अवस्थाओं में परिवर्तन के साथ-साथ शिक्षा के स्वरूप में भी परिवर्तन का उल्लेख किया है क्योंकि उनके मतानुसार प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। समाज में भाषा के ज्ञान का स्थान अति महत्वपूर्ण माना जाता था, परन्तु आज शिक्षा केवल जीविकोपार्जन का साधन मात्र बन गयी है। यही विचार श्री ओटावे (Ottawey) ने व्यक्त किये हैं:

"Educational change tends to follow social changes...Education cannot be changed until the cultures change."

अर्थात्—"शैक्षणिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का अनुकरण करते हैं.... शिक्षा तब तक परिवर्तित नहीं होती जब तक कि सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं होता है।"

सामाजिक उद्देश्यों के परिवर्तन के साथ-साथ शिक्षा के भी उद्देश्य इसी भाँति परिवर्तित होते हैं। जब राष्ट्र की रक्षा समाज का परम उद्देश्य था, तब शिक्षा का उद्देश्य बालकों को राष्ट्र के लिए तैयार करना था, किन्तु अब बालक के व्यक्तित्व को अत्यधिक महत्त्व प्रदान होता है। फलत: शिक्षा का उद्देश्य बालकों के व्यक्तित्व का विकास करना ही है।

नागरीकरण के दृष्टिकोण से समाज की प्रगति के लिए शिक्षालयों का निर्माण किया जाता है। शिक्षालयों के निम्नलिखित कार्य समाज की उन्नति के लिए निर्धारित किये गये हैं:

(१) उचित सामाजिक क्रियाओं द्वारा शिक्षार्थियों की शिक्षा,
(२) सामाजिक उद्देश्यों और आदर्शों को निर्धारित करना और
(३) सामाजिक गुणों की सीमा न मानकर प्रगति करना।

डीवी के मतानुसार भी इसका समर्थन होता है:

"School should be true representative of the society."

अर्थात्—"शिक्षालय को समाज का वास्तविक प्रतिनिधि होना चाहिए।"

उच्च शिक्षा के लिए समाज अपने सदस्यों के जीवन और उनकी प्रगति के लिए विद्यालयों का निर्माण करता है। विद्यालयों का संचालन कुशल अध्यापकों द्वारा होता है जो बालकों को समुचित शिक्षा प्रदान कर समुदाय या समाज की प्रगति के लिए प्रेरित तथा मार्ग दर्शित करते हैं। हावर्थ महोदय ने इस प्रसंग में व्यक्त किया है:

"The school is an instrument for modifying the character of society. Whether the modification is in the direction of social

imprvement depends upon the ideas and ideals of those who handle the instrument."

अर्थात्—"विद्यालय समाज के चरित्र का सुधार करने का एक साधन है, यह सुधार सामाजिक प्रगति की उन्नति की दिशा में है या नहीं, यह विद्यालय के संचालकों के विचार एवं आदर्शों पर निर्भर रहता है।"

बालकों को विद्यालय में जो शिक्षा मिलती है, उसके अतिरिक्त विद्यालय के बाह्य जीवन में भी शिक्षा प्राप्त होती है। इस भाँति की शिक्षा के लिए अनौपचारिक साधनों जैसे वाचनालयों, पुस्तकालयों, अजायबघरों, नाटक एवं नाट्य केन्द्रों आदि की व्यवस्था आवश्यक है। समुदाय या समाज के स्वास्थ्य केन्द्रों तथा आर्थिक संगठनों द्वारा शैक्षणिक कार्यक्रमों को आयोजित करना भी शिक्षार्थियों के लिए लाभप्रद होता है।

श्री क्रो एण्ड क्रो (Crow and Crow) के मतानुसार यह भी आवश्यक है कि विद्यालय नेताओं को वांछित और आवश्यक सहयोग प्रदान करता रहे। उनके शब्दों में :

"All the citizens of community should cooperate intelligently with the school leaders when they have deligated specific educational responsibilities."

अर्थात्—"समुदाय के समस्त नागरिकों का बुद्धिमानी के साथ विद्यालय के नेताओं को जिनको कि उन्होंने विशेष शैक्षणिक उत्तरदायित्व दिए हैं, सहयोग होना चाहिए।"

शिक्षा का समुदाय पर प्रभाव—यह अध्ययन करने के पश्चात् कि समुदाय का शिक्षा पर प्रभाव क्या है हमें यह भी अध्ययन करना आवश्यक है कि शिक्षा का समुदाय पर प्रभाव क्या है ?

प्राचीन काल से वर्तमान काल तक लोगों ने जो सामाजिक विरासत विकसित की है वही हमारी संस्कृति तथा सभ्यता है। शिक्षा इस सामाजिक विरासत को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परिवर्तित कर उसका संरक्षण करती है। इसका समर्थन श्री बी० एन० झा (B. N. Jha) ने अपने शब्दों में किया है :

"हमारी सामाजिक परम्परा के अन्तर्गत वे समस्त वस्तुएँ सम्मिलित हैं जो हमें पूर्ववर्ती पीढ़ियों से उपलब्ध हुई हैं।"

शिक्षा द्वारा हमारी संस्कृति तथा सभ्यता का संरक्षण ही नहीं होता वह सामाजिक प्रगति में वृद्धि भी करती है। डीवी (Dewey) महोदय ने इस प्रसंग में व्यक्त किया है :

"Here is found the flowering of social and institutional motive, interest in the welfare of society and its progress and reform by unrest and shortest means."

अर्थात्—"शिक्षा में ही सामाजिक एवं अल्पमत साधनों द्वारा समाज के कल्याण, सुधार एवं उन्नति की रुचि का पुष्पित होना पाया जाता है।"

शिक्षा द्वारा बालकों में उत्तरदायित्व, अनुशासन, प्रेम, सहानुभूति आदि गुण विकसित होते हैं, जो एक आदर्श नागरिक के लिए परमावश्यक होते हैं। सामाजिक नियन्त्रण के लिए भी शिक्षा ही उत्तरदायी होती है। शिक्षा द्वारा कुप्रवृत्तियों के विरुद्ध जनमत उत्पन्न कर इनको नियन्त्रित या समाप्त किया जाता है। वर्तमान भारत में जातीयता, प्रान्तीयता, धार्मिकता, वर्गीयता, दलबन्दी, साम्प्रदायिकता आदि कुभावनायें बढ़ती जा रही हैं, इन पर नियन्त्रण करने के लिए शिक्षा का आलम्बन होना आवश्यक है। जोन्स (Jones) के मतानुसार शिक्षा द्वारा परिवर्तन आवश्यक है :

"Social change is a term ased to describe variations in or modification of any aspect of social patterns, soeial interaction, or social organization."

अर्थात्—"सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्तःक्रिया या सामाजिक संगठन के किसी स्तर पर अन्तर या रूपान्तर को वर्णित करने में प्रयोग किया जाता है।"

चोपिन (Chopain) महोदय ने तो सांस्कृतिक परिवर्तन को निम्न तीन स्तरों में विभाजित किया है :

(१) भौतिक संस्कृति सम्बन्धी परिवर्तन (Changes related to material culture)

(२) अभौतिक संस्कृति सम्बन्धी परिवर्तन (Changes related to non-material culture) तथा

(३) सम्पूर्ण संस्कृति सम्बन्धी परिवर्तन (Changes related to the whole composite of culture)

शिक्षा इन सभी सामाजिक परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी होती है। शिक्षा ही नवयुवकों या भावी पीढ़ी को शिक्षित कर, समाज, राज्य, संस्थाओं, जीविकोपार्जन के साधनों आदि में प्रगतिशील परिवर्तन कर समाज की उन्नति में सहयोग प्रदान करती है।

मीमांसा—समुदाय या समाज की परिभाषा, उसके महत्त्वपूर्ण तत्त्व तथा वर्गीकरण का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि समुदाय और शिक्षा का परस्पर प्रभाव नितान्त आवश्यक है। समाज एवं शिक्षा का सम्बन्ध एक घनिष्ट सम्बन्ध है।

प्रश्न २३—समाज कल्याण के लिए समाज और विद्यालय में समुचित सम्बन्ध और सहयोग स्थापित करते हुए स्पष्ट कीजिए कि बालक के माता-पिता

अथवा संरक्षक के सहयोग की आवश्यकता क्यों है ? यह किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? (उ० प्र० १९५९, १९६४)

भूमिका—समाज के स्वरूप, परिभाषा तथा समाज और शिक्षालय के पारस्परिक प्रभाव का वर्णन पिछले प्रश्न में किया जा चुका है। यहाँ समाज और शिक्षालय के सम्बन्ध पर विचार करेंगे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि समाज और शिक्षालय का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज के उद्देश्य शिक्षालय एक निर्धारित विधि के अनुसार पूरा करता है। इसी दृष्टिकोण से समाज स्वयं एक शिक्षा संस्था के समान है जिसमें शिक्षा का कार्य स्वयं होता रहता है। जैसा समाज होगा वैसे ही शिक्षालय होंगे। यह एक स्वाभाविक तथ्य है। समाज प्राणी को ऐसा मार्ग प्रशस्त करता और ऐसे अनुभव देता है, जिससे व्यक्ति सैकड़ों वर्ष का मार्ग दिनों में पार कर लेता है। उन्नतिशील राष्ट्र के सदस्य अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा सभ्य, एवं सम्पन्न होते हैं। अतः समाज में शिक्षालय संस्थाओं की उन्नति हुई है।

सर्वप्रथम बालक का समाज उसकी माता तक ही सीमित होता है। तदनन्तर बालक के समाज में भाई, बहन, पिता आदि आते हैं और धीरे-धीरे विस्तृत होकर पड़ोस, गाँव, शहर, देश तथा राष्ट्र बनता है। व्यक्ति धार्मिक संस्थाओं तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं का सदस्य बन कर अनेकों कार्य करता है तथा ज्ञान प्राप्त करता है। समाज के स्तर के समान ही शिक्षालय का स्तर ऊँचा होता है।

छोटे-छोटे समाजों के मिलने से ही पूर्ण समाज बनता है। बालक अनेकों समाजों में रहकर वृद्धि प्राप्त करता है। सामाजिक उद्देश्यों को एक विशेषज्ञ के रूप में प्रभावशाली रूप से प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों को तैयार करना शिक्षालय का कार्य है। शिक्षालय का कार्य प्रतिपादित करने के लिए समाज में निम्न बातें आवश्यक हैं :

(१) बालक की जीविका चलाने में कुछ न कुछ व्यावसायिक शिक्षा प्रबन्ध करना समाज का कार्य है।

(२) बालक की शारीरिक उन्नति के लिए यथेष्ट संस्थाएँ स्थापित करना जो देश के बालकों का ध्यान स्वास्थ्य की ओर आकृष्ट करें। बाग, पार्क आदि बनाना जिससे बालक अपना स्वास्थ्य उन्नत कर सकें।

(३) समाज में ऐसा वातावरण उत्पन्न करना जिसमें बालक स्वतः ही अपने स्वास्थ्य को उन्नत करने की प्रेरणा ग्रहण करे।

(४) मानसिक उन्नति के लिए अनेकों बौद्धिक संस्थाएँ, रेडियो स्टेशन, समाचार-पत्रों, मैगजीनों आदि की प्रगति करना आवश्यक है।

(५) चारित्रिक स्तर समाज के सामूहिक स्तर पर आधारित होता है। या यह कहा जाय कि चरित्र उसी समाज में होता है जहाँ का चारित्रिक स्तर उच्च हो। अतः स्तर निर्माण करना समाज का ही कार्य है।

(६) सांस्कृतिक उन्नति भी समाज के सांस्कृतिक स्तर पर निर्भर होती है। समाज में सौन्दर्य-प्रेम, कलात्मक प्रवृत्ति, संगीत धारा आदि होते हैं, तो बालक प्रारम्भ से ही इन गुणों को सीख लेता है। अतः नाटक सभाएँ, साहित्य सम्मेलन, कविगोष्ठियाँ, प्रदर्शिनी आदि का प्रदर्शन होते रहना आवश्यक है।

(७) समाज में यदि धर्म का विशिष्ट स्थान है, तो मनुष्य में धर्म की भावना अत्यधिक पायी जाती है।

(८) राजनैतिक स्वतन्त्रता भी आवश्यक है। शिक्षा संस्थाएँ केवल किसी मनुष्य व दल के प्रभाव में रहने पर जनता बाल्य अवस्था से उसका ही अनुकरण करने लगती है।

पाठशाला में माता-पिता का सहयोग—पाठशाला में माता-पिता अथवा अभिभावकों द्वारा सहयोग निम्न रूप से किया जा सकता है :

(१) माता-पिता अथवा अभिभावक संचालन में सहयोग दे सकते हैं।

(२) समाज के विभिन्न उत्सवों का आयोजन कर माता-पिता अथवा अभिभावकों को आमन्त्रित करके सहयोग स्थापित किया जा सकता है।

(३) बालकों की रिपोर्ट नियमित रूप से तैयार कर संरक्षकों को सूचित कर।

(४) पाठशाला की सहायता के लिए उत्सवों या प्रदर्शनों पर दर्शकों पर टिकट लगाकर धन प्राप्त कर सहयोग लिया जा सकता है।

(५) अनुशासन की स्थापना के लिए संरक्षकों का सहयोग लिया जा सकता है।

मीमांसा—समाज कल्याण के लिए समाज और पाठशाला का सम्बन्ध होना अनिवार्य है। माता-पिता अथवा अभिभावक का सहयोग भी उतना ही आवश्यक है। उसके प्राप्त करने के लिए संरक्षक और शिक्षक का परस्पर मेल होना भी परमावश्यक है। इन सब विषयों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। देश अथवा राष्ट्र की उन्नति समाज और पाठशाला के सम्बन्ध पर ही निर्भर रहती है। अतः समाज का उचित स्वरूप अथवा अनिवार्य वातावरण पाया जाना बालक की शिक्षा का महान साधन है।

प्रश्न २४—बालक पर समुदाय के शैक्षणिक प्रभाव का क्या रूप है ? शिक्षा पर भारतीय समुदाय का क्या प्रभाव पड़ता है ? वर्णन कीजिए।

भूमिका—समुदाय और पाठशाला का सम्बन्ध स्थापित करने और उसका अध्ययन करने के पश्चात् यह भी जानना अति आवश्यक है कि बालक पर समुदाय के शैक्षणिक प्रभाव का क्या रूप है ? अतः यहाँ समुदाय के बालक पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन करते हैं :

सामाजिक प्रभाव—परिवार के पश्चात् समुदाय अथवा समाज का स्थान शिक्षा के औपचारिक साधनों में महत्त्वपूर्ण है जिसका बालक पर प्रत्यक्ष एवं सीधा प्रभाव

होता है। जन्म लेते ही बालक को स्वभावतः यह देखने को मिलता है कि प्रत्येक व्यक्ति समुदाय की प्रगति में सहयोग दे रहा है। प्रत्येक के सहयोग देने पर ही समुदाय अथवा समाज की प्रगति सम्भव है अन्यथा यह प्रगति रुक जाती है। सामाजिक त्यौहार, उत्सव, प्रदर्शनी, मेले, सम्मेलन आदि में बालक सम्मिलित होकर सामाजिक जीवन एवं सामाजिक सेवा का ज्ञान प्राप्त करता है। बालक अपनी स्वयं की स्वतन्त्रता के साथ-साथ अनुशासन में रहना, कर्तव्य का करना और अधिकारों की माँग करना सीखता है। सेवा, त्याग, प्रेम, सहानुभूति, सहयोग की भावना समाज में ही रहकर बालक को प्राप्त होती है।

आर्थिक प्रभाव—समाज में बालक प्रत्येक सदस्य को किसी न किसी व्यवसाय में संलग्न देखता है। प्रत्येक समाज में विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों का होना अनिवार्य है। प्रत्येक प्राणी की रुचि के अनुसार व्यवसाय भी समाज में उपलब्ध होते हैं। अतः बालक भी अपनी रुचि के अनुसार व्यवसाय को सीखता और आगे चलकर उसे जीविकोपार्जन का साधन बनाता है। समाज में तिरस्कृत व्यवसाय को अपनाने पर बालक को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और कभी-कभी समाज से बहिष्कार भी कर दिया जाता है। यह देखा जाता है कि बालक भविष्य में कौन-सा व्यवसाय सीखेगा यह समाज पर ही निर्भर करता है।

नैतिक प्रभाव—बालक अनुभव करता है कि समाज किन कार्यों को श्रेष्ठ और किन को अनुचित मानता है, इस भाँति उसे कार्यों के अच्छे बुरे का ज्ञान हो जाता है। वह उन्हीं कार्यों की कोशिश करता है जो उचित एवं श्रेष्ठ हैं तथा अनुचित कार्यों का त्याग कर देता है। इस भाँति नैतिक गुणों का विकास करने में समाज का प्रमुख स्थान होता है।

सांस्कृतिक प्रभाव—समाज की अलग-अलग अपनी संस्कृति होती है, जिसका उसके सदस्यों पर पूर्ण प्रभाव होता है। बालक अपने से बड़ों को अपने समुदाय की संस्कृति का प्रतिपादन करते एवं संरक्षण तथा सम्मान करते देखता है तो स्वयं उसका अनुकरण करने लगता है। जिस भाषा का बड़े लोग पालन करते हैं वही बालक करते हैं। कपड़े पहनना, शृंगार करना, धार्मिक प्रवृत्ति, अतिथि सेवा आदि का प्रचलन बड़ों को देखकर ही बालक करते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि ग्रामीण और शहरी संस्कृति में पृथकता पायी जाती है, दोनों के व्यवहार में भी भिन्नता होती है। जिस समाज या समुदाय की जैसी संस्कृति होती है वैसा ही व्यवहार उसके सदस्य करते हैं। शिक्षालय के बाह्य जीवन में ही बालक भाषा, रहन-सहन-धर्म, नैतिकता आदि सीखता है जो कि समाज की संस्कृति के अनुसार होती है।

राजनैतिक प्रभाव—राजनैतिक प्रभाव के सम्बन्ध में श्री क्रो और क्रो के विचार उल्लेखनीय हैं। राजनैतिक विचारों का एक निश्चित रूप होता है। साम्यवादी समुदाय के सदस्य साम्यवादी विचारों एवं सिद्धान्तों को मानते हैं जबकि जनतन्त्रीय

समुदाय के सदस्य जनतन्त्रीय विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। श्री क्रो और क्रो के शब्दों में :

"The political idealogy of a community is reflected in the extent to which educational opportunities are offered to all its members and in the responsibility assumed by its political leaders for the educational progress of the citizens of the community."

अर्थात्—"समुदाय की राजनैतिक विचारधारा उस सीमा तक प्रतिबिम्बित होती है, जहाँ तक कि उसके सब सदस्यों को शैक्षणिक अवसर प्रदान किये जाते हैं है और उसके राजनैतिक नेता उसके नागरिकों को शैक्षणिक प्रगति के लिए उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं।"

भारतीय समुदाय का शिक्षा पर प्रभाव—भारत के समाज के अनुसार शिक्षा को केवल तीन अवस्थाओं में विभाजित कर विकास का अध्ययन करते हैं :

(१) विश्वविद्यालयीय शिक्षा का विकास।

(२) माध्यमिक शिक्षा का विकास। और

(३) प्राथमिक एवं पूर्व प्राथमिक शिक्षा का विकास।

शिक्षा की भारत में सार्वभौमिक माँग है जैसा कि प्रो० हुमायूँ कबीर (Humayun Kabir) ने अपने शब्दों में उल्लेख किया है :

"भारत में शिक्षा की सार्वभौमिक माँग की गयी है। कुछ देशों में विद्यालयों में बालक की उपस्थिति अनिवार्य मानी गयी है। भारत में इस बात पर बल दिया जाता है कि जो बालक पढ़ना चाहते हैं उनके लिए पर्याप्त स्कूलों की व्यवस्था हो।"

विश्वविद्यालयीय शिक्षा का विकास—भारत में पहले अंग्रेजी शासन में विश्वविद्यालयों की स्थापना सरकार द्वारा होती थी। प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा की अपेक्षा विश्वविद्यालयीय शिक्षा के विकास में अल्प प्रयास किये गये। अतः भारतीय समाज की माँग है कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा का पूर्ण विकास किया जाय।

माध्यमिक शिक्षा का विकास—भारतीय समाज का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योग माध्यमिक शिक्षा के विकास में रहा है। वर्तमान काल में अधिकांश माध्यमिक शिक्षालयों का संचालन समुदाय द्वारा ही होता है और समाज का ही श्रेय है जो इस स्तर पर शिक्षा का पूर्ण विकास हुआ है।

प्राथमिक एवं पूर्ण प्राथमिक शिक्षा का विकास—प्राथमिक शिक्षा का पूर्ण दायित्व सरकार पर होते हुए भी भारत में इसका विकास समाज द्वारा ही हुआ है। यह मानने योग्य है कि सरकार इसे अब अपने हाथ में ले रही है। जहाँ तक पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का प्रश्न है इसका भार भारत का समाज या गैर सरकारी संस्थाएँ ही उठा रही हैं और उन पर इस शिक्षा का दायित्व है।

मीमांसा—उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि भारतीय समाज का प्रभाव शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर है, जिसका समर्थन क्रो और क्रो (Crow and Crow) ने अपने शब्दों में किया है :

"A community cannot expect something for nothing. If it wishes its young people to serve their community well, it must provide, whatever educational advantages are needed by the young induidually and collectively, to prepare themselves for that practice."

अर्थात्—"समुदाय न कुछ के लिए किसी चीज की आशा नहीं कर सकता। यदि यह अपने युवकों से अपने समुदाय की भली-भाँति सेवा चाहता है तो इसे वे सब शैक्षणिक सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए जो एक युवक के लिए व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से उस सेवा के लिए समर्थ बनाने के लिए अपेक्षित हैं।"

✓प्रश्न २५—राज्य का शिक्षा से क्या सम्बन्ध है ? संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

भूमिका—परिवार, समाज अथवा समुदाय के अतिरिक्त मानव निर्मित संस्था राज्य भी किसी न किसी रूप से शिक्षा को प्रभावित करता रहा है। प्रजातन्त्रात्मक राज्य बनने और उनका रूप कल्याणकारी राज्य (Welfare State) बन जाने पर तो शिक्षा-व्यवस्था करना एक अति आवश्यक कार्य हो गया है। राज्य और शिक्षा का सम्बन्ध अध्ययन करने से पूर्व हमें यह जानना आवश्यक है कि राज्य क्या है ?

राज्य की परिभाषा—व्यक्ति के उस समूह को राज्य कहते है जिसकी एक संगठित सरकार किसी निश्चित सीमा के अन्तर्गत कार्य करती है और उस सीमित भूमि की बाहरी प्रतिबन्धों से रक्षा करती है और पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होती है। इसलिये यह हुआ कि राज्य में चार तत्व—भूमि, जनसंख्या, सरकार एवं राज्यसत्ता होते हैं। प्रो० गार्नर (Garner) ने राज्य की परिभाषा निम्न शब्दों में व्यक्त की है :

"State is a community of persons more or less numerous permanent by occupying definite portion of a territory independent and so of a foreign control and possessing an organised government to which the inhabitants render a habitual obedience."

अर्थात्—"राज्य न्यूनसंख्यक या बहुसंख्यक व्यक्तियों के उस समुदाय को कहते हैं जिसका एक निश्चित भू-भाग होता है, जो बाहरी नियन्त्रण से पूर्ण मुक्त है और जिसकी एक ऐसी संगठित सरकार होती है, जिसकी आज्ञा का पालन अधिकांश नागरिक स्वाभाविक रूप से करते हैं।"

राज्य का शिक्षा से सम्बन्ध—यह कहना कि राज्य ने शिक्षा में किस समय हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया नितान्त असम्भव है। प्राचीनकाल में शिक्षा का संचालन संस्थाओं या साधनों के माध्यम से होता था। धीरे-धीरे राज्य का हस्तक्षेप होने लगा। यह बात निम्न तथ्यों का विवेचन करने से स्पष्ट हो जाती है :

(१) अति प्राचीन काल में मानव अपने लाभ के लिए स्वेच्छा से शिक्षा की व्यवस्था करता था।

(२) प्राचीन काल में शिक्षा का संचालन धार्मिक संस्थाओं द्वारा होने लगा जिनकी आर्थिक पूर्ति दान एवं अनुदान पर आश्रित होती थी।

(३) वर्तमान काल में लगभग १७वीं शताब्दी से शिक्षा में राज्य का हस्तक्षेप होने लगा।

(४) १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य माना जाने लगा।

इसके समर्थन में श्री रेमन्ट (Raymont) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"We observe that education, like the other beneficial influences at work in a civilized community, may be conducted by all or any of three means, first by voluntary effort arising from philanthropic or religious motives, thirdly by the agency of the state."

अर्थात्—"हम यह अनुभव करते हैं कि सभ्य समाज में अन्य उपयोगी कार्यों के समान शिक्षा भी तीनों या तीनों में से एक साधन के द्वारा संचालित की जा सकती है। पहिला ऐच्छिक प्रयास द्वारा लाभ के लिए, दूसरा ऐच्छिक प्रयास दान या धर्म की भावना से प्रेरित होकर, तीसरा राज्य के द्वारा।"

उपरोक्त उल्लेख का यह तात्पर्य नहीं कि आधुनिक काल में शिक्षा के अन्य साधनों का कोई स्थान ही न रहा। जब राज्य के द्वारा शिक्षा का संचालन होता है तो उसमें भी नियन्त्रण के दो रूप हैं : (१) शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण उचित है अथवा अनुचित और (२) यदि उचित है तो उसका क्या रूप होना चाहिए ? इन प्रश्नों के उत्तर में विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों के दो मत है :

(१) शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण एक बुराई है और

(२) शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण अति आवश्यक है।

बुराई का समर्थन करने वालों के मतानुसार राज्य को शिक्षा में कोई भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य का तो प्रमुख कार्य नागरिकों की सुरक्षा करना है। व्यक्ति राज्य का अनुशासन तो स्वीकार करता है परन्तु अन्य कार्यों में स्वतन्त्रता ही चाहता है, अतः राज्य को इस पर हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मिल (Mill) ने इस विचारधारा के समर्थन में व्यक्त किया है :

"In the pars which merely concerns himself, his independence is, of right, absolute. Over himself, over his own body and mind, the individual is sovereign."

शिक्षा पर राज्य के नियन्त्रण के समर्थकों के मतानुसार राज्य का प्रमुख कार्य एक मात्र नागरिक सुरक्षा ही करना नहीं बल्कि राज्य के अनेकों कार्य हैं। सभ्य

राज्य के प्रमुख कार्यों में से एक कार्य नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा एवं वृद्धि करना, संस्कृति का उत्थान करना तथा इनके लिए शैक्षणिक कार्य करना भी है। इस भाँति शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था राज्य के द्वारा ही होती है। रूसी साम्यवादी विचारक पिन्काविच (Pinkeroiuch) ने इसके समर्थन में व्यक्त किया है:

"Public education aiming to mould the future citizens is mighty instrument which government cannot pass into others."

अर्थात्—"सार्वजनिक शिक्षा, जिसका उद्देश्य भावी नागरिकों का सुधार करना है, एक ऐसा शक्तिशाली मन्त्र है जो राज्य दूसरों को हस्तान्तरित नहीं कर सकता है।"

मीमांसा—आधुनिक काल में अनेकों शिक्षाशास्त्री उपरोक्त दोनों विचार-धाराओं को न मानते हुए मध्यम मार्ग का अनुसरण करना उचित समझते हैं। उनका मत है कि न तो शिक्षा को राज्य के नियन्त्रण से बिल्कुल मुक्त होना चाहिए और न राज्य का उस पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण ही होना चाहिए। राज्य द्वारा शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था हो जाना भी सम्भव नहीं होता है, अतः परिवार एवं धार्मिक संस्थाओं का भी शिक्षा के नियन्त्रण पर सहयोग होना आवश्यक है।

प्रश्न २६—शिक्षा के साधन के रूप में राज्य के शैक्षणिक कार्यों की विवेचना कीजिए।

भूमिका—प्रश्न २५ में यह निश्चय किया जा चुका है कि राज्य द्वारा शिक्षा पर नियन्त्रण होना आवश्यक है क्योंकि राज्य का कार्य केवल नागरिक सुरक्षा ही नहीं बल्कि अन्य कार्य भी राज्य को करने होते हैं, जैसे—रक्षा करना, अपराधियों को दण्ड देना, देश की समृद्धि बढ़ाना, परराष्ट्र नीति का संचालन करना, राज्य व्यय को पूरा करने के लिए कर लगाना, आय के धन का वितरण करना, नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा एवं उसकी वृद्धि के लिए सफाई, पेयजल आदि की व्यवस्था करना, आवागमन के साधनों की पूर्ति के लिए सड़कों, रेल आदि की व्यवस्था करना, देश की संस्कृति का उत्थान करना और विभिन्न रूप से शैक्षणिक कार्य करना। शिक्षा के कार्यों के अन्तर्गत निम्न कार्य आवश्यक हैं:

राज्य के शैक्षणिक कार्य:

(१) शिक्षालयों की व्यवस्था,
(२) पढ़ाने की रुचि उत्पन्न करना,
(३) आर्थिक व्यवस्था करना,
(४) शैक्षणिक संस्थाओं का नियन्त्रण,
(५) शिक्षकों को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था करना,
(६) बालकों को सैनिक प्रशिक्षण देना,
(७) शैक्षणिक अन्वेषणों को प्रोत्साहन देना,

(८) परिवार एवं शिक्षालय का सम्बन्ध स्थापित करना,
(९) उद्देश्यों को निर्धारित करने में सहायता करना,
(१०) शिक्षा को अनिवार्य करना,
(११) शिक्षा प्रणाली पर नियन्त्रण एवं निर्देशन करना और
(१२) नागरिकता का प्रशिक्षण देना।

व्यवस्था—सभ्य राज्य का कर्तव्य है कि वह शिक्षालयों की व्यवस्था करे, जिसमें राज्य के प्रत्येक नागरिक को यथोचित शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हो। सम्पूर्ण राज्य में प्राथमिक, माध्यमिक, टेक्नीकल, एग्रीकल्चर आदि शिक्षा केन्द्रों की स्थापना कर व्यवस्था करे। इस प्रसंग में शिक्षाशास्त्री प्रो० एम० पी० सिंह (M. P. Singh) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"......It will be the bounded duty of state to provide schools and afford full and rich facilities for education of all types, primary and secondary, professional and technical etc. sunited to the needs of the community."

अभिभावकों में रुचि उत्पन्न करना—बालकों के माता-पिता अथवा संरक्षक बालकों को पढ़ाने का प्रयास नहीं करते हैं, फलत: अधिकांश नागरिक शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। अत: राज्यों का कर्तव्य है कि बालकों के माता-पिता अथवा संरक्षकों को इस बात के लिए प्रेरणा दें अथवा उनमें रुचि पैदा करें कि वह अपने बालकों को शिक्षालयों में भेजकर शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दें।

आर्थिक व्यवस्था करना—शिक्षा के लिए आर्थिक व्यवस्था करना राज्य का परम आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। बिना आर्थिक व्यवस्था को प्रवन्ध किये राज्य के लिए यह सम्भव है कि बालकों को नि:शुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्राप्त हो। अत: राज्य आर्थिक व्यवस्था का उचित प्रवन्ध करे।

आवश्यक नियन्त्रण—यह आम प्रचलन हो गया है कि अनेकों शैक्षणिक संस्थाओं के अधिकारी अनैतिक कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। फलत: शिक्षकों एवं बालकों दोनों को ही अनेकों भाँति की हानियाँ एवं कठिनाइयाँ वहन करनी पड़ती हैं। अत: राज्य को शैक्षणिक संस्थाओं में आवश्यकतानुसार नियन्त्रण रखना आवश्यक है, जिससे इन संस्थाओं का विघटन न होने पाये।

प्रशिक्षा की व्यवस्था—शिक्षकों को प्रशिक्षित करना राज्य का ही प्रमुख कर्तव्य है। प्रशिक्षित शिक्षक ही उचित अध्यापन का कार्य कर सकते हैं। यदि शिक्षक पूर्णरूपेण आवश्यकता अथवा राज्य की पूर्ति हेतु प्रशिक्षित न होंगे तो बालकों को भी उचित शिक्षा प्राप्त न हो सकेगी। देश का स्तर घट जायगा और नागरिकों का जीवन भी नष्ट प्राय: होगा। अत: राज्य को चाहिए कि प्रशिक्षण का कार्य अपने ही हाथ में रखे।

सैनिक शिक्षा का प्रबन्ध—सार्वभौमिक सत्ता-सम्पन्न देश पड़ोसी देशों पर आक्रमण कर वहाँ की अर्थ व्यवस्था एवं नीति पर अत्याचार करने लगते हैं। इससे वचने और अपनी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि देश के नागरिक सैनिक दृष्टि से शिक्षित हों। यह उसी अवस्था में हो सकता है जब कि राज्य उच्च विद्यालयों में बालकों को सैनिक शिक्षा देने की उचित व्यवस्था करे ताकि अवसर पर सैनिक शिक्षा प्राप्त नागरिक सरलता से प्राप्त हो जायं और देश की सुरक्षा की समस्या सुगमता से हल हो जाय।

अन्वेषणों को प्रोत्साहन देना—अन्वेषणों के लिए इतने अधिक धन की आवश्यकता होती है कि शिक्षा संस्थाएँ उन्हें पूरा नहीं कर सकती हैं। इतनी अधिक धन पूर्ति केवल राज्य द्वारा ही सम्भव है। शिक्षा के स्तर को बढ़ाने के लिए अन्वेषणों को प्रोत्साहन देना आवश्यक है अतः राज्य का ही कर्तव्य है कि धन की व्यवस्था करे।

परिवार एवं शिक्षालय का सम्बन्ध—राज्य द्वारा ही कुछ नवीन संस्थाओं का निर्माण किया जाता है जो माता-पिता अथवा अभिभावकों तथा शिक्षकों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इन संस्थाओं में राज्य के प्रतिनिधि का यह कर्तव्य हो जाता है कि ऐसे प्रस्तावों का अध्ययन करें जिनसे राज्य, समाज एवं व्यक्ति का स्तर ऊंचा हो तथा उनका प्रचार करें तभी देश का हित है।

उद्देश्यों को निर्धारित करना—राज्य दार्शनिक, शिक्षा-विशेषज्ञ, राजनीतिज्ञ आदि व्यक्तियों की आवश्यकताओं का अध्ययन करके राज्यों को निर्देश करते हैं कि शिक्षा के क्या उद्देश्य होने चाहिए या उनमें कोई परिवर्तन करने का परामर्श देते हैं। आवश्यकताओं के आधार पर ही शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं, जिनका निर्धारित करना राज्य का कर्तव्य है। इस प्रसंग में भारतीय महान् शिक्षा-दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् (Dr. Radhakrishnan) का उल्लेख है :

"Our educational system must find guiding principle in the aim of the social order for which it prepares and in the nature of the civilization it hopes to built up."

अनिवार्य शिक्षा का निर्णय—समाज के कल्याण की भावना का दृष्टिकोण रखते हुए राज्य का ही कर्तव्य है कि शिक्षा का स्तर स्थिर करे कि किस स्तर तक की शिक्षा अनिवार्य है ताकि देश के प्रत्येक नागरिक को समान व्यवहार का अनुभव हो।

शिक्षा-प्रणाली पर नियन्त्रण एवं निर्देशन—पाठ्यक्रमों के विषयों को निश्चय करना अध्यापकों या समाज का कर्तव्य है अतः अध्यापकों एवं समाज के बीच वाद-विवाद पर राज्यों को ही निर्णय लेकर शिक्षालय पर नियन्त्रण एवं निर्देशन करना चाहिए। शिक्षकों को शिक्षण-विधि की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्य का कर्तव्य होता है कि श्रेष्ठ शिक्षा-विधियों को प्रचारित करे।

नागरिकता का प्रशिक्षण—नागरिकता के प्रशिक्षण के लिए राज्य को चार तत्वों पर निर्णय लेना अनिवार्य है क्योंकि बिना इन तत्वों के नागरिकता का अस्तित्व ही नहीं रहता है। ये चार तत्व निम्न हैं :

(१) सांस्कृतिक प्रशिक्षण,
(२) सामाजिक प्रशिक्षण,
(३) आर्थिक प्रशिक्षण, और
(४) राजनैतिक प्रशिक्षण।

सांस्कृतिक प्रशिक्षण—भारतीय सांस्कृतिक रीति-रिवाज आदि जो हमें विरासत में प्राप्त हुए हैं उनका प्रशिक्षण एवं संरक्षण करना राज्य का ही कर्तव्य है। इसके प्रचार एवं प्रसार के लिए राज्यों को क्लबों, सोसाइटियों, संग्रहालयों, चित्र-शालाओं, मनोरंजन-गृहों, अजायबघरों आदि का निर्माण करना अति आवश्यक है।

सामाजिक प्रशिक्षण—विद्यार्थियों को समाज का महत्वपूर्ण सदस्य बनने के लिये प्रशिक्षण देना राज्य का ही कर्तव्य है। कल्याणकारी राज्य ही समाज और उसके सदस्यों के विकास के लिए सामाजिक स्तर निर्धारित करते हैं अतः राज्य को चाहिए कि विद्यार्थियों के लिए सामाजिक सम्पर्क का अवसर उपलब्ध करे। ऐसा करने से उनमें सेवा की भावना का विकास होता है और समाज एवं राज्य की प्रगति होती है।

आर्थिक प्रशिक्षण—राज्य का कर्तव्य है कि कृषि, उद्योग, विज्ञान आदि के प्रशिक्षण देने की सुविधाएँ उपलब्ध करे। उसके फलस्वरूप राज्य की उन्नति होगी और आर्थिक समस्या का समाधान होगा। यदि राज्य ऐसी अनेकों संस्थाओं की स्थापना कर नागरिकों को जीविकोपार्जन के साधन प्रदान करेगा तो राज्य या राष्ट्र की उन्नति अवश्यमेव होगी।

राजनैतिक प्रशिक्षण—राजनैतिक विचारधाराओं का बालकों को प्रशिक्षण देना अनिवार्य है तभी राष्ट्र अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है। राजनैतिक प्रशिक्षण प्राप्त होने पर प्रत्येक नागरिक अपने कर्तव्यों तथा अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करता है और इस भाँति राजनैतिक विवादों में सक्रिय भाग ले सकेगा। यह कार्य रेडियो, प्रदर्शनों, उत्सवों, सिनेमा आदि के द्वारा सुगमता से प्रतिपादित किया जा सकता है।

मीमांसा—राज्य का शिक्षा से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। शिक्षा के महत्वपूर्ण साधनों में राज्य का सहयोग उतना ही अनिवार्य है जितना परिवार का। बिना राज्य के सहयोग के व्यक्ति न तो अपनी और न राष्ट्र की उन्नति में सहयोग दे सकेगा। अतः उपर्युक्त कार्य राज्य को अवश्य पूरे करने चाहिए।

अध्याय ६

विद्यालय

(School)

प्रश्न २७—विद्यालय की परिभाषा स्पष्ट करते हुए समाज में उसका महत्व तथा आवश्यकताओं का विस्तार पूर्वक उल्लेख कीजिए।

भूमिका—मानव सामाजिक प्राणी है, अतः प्राचीनकाल से ही मानव की शिक्षा का प्रबन्ध समाज द्वारा ही किया जाता रहा है। सर्वप्रथम जिस प्रकार नागरिक शास्त्र में परिवार का प्रथम स्थान रहा है उसी प्रकार शिक्षाशास्त्र में भी परिवार का स्थान प्रथम है। परिवार के साथ-साथ शिक्षा का कार्य धार्मिक संस्थाओं (Religious Institutions) द्वारा भी सम्पादित एवं संचालित होता रहा है। तदनन्तर जैसे-जैसे समाज का स्वरूप जटिल होता रहा और ज्ञान का व्यापक रूप हुआ वैसे-वैसे शिक्षा देने और प्राप्त करने के लिए विद्यालय स्थापित होते गये। शिक्षा की आवश्यकता के साथ-साथ उसकी औपचारिकता के साधन अनुभव होने लगे।

प्राचीनकाल में उच्च परिवारों में राजा महाराजा एवं धनवान व श्रेष्ठ बालकों को ही विद्या प्रदान की जाती थी। किन्तु वर्तमान काल में बालकों के लिए शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य अंग बन गया है और सार्वजनिक रूप से विद्यालय स्थापित कर दिए गए हैं। उद्योगों की उन्नति, शहरों की अथवा गाँवों की परिस्थिति, प्राकृतिक साधनों की उपलब्धता तथा सामाजिक विज्ञान की उन्नति आदि के कारणों से विद्यालयों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग उत्पन्न हो गया है। शिक्षा शास्त्र के इतिहास का अध्ययन करने से यह भली प्रकार बोध हो जाता है कि भारत, चीन तथा बेबीलोन में विद्यालयों की आवश्यकता सर्वप्रथम अनुभव की गयी है। यहीं पर विद्यालय प्रारम्भ किये गये थे। आधुनिक काल में ऐसा कोई भी सभ्य देश तथा समाज नहीं है जहाँ शिक्षा प्रदान करने का कार्य विद्यालयों द्वारा नहीं किया जाता हो। अतः यह पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काल में बालक की शिक्षा का प्रबन्ध विद्यालय में ही श्रेष्ठ रूप से हो सकता है।

शिक्षा के साधन का स्थान जानने के लिए हमें विद्यालय का अर्थ, उसका

परिभाषा (Meaning and Definition of School), मानव समाज में विद्यालय का महत्त्व तथा उसकी आवश्यकता (Importance of School in Society and its Need) जानना अति आवश्यक है।

विद्यालय का अर्थ (Meaning of School)—अंग्रेजी भाषा के शब्द 'स्कूल' (School) का हिन्दी रूपान्तर विद्यालय है। अंग्रेजी भाषा का स्कूल शब्द भी यूनानी शब्द से बना है इसका स्पष्टीकरण करते हुए श्री ए० एम० लीच ने कहा है :

"The discussion forum or talking-shops where the youth of Athens spent their leisure time in sports exercise in training for war, gradually crystallized into schools of philosophy and the higher arts in the leisure spent in the trim gardens of the Academy, schools developed."

—A. F. Leach.

जहाँ एथेन्स के युवक वाद-विवाद या वार्तालाप के स्थान पर अपने अवकाश के समय को खेल-कूद, व्यायाम तथा युद्ध आदि के सीखने में व्यतीत करते थे, वे स्थान: शनै शनै: उच्च कलाओं के स्कूल में बदल गये। इस भाँति एकेडमी उद्यानों में व्यतीत किया जाने वाला अवकाश का समय इस माध्यम द्वारा स्कूलों के परिवर्तन करने में सहायक सिद्ध हुआ।

इसी भाँति विद्यालय शब्द का हिन्दी अर्थ स्पष्ट करता है—विद्यालय= विद्या+आलय अर्थात् विद्यालय वह स्थान कहलाता है जहाँ विद्या या तत्सम्बन्धी ज्ञान दिया या ग्रहण किया जाता है अथवा विद्या अथवा ज्ञान का आदान-प्रदान होता है।

उपरोक्त शाब्दिक अर्थ के अतिरिक्त विद्यालय का एक विशेष वास्तविक अर्थ भी है—प्रत्येक देश तथा समाज अपनी-अपनी एक विशिष्ट भाषा रखता है, उसकी प्रारम्भिक प्रथायें अपनी होती हैं, वहाँ के रीति-रिवाज अलग-अलग होते हैं, वहाँ के निवासियों की वेश-भूषा, धर्म, साहित्य-संगीत-कला कौशल आदि की रुचि भी विभिन्न होती है तथा विज्ञान व दर्शन में विषमता होती है। यह सब तत्व मिलकर देश की संस्कृति (Culture) तथा सभ्यता (Civilization) कहलाते हैं। इस सामाजिक रूढ़ि पर ही उस देश या राष्ट्र के सदस्यों तथा नागरिकों की प्रगति निर्भर होती है। अत: यह परम आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को अपने देश की सामाजिक, रूढ़ि का ज्ञान कराया जाय, जो उसे वयस्क होने पर देश की आर्थिक, राजनैतिक सामाजिक तथा औद्योगिक उन्नति में सहायक हो सके तथा उसे स्वयं की प्रगति का मार्ग अपनाने में सहायक हो। प्रत्येक बालक का कर्तव्य होता है कि वह उन रूढ़ियों को सुरक्षित ही न रखे, बल्कि उनका समुचित प्रयोग भी करे, ताकि देश तथा समाज प्रगति के पथ पर अग्रसर हो और वह सुसंस्कृत तथा सभ्य कहलाये।

सभ्य और विद्वान पुरुषों ने इस ज्ञान की वृद्धि करने के हेतु ही एक साधन या संस्था का संस्थापन किया है। यही साधन विद्यालय या स्कूल कहलाते हैं। विभिन्न

शिक्षा के विद्वानों ने विभिन्न रूप से विद्यालय के स्वरूपों का निरूपण किया है। अतः हम फिर भी विद्यालय उस स्थान, साधन या संस्था को कहते हैं जहाँ सम्बन्धित देश की अथवा समाज की कला-कौशल, धर्म, नैतिकता, दार्शनिकता तथा जीवन में प्रयोग होने वाली कलाओं, साहित्यों संगीतज्ञ तथा कलात्मक विधियों का ज्ञान उपलब्ध हो सके। शिक्षित प्राध्यापकों द्वारा प्रत्येक बालक को उसकी क्षमता एवं बुद्धि के अनुरूप उसे सुसंस्कृत बनाया जाय।

विद्यालय की परिभाषा (Definition of Sohool)—विभिन्न विचारकों के अनुसार विद्यालय की परिभाषाएँ निम्न रूपों में व्यक्त की जा सकती हैं :

श्री फ० के० सी० आटेव के मतानुसार—

"The school may be regarded as a social invention to serve society for the specialised teaching of young ones."

"विद्यालय एक ऐसी सामाजिक संस्था है जहाँ समाज के बालकों को विशेष भाँति का शिक्षण प्रदान किया जाता है।"

श्री टी० पी० नन् के मतानुसार—

"The school must be thought of primarily not as a place where certain knowledge is learnt, but as a place where young are disciplined in certain forms of activity—namely, those that are of greatest and most permanent significance in the wider world."

"मुख्यरूप से निश्चित ज्ञान सीखने के स्थान को विद्यालय नहीं समझना चाहिए बल्कि विद्यालय वह स्थान है जहाँ बालक कुछ निश्चित रूप से क्रियाओं द्वारा अनुशासित किया जाता है। यही क्रियाएँ ही इस विस्तृत संसार में अत्यन्त महान् और स्थायी महत्त्व रखती हैं।"

प्रो० रॉस के मतानुसार—

"Schools are institutions devised by civilized man for the purpose of aiding in the preparation of the young for well-adjustment, efficient membership in society."

"सभ्य पुरुषों द्वारा स्थापित वे संस्थाएँ विद्यालय कहलाता है, जिनसे समाज उन्नति प्राप्त होने के लिए सुव्यस्थित तथा योग्य नागरिक बनने के लिए बालकों को प्रशिक्षित करने में सहयोग प्राप्त होता है।"

सुप्रसिद्ध विद्वान जॉन डीवी के मतानुसार—

"School is a special environment where a certain quality of life and certain types of activities and occupations are provided with the object of securing child's development along desirable lines."

"एक ऐसा विशेष वातावरण विद्यालय कहलाता है जहाँ रह कर बालक जीवन के कुछ गुणों एवं कुछ विशेष रूप की क्रियाओं तथा व्यवसायों की शिक्षा अथवा ज्ञान इस कारण प्राप्त करे कि उसका इच्छानुसार विकास हो।"

७

एक अन्य विख्यात शिक्षाशास्त्री के मतानुसार—

"School is a necessity of the society, an invention to and even a specialised and miniture form."

"एक ऐसा साधन जो समाज की एक आवश्यकता को पूरा करे विद्यालय कहलाता है। यह वह आविष्कार भी है जिसका विस्तृत एवं लघु रूप भी माना जाता है।"

समाज में विद्यालय का महत्त्व एवं आवश्यकता—सामाजिक उन्नति पाने के लिए मनुष्य स्वभावतः उन अनेकों संस्थाओं तथा समितियों का निर्माण करता है, जिनसे वह अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सके। मानव का यह प्रयास ही संस्थाओं तथा समितियों की आवश्यकता पर बल देता है और उसकी पुष्टि करता है। इन संस्थाओं और समितियों में एक संस्था विद्यालय है। अन्य संस्थाओं और समितियों से विद्यालय का स्थान, महत्त्व और उसकी आवश्यकता सबसे उच्च गिनी जाती है। अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रकट किये हैं कि विद्यालय क्या है। श्री एस० बालकृष्ण जोशी ने इस विचार पर अपने शब्दों में कहा है :

"The progress of a nation is decided not in legislature, not in court, not in factories, but in schools."

"राष्ट्र की उन्नति उसकी विधान सभाओं, कचहरियों और कारखानों अथवा उद्योगों से नहीं निर्णीत की जा सकती है बल्कि राष्ट्र के विद्यालयों से ही वहाँ की उन्नति आँकी जा सकती है।"

विद्यालय को उच्च स्तर पर महत्त्वपूर्ण क्यों माना गया है इसका निर्णय निम्न विचारों द्वारा स्पष्ट होता है :

किसी संस्था या समिति का महत्त्व ज्ञात करने के लिये सर्वप्रथम उसी भाँति की अन्य संस्था या समिति से उसकी तुलना करना अनिवार्य है। शिक्षा प्राप्त करने का साधन सर्वप्रथम घर या परिवार के सदस्यों के बीच होता है और दूसरा साधन विद्यालय है। इसके अतिरिक्त अन्य वर्ग जैसे माध्यम, स्वरूप, सम्पर्क, विशेषताओं आदि शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन किये जा सकते हैं।

तुलनात्मक—बालक की सर्वप्रथम शिक्षा घर पर ही होती है किन्तु घर पर बालक जो शिक्षा प्राप्त करता है वह संकुचित रूप से मिलती है। किसी बालक की शिक्षा का स्थान यदि घर तक ही सीमित रहे तो वह बालक अन्य व्यक्तियों के रीति-रिवाज, धर्म, शिष्टाचार और सहानुभूति आदि गुणों का अध्ययन करने से वंचित रह जायगा। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक अनुसंधान और विश्व बन्धुत्व की भावना से पूर्णरूपेण ही पृथक रहेगा। फलतः वह अपने जीवन में कोई विशेष प्रगति न कर सकेगा और न समाज की प्रगति में सहयोग ही देने योग्य होगा। विद्यालय की शिक्षा जो अत्यन्त विस्तृत और महत्त्वपूर्ण होती है, बालक को उन सभी बातों का ज्ञान करा देती है जो जीवन में अत्यन्त ही आवश्यक होते हैं एवं जिनका ज्ञान घर पर रह कर

प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः हम कह सकते हैं कि घर की शिक्षा से विद्यालय की शिक्षा उत्तम स्थान रखती है।

माध्यात्मक—बालक को जो शिक्षा घर पर मिलती है, उससे वह सेवा, आज्ञा-पालन, अनुशासन आदि गुण प्राप्त करता है, परन्तु यह गुण एक परिवार तक ही सीमित होते हैं। अतः यह स्पष्ट होता है कि घर पर प्राप्त होने वाली शिक्षा संकुचित होती है। इसके साथ यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि विद्यालय में बालक प्रवेश करने के उपरान्त विभिन्न कार्य, धर्मों, सम्प्रदायों आदि के बालकों के सम्पर्क में आ जाता है, फलतः उसका दृष्टिकोण व्यापक एवं विस्तृत हो जाता है। विद्यालय में पारिवारिक जीवन का स्वरूप न रह कर सामाजिक जीवन बन जाता है। यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवार और समाज को एक दूसरे से जोड़ने की कड़ी बन कर विद्यालय ही घर और बाहर को एक करते हैं।

राजनैतिक दृष्टिकोण से विचार करने पर भी हमें यही प्रतीत होता है कि राज्य का कैसा भी स्वरूप हो परन्तु विद्यालय का वही स्तर बना रहता है। यह महत्त्वपूर्ण स्तर ही प्रत्येक राज्य के प्रशासन को सफल बनाने के लिये अपने विचारों और आदर्शों को जनता में प्रवाहित करता है। इसको विस्तार से व्यापक बनाने में विद्यालय का ही प्रमुख स्थान रहता है जो सर्वोपरि है।

स्वरूप—विद्यालय एक सामाजिक संस्था ही नहीं है, बल्कि स्वयं में एक समाज का लघु रूप भी है। शिक्षा के आदान-प्रदान का स्थान होने के कारण विद्यालय में प्रत्येक भाँति के प्रभावपूर्ण साधन उपलब्ध हो जाते हैं, जो समाज को उन्नतिशील बनाने में निरन्तर सहयोग देते हैं। सहयोग की भावना और आदर्श लघु स्वरूप का संकेत करते हुए श्री टी० पी० नन् ने स्पष्ट व्यक्त किया है—"विद्यालय को समस्त संसार का नहीं बल्कि मानव जाति का एक आदर्श लघु रूप होना चाहिये।"

समाज का विकास विद्यालय के अतिरिक्त अनेक शिक्षा के माध्यम से किया जाता है। यह माध्यम अथवा साधन—परिवार, धर्म, समुदाय आदि एक पूर्व निश्चित साधन से लिप्त रहते हैं और इनका कार्यक्रम भी नियोजित तथा सीमित होता है। फलतः बालकों को शिक्षा भी सीमित और संकुचित प्राप्त होती है, जो कभी-कभी उन पर अशुभ प्रभाव डालती है। अतः विद्यालय ही एक शिक्षा का वह स्वरूप है जो बालकों को व्यक्तित्व बनाने में पूर्ण सहयोग देता है। उनका व्यक्तित्व पूर्णरूपेण विकासवान और विस्तृत होता है।

सम्पर्क—विद्यालय का स्वरूप चाहे लघु हो या विस्तृत, सबमें अनेकों प्रकार के परिवार, समुदाय, जाति, वर्ग तथा धर्मों के अनुयायी विद्यार्थी पाते हैं। उनकी संस्कृति तथा सभ्यता भी विभिन्न रूप में पाई जाती है। प्रत्येक संस्कृति के विद्यार्थियों के पारस्परिक सम्पर्क में रहने के कारण स्वभावतः प्रत्येक संस्कृति के गुणों का कुछ न कुछ विकास होना सम्भव ही है। अतः सम्पर्क की भावना से विद्यालय विद्यार्थियों में विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

विशेषताएँ—विद्यालय में अनेकों प्रकार की विशेषताएँ उपलब्ध हैं। प्राचीन काल से आज तक सांस्कृतिक रूप में वृद्धि होती रही है और अब तो वैज्ञानिक आविष्कारों के अत्यधिक बढ़ जाने से संस्कृति की वृद्धि में और भी वृद्धि हो गयी है। प्राचीन रीति-रिवाजों, परम्पराओं और रूढ़िओं आदि के साथ-साथ विभिन्न भाँति के ज्ञान, कुशलता तथा कार्य-विधियों का भी समावेश होता जा रहा है। इस भाँति सांस्कृतिक विरासत का आदान-प्रदान पारिवारिक या सामाजिक शिक्षा के माध्यम से होना अनिवार्य नहीं है। विद्यालय में सांस्कृतिक विरासत समुचित रूप से सम्पादित हो सकती है। अतः यह प्रमुख विशेषता उल्लेखनीय है।

एक अन्य विशेषता यह है कि यदि परिवार का पास-पड़ोस का समाज तथा वातावरण अशुद्ध, कोलाहलपूर्ण, जटिल तथा अव्यवस्थित होता है तो शिक्षा का आदान-प्रदान उचित प्रकार नहीं हो पाता है। दूसरे परिवार में निरक्षरता, अज्ञानता, निर्धनता, स्थानाभाव आदि अनेकों कारण हैं जो बाधाएँ उपस्थित खड़ी कर देते हैं। इन कारणों से बालकों का अध्ययन करना एक समस्या बन जाती है। विद्यालय में बालकों को स्वस्थ, सरल, शान्त और सुव्यवस्थित वातावरण मिल जाने के कारण शिक्षा प्राप्त करने में असुविधा नहीं होती है। विद्यालय एक विशेष शिक्षा का स्थान है।

तीसरी विशेषता यह है कि वर्तमान काल में जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ समाज का नगरीकरण और औद्योगीकरण हो गया है तथा परिवारों का विघटन निरन्तर बढ़ता जा रहा है। ऐसी अवस्था में परिवार में शिक्षा का साधन सुगमता से उपलब्ध नहीं हो सकता है। मनुष्य की स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति होना भी एक अत्यन्त जटिल समस्या बन गयी है। वह इसलिये शिक्षा का भी वहन करने और देख-भाल करने में अपने को असमर्थ पाता है। अतः वर्तमान काल में विद्यालय ही शिक्षा का उच्चतम साधन है।

प्रतिफल—शिक्षित नागरिकों का निर्माण विद्यालय ही द्वारा सम्भव है, यह उपरोक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है। अतः राज्य सरकारों का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि प्रत्येक बालक को निश्चित आयु तक अनिवार्य और शुल्क-रहित या कम खर्च पर शिक्षा प्राप्त हो सके। ऐसा हो जाने पर ही प्रत्येक भावी नागरिक पढ़ा-लिखा और गुणों से विभूषित होगा।

प्रश्न २८—विद्यालय के कार्यों का उल्लेख करते हुए भारत में उनकी स्थिति का वर्णन कीजिये।

भूमिका बालकों की शिक्षा का उच्चतम स्थान विद्यालय है यह बात पिछले प्रश्न में निश्चित हो चुकी है। प्रत्येक विद्यालय का अपना-अपना विशेष कार्य होता है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार विद्यालयों के कार्यों का वर्णन किया है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री बुवेकर ने विद्यालय के कार्यों को तीन रूपों में विभक्त किया है :

(१) संरक्षण कार्य, (२) प्रगतिशील कार्य और (३) निष्पक्ष कार्य।

संरक्षण कार्य—अति प्राचीन काल से वर्तमान काल तक अनेकों कठिनाइयाँ और त्याग करने के उपरान्त हमारे पूर्वजों ने जिस संस्कृत तथा सभ्यता की सृष्टि की है उसको सुरक्षित करने में विद्यालयों का ही महान् योग रहा है। यदि इस सामाजिक विरासत का ज्ञान भविष्य के लिये सुरक्षित न रखा गया तो नष्ट हो जायगा इस भाँति हमारे पूर्वजों का त्याग व परिश्रम व्यर्थ होगा। अतः विद्यालयों का यह परम कर्त्तव्य होता है कि सामाजिक विरीसत की शिक्षा बालकों को प्रदान करें तथा सांस्कृतिक आदर्शों की रक्षा करें। यही संरक्षण कार्य पूर्णरूपेण प्रतिपादित करना विद्यालय का ही उत्तरदायित्व है।

प्रगतिशील कार्य—"सामाजिक विरासत को नष्ट हो जाने से रोकने का कार्य विद्यालय का उत्तरदायित्व है। यह प्रगतिवादियों की दृष्टि से मूर्खता है। प्रगतिवादियों के विचारानुसार विद्यालय का प्रमुख कर्त्तव्य सांस्कृतिक आदर्शों की रक्षा करना नहीं वल्कि समाज को प्रगति की दिशा में अग्रसर करना है। अतः विद्यालय का कर्त्तव्य हो जाता है कि आधुनिक नवीन विचारों और आविष्कार के फलस्वरूप उत्पन्न कार्यक्रमों को समाज के अनुरूप बनाकर समय के साथ-साथ परिवर्तन करें। यही विद्यालय का प्रगतिशील कार्य होना आवश्यक है।

निष्पक्ष कार्य—प्रगतिवादियों के अतिरिक्त आदर्शवादी विचारकों के मतानुसार विद्यालयों का निष्पक्ष कार्य होना चाहिए। उन्हें सांस्कृतिक सुरक्षा के पचड़े में पड़ना या नवीन विचारों के साथ कार्यक्रमों को स्थिर नहीं करना चाहिए। विद्यालयों का कार्य तो सांसारिक तथ्यों से भी ऊपर कार्य करना है। विशेषतः विद्यालय का प्रमुख कार्य तो अनन्त और शाश्वत विचारधाराओं के आदर्शों और सत्यों की शिक्षा का आदान-प्रदान करना है। अतः सांसारिक तथ्यों के विवादों में न पड़ कर निष्पक्ष शिक्षा देना विद्यालय का श्रेष्ठ कार्य है।

एक अन्य शिक्षा शास्त्री श्री थामसन के मतानुसार विद्यालय के निम्न कार्य हैं:

(१) बौद्धिक प्रशिक्षण,
(२) चारित्रिक प्रशिक्षण,
(३) सामुदायिक जीवन का प्रशिक्षण,
(४) राष्ट्रीय भावना तथा देश-प्रेम का प्रशिक्षण और
(५) स्वास्थ्य तथा स्वच्छता का प्रशिक्षण।

बौद्धिक प्रशिक्षण—विद्यालयों का सर्व प्रथम कार्य बालकों को पुस्तकीय ज्ञान देना और तर्कशास्त्र का उनमें विकास करना है।

चारित्रिक प्रशिक्षण—विद्यालयों का द्वितीय प्रमुख कार्य बालकों के चरित्र का निर्माण करना है। यह महत्त्वपूर्ण कार्य उनके ही द्वारा प्रतिपादित होना अति

विशेषताएँ—विद्यालय में अनेकों प्रकार की विशेषताएँ उपलब्ध हैं। प्राचीन काल से आज तक सांस्कृतिक रूप में वृद्धि होती रही है और अब तो वैज्ञानिक आविष्कारों के अत्यधिक बढ़ जाने से संस्कृति की वृद्धि में और भी वृद्धि हो गयी है। प्राचीन रीति-रिवाजों, परम्पराओं और रूढ़िओं आदि के साथ-साथ विभिन्न भाँति के ज्ञान, कुशलता तथा कार्य-विधियों का भी समावेश होता जा रहा है। इस भाँति सांस्कृतिक विरासत का आदान-प्रदान पारिवारिक या सामाजिक शिक्षा के माध्यम से होना अनिवार्य नहीं है। विद्यालय में सांस्कृतिक विरासत समुचित रूप से सम्पादित हो सकती है। अतः यह प्रमुख विशेषता उल्लेखनीय है।

एक अन्य विशेषता यह है कि यदि परिवार का पास-पड़ोस का समाज तथा वातावरण अशुद्ध, कोलाहलपूर्ण, जटिल तथा अव्यवस्थित होता है तो शिक्षा का आदान-प्रदान उचित प्रकार नहीं हो पाता है। दूसरे परिवार में निरक्षरता, अज्ञानता, निर्धनता, स्थानाभाव आदि अनेकों कारण हैं जो बाधाएँ उपस्थित खड़ी कर देते हैं। इन कारणों से बालकों का अध्ययन करना एक समस्या बन जाती है। विद्यालय में बालकों को स्वस्थ, सरल, शान्त और सुव्यवस्थित वातावरण मिल जाने के कारण शिक्षा प्राप्त करने में असुविधा नहीं होती है। विद्यालय एक विशेष शिक्षा का स्थान है।

तीसरी विशेषता यह है कि वर्तमान काल में जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ समाज का नगरीकरण और औद्योगीकरण हो गया है तथा परिवारों का विघटन निरन्तर बढ़ता जा रहा है। ऐसी अवस्था में परिवार में शिक्षा का साधन सुगमता से उपलब्ध नहीं हो सकता है। मनुष्य की स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति होना भी एक अत्यन्त जटिल समस्या बन गयी है। वह इसलिये शिक्षा का भी वहन करने और देख-भाल करने में अपने को असमर्थ पाता है। अतः वर्तमान काल में विद्यालय ही शिक्षा का उच्चतम साधन है।

प्रतिफल—शिक्षित नागरिकों का निर्माण विद्यालय ही द्वारा सम्भव है, यह उपरोक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है। अतः राज्य सरकारों का यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि प्रत्येक बालक को निश्चित आयु तक अनिवार्य और शुल्क-रहित या कम खर्च पर शिक्षा प्राप्त हो सके। ऐसा हो जाने पर ही प्रत्येक भावी नागरिक पढ़ा-लिखा और गुणों से विभूषित होगा।

प्रश्न २८—विद्यालय के कार्यों का उल्लेख करते हुए भारत में उनकी स्थिति का वर्णन कीजिये।

भूमिका बालकों की शिक्षा का उच्चतम स्थान विद्यालय है यह बात पिछले प्रश्न में निश्चित हो चुकी है। प्रत्येक विद्यालय का अपना-अपना विशेष कार्य होता है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार विद्यालयों के कार्यों का वर्णन किया है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री बुवेकर ने विद्यालय के कार्यों को तीन रूपों में विभक्त किया है :

(१) संरक्षण कार्य, (२) प्रगतिशील कार्य और (३) निष्पक्ष कार्य।

संरक्षण कार्य—अति प्राचीन काल से वर्तमान काल तक अनेकों कठिनाइयाँ और त्याग करने के उपरान्त हमारे पूर्वजों ने जिस संस्कृत तथा सभ्यता की सृष्टि की है उसको सुरक्षित करने में विद्यालयों का ही महान् योग रहा है। यदि इस सामाजिक विरासत का ज्ञान भविष्य के लिये सुरक्षित न रखा गया तो नष्ट हो जायगा इस भाँति हमारे पूर्वजों का त्याग व परिश्रम व्यर्थ होगा। अतः विद्यालयों का यह परम कर्त्तव्य होता है कि सामाजिक विरासत की शिक्षा बालकों को प्रदान करें तथा सांस्कृतिक आदर्शों की रक्षा करें। यही संरक्षण कार्य पूर्णरूपेण प्रतिपादित करना विद्यालय का ही उत्तरदायित्व है।

प्रगतिशील कार्य—"सामाजिक विरासत को नष्ट हो जाने से रोकने का कार्य विद्यालय का उत्तरदायित्व है। यह प्रगतिवादियों की दृष्टि से मूर्खता है। प्रगतिवादियों के विचारानुसार विद्यालय का प्रमुख कर्त्तव्य सांस्कृतिक आदर्शों की रक्षा करना नहीं बल्कि समाज को प्रगति की दिशा में अग्रसर करना है। अतः विद्यालय का कर्त्तव्य हो जाता है कि आधुनिक नवीन विचारों और आविष्कार के फलस्वरूप उत्पन्न कार्यक्रमों को समाज के अनुरूप बनाकर समय के साथ-साथ परिवर्तन करें। यही विद्यालय का प्रगतिशील कार्य होना आवश्यक है।

निष्पक्ष कार्य—प्रगतिवादियों के अतिरिक्त आदर्शवादी विचारकों के मतानुसार विद्यालयों का निष्पक्ष कार्य होना चाहिए। उन्हें सांस्कृतिक सुरक्षा के पचड़े में पड़ना या नवीन विचारों के साथ कार्यक्रमों को स्थिर नहीं करना चाहिए। विद्यालयों का कार्य तो सांसारिक तथ्यों से भी ऊपर कार्य करना है। विशेषतः विद्यालय का प्रमुख कार्य तो अनन्त और शाश्वत विचारधाराओं के आदर्शों और सत्यों की शिक्षा का आदान-प्रदान करना है। अतः सांसारिक तथ्यों के विवादों में न पड़ कर निष्पक्ष शिक्षा देना विद्यालय का श्रेष्ठ कार्य है।

एक अन्य शिक्षा शास्त्री श्री थामसन के मतानुसार विद्यालय के निम्न कार्य हैं :

(१) बौद्धिक प्रशिक्षण,
(२) चारित्रिक प्रशिक्षण,
(३) सामुदायिक जीवन का प्रशिक्षण,
(४) राष्ट्रीय भावना तथा देश-प्रेम का प्रशिक्षण और
(५) स्वास्थ्य तथा स्वच्छता का प्रशिक्षण।

बौद्धिक प्रशिक्षण—विद्यालयों का सर्व प्रथम कार्य बालकों को पुस्तकीय ज्ञान देना और तर्कशास्त्र का उनमें विकास करना है।

चारित्रिक प्रशिक्षण—विद्यालयों का द्वितीय प्रमुख कार्य बालकों के चरित्र का निर्माण करना है। यह महत्त्वपूर्ण कार्य उनके ही द्वारा प्रतिपादित होना अति

आवश्यक है क्योंकि वर्तमान काल में समाज में अनेकों जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं।

समुदायिक जीवन का प्रशिक्षण—विद्यालयों का तीसरा आवश्यक कर्त्तव्य बालकों को सामुदायिक जीवन का प्रशिक्षण प्रदान करना है। सामुदायिक जीवन व्यतीत करने का अवसर अन्य संस्थाओं की अपेक्षा विद्यालय में और सरलता से उपलब्ध हो सकता है।

राष्ट्रीय भावना तथा देश-प्रेम का प्रशिक्षण--नागरिकता के उच्च आदर्शों को सीखने के लिए बालकों में राष्ट्रीय स्वाभिमान एवं देश-प्रेम की भावनायें होना अनिवार्य है। अतः विद्यालयों का ही प्रमुख कार्य है कि बालकों को एक आदर्श नागरिक बनाने के लिये प्रशिक्षण करें। उनमें राष्ट्रीय भावना तथा देश-प्रेम की भावना विकसित करें। यदि यह भावनाएँ शुद्ध रूप से विकसित होंगी तो राष्ट्र का हित अवश्यम्भावी होगा अन्यथा अहितकर सिद्ध होगा।

स्वास्थ्य तथा स्वच्छता का प्रशिक्षण—वर्तमान काल में जनसंख्या की वृद्धि और नगरों का औद्योगीकरण हो जाने के कारण जनता की रहने परिस्थिति अति जटिल बन गयी है। वह अस्वस्थ और अस्वच्छ होती जा रही है। अतः विद्यालयों का श्रेष्ठ कार्य हैं कि बालकों को ऐसी शिक्षा प्रदान की जाय जिससे उनका जीवन स्वस्थ और स्वच्छ हो।

उपरोक्त विभाजन के अतिरिक्त अनेकों विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से विद्यालयों के कार्यों का विभाजन किया है। विभिन्न कार्यों को प्रमुखतया दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) औपचारिक (Formal) तथा
(२) अनौपचारिक (Informal)।

औपचारिक कार्य—औपचारिक कार्यों के भी विभिन्न रूप हैं। सर्व प्रथम विद्यार्थी को ऐसा ज्ञान मिलना चाहिए जो स्वयं में पूर्ण न हो कर कार्य को पूर्ण करने का केवल साधन ही हो। अर्थात् ज्ञान द्वारा उसे प्राप्त करने के लिए ही विद्यार्थी में गति उत्पन्न करना विद्यालय का कार्य है। विद्यार्थी के मस्तिष्क के सन्तुलन में रहते हुए गतिरोध उत्पन्न होने से परिस्थितियों के प्रति एक ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी जो विद्यार्थी को भविष्य में उसके स्वयं का तथा उसके द्वारा किये गये कार्यों का मूल्य ज्ञात होगा।

इसके अतिरिक्त यह आवश्यक है कि पूर्व-कालीन सांस्कृतिक विरासत की सुरक्षा करना और उसमें समयानुकूल संशोधन एवं परिवर्तन तथा परिवर्द्धन करना विद्यार्थी को जानना आवश्यक है। इस औपचारिक कार्य के अन्तर्गत ही उसे सांस्कृतिक विरासत को भविष्य की पीढ़ी को भी सिखाने की कला का ज्ञान आवश्यक है।

विद्यार्थी को यह ज्ञान भी आवश्यक है कि वह कार्य को प्रारम्भ करके उसमें गुणों का प्रादुर्भाव करे। आदर्श प्रस्तुत करने से प्रजातान्त्रिक युग में देश के नागरिक नेतृत्व प्राप्त करके उन गुणों का वास्तविक पालन करें और दूसरों के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करें। यह भावना उसी अवस्था में पूर्ण रूप से सम्पन्न हो सकती है जबकि विद्यार्थियों में चिन्तन, तर्क तथा निर्णय करने की शक्तियों का समुचित विकास हो। विद्यालयों द्वारा ही नवीन परिस्थिति से सम्बन्धित चिन्तन एवं तर्क करने का गुण प्राप्त किया जा सकता है।

विद्यालयों का औपचारिक कार्य विद्यार्थियों के चरित्र का निर्माण करना तथा उनका आध्यात्मिक विकास करना है। उन्हें इस योग्य बनाना है कि वे समाज एवं राष्ट्र के लिए भार न बनें और अपना जीवन निर्वाह स्वयं कर सकें।

अनौपचारिक कार्य—विद्यार्थी को स्वास्थ्य लाभ के लिए शारीरिक प्रशिक्षण जैसे—खेलकूद, जिमनास्टिक, स्काउटिंग, सैन्य-शिक्षा, तथा स्वच्छता सम्बन्धी कार्यों का प्रशिक्षण देना आवश्यक है। मानसिक प्रशिक्षण के लिए अन्ताक्षरी एवं वादविवाद प्रतियोगिता, कविसम्मेलन, संगीत सम्मेलन, प्रदर्शिनी, चित्र प्रतियोगिता आदि व्यवस्था अनौपचारिक कार्य हैं। इस भाँति के प्रशिक्षण भावात्मक प्रशिक्षण कहलाते हैं। विद्यालयों का कार्य है कि विद्यार्थियों में सामाजिक प्रशिक्षण देने के लिए सामाजिक उत्सवों, समाज-सेवा आदि कार्य-क्रमों को आयोजित कर शिक्षण प्रदान करें। इसके अतिरिक्त एक उचित सक्रिय वातावरण का निर्माण कर विद्यार्थियों में उनकी सही-सही रुचियों तथा रचनात्मक क्रियाओं को प्रोत्साहित करना भी विद्यालयों का ही कार्य है।

भारत में विद्यालयों की सामान्य स्थिति

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के विद्यालयों में संगठनात्मक रूप से प्रजातान्त्रिक विचारधारा को विशेष स्थान देने का प्रयास किया जा रहा है। फिर भी अनेकों विद्यालय पाश्चात्य पद्धति का ही अनुकरण कर रहे हैं, जिससे भारतीय संस्कृति का कोई विकास नहीं होता है और न विद्यार्थियों का व्यक्तित्व ही विकास को प्राप्त होता है। इस अवस्था में ग्रामीण क्षेत्र तथा गैर-सरकारी विद्यालयों की दिशा और भी गम्भीर बनी हुई है। इसके सम्बन्ध में श्री एच० जी० वेल्स का कथन सत्य है :

"If you want to feel the generation rushing to waste like rapids, you should put your heart and mind into a private sohool."

"यदि आप अनुभव करना चाहते हैं कि पीढ़ी किस भाँति विकास की ओर न जाकर पहाड़ी नदी के समान वेग से विनाश की ओर अग्रसर हो रही है, तो किसी गैर-सरकारी विद्यालय का अध्ययन करना चाहिए।"

भारत में विद्यालयों के निम्न स्तर पर स्थिर रहने और विनाश की ओर बढ़ने के निम्न कारण हैं :

(१) अभाव

(२) उपेक्षा

(३) असमर्थता

अभाव—विद्यालय में अच्छे पर्यावरण का अभाव रहता है। इसमें अच्छे भवन, रोशनी, रोशनदान, खेल सामग्री, पुस्तकालय आदि की पूर्ति नहीं होती है। अधिकांश भारत के विद्यालयों में प्राचीन शिक्षण पद्धति को अपनाया गया है, जिसमें बालकों की रुचि, प्रवृत्ति और भावना को कोई स्थान नहीं दिया जाता है। दूसरी ओर भारत में पाश्चात्य देशों की भाँति मान्टेसरी, किन्डरगार्टन आदि पद्धतियों का अनुकरण हो रहा है। पाश्चात्य देशों की भांति बालकों को खेल द्वारा या खेल की रुचिपूर्ण प्रवृत्ति के आधार पर शिक्षा नहीं दी जाती। भारतीय विद्यालयों में यह अभाव अति दोषपूर्ण है। खेल के अतिरिक्त विद्यार्थियों को पाठ्यपुस्तकों के पढ़ने से अपना सारा शिक्षण समाप्त करना पड़ता है। उन्हें किसी अन्य भांति की या जनरल पुस्तकों से कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है। यहां तक कि भारतीय विद्यालयों में रचनात्मक तथा सृजनात्मक क्रियाओं का अभाव रहता है। फलतः बालकों की तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ शान्त नहीं होतीं और वे भविष्य में जीवकोपार्जन में अयोग्य सिद्ध होते हैं। सबसे प्रमुख दोष यह है कि भारतीय विद्यालयों में प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव है, जिससे शिक्षा की प्रक्रिया अव्यवस्थित तथा अमनोवैज्ञानिक बनी रहती है।

उपेक्षा—वर्तमान शासन प्रणाली द्वारा विद्यालयों का पाठ्यक्रम राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा निर्धारित होता है। इनमें बालकों की रुचि, स्थानीय दशाओं आदि का कोई स्थान नहीं रखा जाता और उनको निर्धारित भी इसकी उपेक्षा करके किया जाता है। अध्यापकों को स्थानीय समस्याओं के आधार पर पाठ्यक्रम में कोई परिवर्तन या परिवर्द्धन करने का अधिकार नहीं है, अतः पाठ्यक्रमों में स्थायीपन का दोष पाया जाता है। भारतीय विद्यालयों में प्रत्येक बालक के साथ एक सा व्यवहार किया जाता है। उनकी व्यक्तिगत रुचि, प्रवृत्ति, बुद्धि आदि की पूर्ण उपेक्षा की जाती है। आधुनिक शिक्षा के लिए यह एक महान् दोष है। बालकों में जन्म से ही जिज्ञासा की प्रवृत्ति निहित रहती है। इस कारण वह हमेशा नई वस्तु का पूर्ण बोध करने का प्रयास करते हैं। हमारे विद्यालयों में इस ओर कोई भी ध्यान न देकर बालकों की उपेक्षा की जाती है।

असमर्थता—भारतीय विद्यालय सामाजिक प्रगति के उत्तरदायित्व को उठाने में पूर्णरूपेण असफल रहे हैं। मुख्यतया इसके दो ही कारण हैं : सर्वप्रथम हमारे भारतीय विद्यालय समाज के लघु रूप न होकर एक कृत्रिम आकार धारण किये रहते

हैं। दूसरे विद्यालयों में सामाजिक समस्याओं को हल करने तथा सामाजिक प्रगति को गतिवान करने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिए भारतीय सरकार ने अनेकों भाँति से प्रयास किये हैं। आशा है कि भविष्य में सफलता प्राप्त होगी। यहाँ हम सन् १९६५ के सरकारी तथा गैर सरकारी विद्यालयों की अवस्था की तालिका दे रहे हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विद्यालयों का वर्तमान रूप क्या है?

Number of Institutions and Enrolment in Institutions in Urban Areas as on 31-3-1965

Type of Institutions	No. of Institutions	Enrolment Boys	Enrolment Girls
Universities/Deemedas Universities/Instt. of National Importance/Research Institutions	106	1,10,812	28,106
Colleges for General Education	1,308	6,70,123	2,12,682
,, ,, Professional Education	2,044	4,05,998	66,971
,, ,, Other Education	489	42,209	5,387
High/Higher Secondary Schools	10,332	42,38,746	21,10,199
Middle Schools	12,828	25,70,759	20,49,140
Primary Schools	32,090	40,25,197	28,57,785
Pre Primary Schools	2,234	88,395	67,919
Schools for Vocational/Prof. Education	2,686	1,61,686	86,644
Schools for Special Educations	236	15,434	4,740
Schools for Other Educations	69,224	3,78,506	3,03,025
Total	1,33,576	1,27,07,865	77,83,598

Number of Institutions and Enrolment in Institutions in Rural Areas as on 31-3-1965

Type of Institutions	No. of Institutions	Enrolment Boys	Enrolment Girls
Universities/Deemed as Universities/Instt. of National Importance/Research Institutions	6	1,891	1,082
Colleges for General Education	230	73,962	18,310
,, ,, Professional Education	409	56,056	8,792
,, ,, Other Education	726	37,480	1,884
High/Higher Secondary Schools	14,919	40,39,401	9,44,312

Middle Schools	59,312	78,06,888	33,17,020
Primary Schools	3,52,603	1,92,94,639	95,96,300
Pre-Primary Schools	1,049	25,042	25,005
Schools for Vecational/Pro. Education	616	40,097	8,719
Schools for special Education	23	1,199	421
Schools for other Education	1,89,889	10,42,740	6,01,583
Total	6,19,782	3,24,17,395	1,45,23,428

प्रश्न २६—विद्यालय को शिक्षा का प्रभावशाली साधन बनाने के लिए कौन-कौन सी विधियाँ प्रयोग की जा सकती है ?

भूमिका—शिक्षा को प्रभावशाली बनाने के लिए विद्यार्थी, शिक्षक तथा अभिभावक तीनों के मध्य पारस्परिक सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता है। विद्यार्थियों के परिवार के साथ विद्यालय का सम्पर्क क्या हो ? इसके लिए श्री विनोबा भावे का कथन है कि—"विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्बल हो जाते हैं और जीवन विचारशून्य हो जाता है। बालक परिवार के साथ घर की चहारदीवार में जीवित रहता है परन्तु विद्यालय में विचार सीखने के कारण ही उसके जीवन और विचारों का समन्वय नहीं हो पाता है। फलतः एक ऐसा उपाय किया जाय कि घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर मदरसे का घर में।" अतः परिवार और विद्यालय अर्थात् शिक्षालय में सहयोग स्थापित करने के लिए निम्न उपाय किये जा सकते हैं :

(१) शिशु शिक्षा,
(२) शारीरिक विकास में सहयोग,
(३) अध्यापक-अभिभावक सहयोग,
(४) प्रबन्धक समिति,
(५) विद्यार्थियों की कार्य-रिपोर्ट।

शिशु शिक्षा—अनेकों बड़े-बड़े शहरों में कुछ परिवारों के बच्चों को अल्प आयु से ही नर्सरी स्कूल में प्रवेश करा दिया जाता है। वहाँ अधिकांश अध्यापिकाएँ शिशुओं को उनके माता-पिता के सदृश ही व्यवहार करती हैं। वे उनकी सेवा करती हैं तथा उनका संरक्षण भी करती हैं। यहाँ तक कि शिशुओं के माता-पिता को उनकी शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श भी देती हैं।

शारीरिक विकास में सहयोग—शिक्षालय की अध्यापिकायें अथवा अध्यापक वर्ग विद्यार्थियों को स्वस्थ बनाये रखने के लिए अभिभावकों अथवा माता-पिता को पौष्टिक पदार्थ खिलाने का परामर्श देते हैं। क्योंकि गृह और शिक्षा केन्द्र के सम्बन्धों में सहयोग बनाये रखना है। इस भाँति के सहयोगों द्वारा ही शारीरिक विकास सम्भव है।

अध्यापक-अभिभावक सहयोग—पारस्परिक सहयोग बनाने के लिए यह अति आवश्यक है कि किसी अवसर पर अभिभावकों को शिक्षा केन्द्र में आमन्त्रित किया जाय ताकि वे वहाँ के नियमों और शिक्षा की प्रगति का बोध कर सकें तथा शिक्षा-केन्द्र की कमियों की ओर अध्यापक वर्ग को इंगित किया जा सके और अध्यापक भी विद्यार्थी के अभिभावक से उसके विकास आदि के लिए उनका सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। यह विधि विद्यार्थी के लिए अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त यह भी उतना ही आवश्यक है कि अध्यापक विद्यार्थी के घर जायें और उनके माता-पिता या अभिभावक से सहयोग प्राप्त करने की दिशा में आदेश प्राप्त करते रहें।

उपरोक्त सहयोग को स्थिर रखने के लिए एक अध्यापक-अभिभावक संघ की स्थापना कर लेना उत्तम है। इस भाँति पारस्परिक परिचय भी मिल जाता है और विचार-विमर्श में किसी भाँति का संकोच नहीं होता। संघ के माध्यम से विद्यार्थी की शिक्षा को लाभ ही प्राप्त होता है।

प्रबन्धक समिति—अध्यापक-अभिभावक संघ की स्थापना हो जाने पर उनके सहयोग का प्रभाव शिक्षालय की प्रबन्धकारिणी पर भी पड़ता है। अतः यह आवश्यक है कि अभिभावकों की ओर से कोई प्रतिनिधि उस प्रबन्धकारिणी का सदस्य हो। प्रतिनिधि का कर्त्तव्य है कि शिक्षालय के कार्यों की रिपोर्ट अन्य अभिभावकों या माता-पिता को दे और उनके परामर्श वहाँ की प्रबन्ध समिति को प्रस्तुत करे। अन्य भाँति-भाँति के सहयोगों के अतिरिक्त आवश्यकता के अवसर पर आर्थिक सहयोग भी प्राप्त हो सकता है।

विद्यार्थियों की कार्य रिपोर्ट—अध्यापक वर्ग का आवश्यक कार्य है कि वह अपने विद्यार्थी के कार्यों तथा प्रगति की रिपोर्ट अभिभावक अथवा माता-पिता को समय-समय पर देते रहें। इस रिपोर्ट में मुख्यतया विद्यार्थी के शारीरिक, मानसिक, नैतिक व सामाजिक कार्यों व प्रगति का उल्लेख रहता है। साथ ही अन्य शिक्षा सम्बन्धी परिक्षाओं आदि का विवरण भी देना आवश्यक है। इसी भाँति इस रिपोर्ट के उत्तर में अभिभावक अपना स्वीकृत या परामर्श सम्बन्धी मत प्रस्तुत करें।

कभी-कभी शिक्षा केन्द्र के अतिरिक्त पाठान्तर क्रियाओं का भी होना आवश्यक है। इसमें अध्यापक वर्ग, अभिभावक और कार्य समिति तीनों का पारस्परिक सहयोग होना आवश्यक है। अध्यापक वर्ग प्रोत्साहन दे और अभिभावक उसमें तन-मन-धन से सहयोग प्रदान करें तथा प्रबन्धक समिति पूर्ण रूप से प्रबन्ध करे ताकि पाठान्तर क्रिया सरलतापूर्वक सफल हो सके।

उपरोक्त विषय को सफल बनाने के लिये वार्षिक या वर्ष में दो-तीन बार अध्यापक वर्ग, अभिभावक तथा कार्यकारिणी के सदस्यों का एक सम्मेलन होना आवश्यक है। यदि ऐसा न हो सकेगा तो एक न एक ओर से कमी बनी रहेगी और

शिक्षा का प्रभाव कम हो जायगा। प्रभाव को प्रगति की ओर अग्रसर करने के लिए यह सम्मेलन भी अति आवश्यक है।

विद्यालय को शिक्षा का प्रभावशाली साधन बनाने के लिए विद्यालयों का सामाजिक जीवन में सम्पर्क होना अनिवार्य हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि हमारे देश के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर जब वास्तविक जीवन में पदार्पण करते हैं तो उन्हें अनेकों समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन सम्बन्ध में शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी का कथन सत्य है—

"School should be true reparesentative of the society."

"विद्यालय को समाज का उचित प्रतिनिधि होना चाहिये।"

अत: सामाजिक सम्पर्क स्थापित करना प्रमुख लक्ष्य होना आवश्यक है। सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के निम्न उपायों को काम में लाना चाहिए :

(१) **सम्बन्धित विषयों का अध्यापन**—समाज की आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान करने के लिए विद्यार्थियों को नागरिकशास्त्र, इतिहास, समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के अध्ययन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इनके अध्ययन करने से ज्ञान वृद्धि तो होती ही है साथ ही जीवव में सफलता भी सुगमता से मिल जाती है।

(२) **समाज कल्याण कार्य में रुचि लेना**—विद्यालय में समाज की भलाई के लिए विभिन्न भाँति के सामाजिक कार्यों में काम करने की रुचि उत्पन्न करनी चाहिए। उन्हें समय-कुसमय कार्य करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। उनमें समाज सेवा के आदर्श और प्रोत्साहन को पूर्णरूपेण निभाने की क्षमता प्रदान करनी चाहिए।

(३) **प्रौढ़ शिक्षा**—विद्यालयों को ग्रामीण व शहरी क्षेत्र में प्रौढ़ शिक्षा भी देनी चाहिए। देश की निरक्षरता तो इस भाँति दूर होगी ही, साथ ही विद्यालय के सम्पर्क में आने वाले प्रौढ़ व्यक्ति विद्यालय की प्रगति की कामना करेंगे तथा उसमें अपना-अपना सहयोग भी प्रदान करेंगे।

(४) **समाज के सदस्यों को आमन्त्रित करना**—विद्यालयों द्वारा विभिन्न कार्यों की जानकारी रखने वाले समाज के सदस्यों को समय-समय पर आमन्त्रित करना चाहिए। ये सदस्य अपने ज्ञान बल के द्वारा अपने-अपने व्यवसायों से सम्बन्धित ज्ञान विद्यार्थियों को दें और व्यवसाय में समाज का स्तर स्थिर करें उनकी कठिनाइयों और समस्याओं की रूपरेखा विद्यार्थियों के सम्मुख प्रस्तुत करें। व्यवसाय की अच्छाइयों का भी उल्लेख उतना ही आवश्यक है। इस नियम से विद्यार्थियों में समाज का मान बढ़ेगा।

(५) **लोक-कल्याण संघों का निर्माण**—समाज में रोग का उत्पन्न होना, शहर में बाढ़ आना, उत्सवों एवं जलूसों के अवसर पर प्रबन्ध करना आदि समितियों का निर्माण करना विद्यालयों का ही कार्य है। यह संघ जनहित में कार्य कर जनता का अधिक हित कर सकते हैं।

(६) सर्वेक्षण क्लबों का संगठन—विद्यालयों को सामाजिक सर्वेक्षण करके विद्यार्थियों को संगठित करना चाहिए। इस सर्वेक्षण में स्थानीय समस्याओं और आवश्यकताओं का अध्ययन करके अपने-अपने क्षेत्रों में सड़कों, पार्कों, पेय जल आदि की समस्याओं का निराकरण करें। सार्वजनिक मनोरंजन के स्थल, नलों और कुओं की उचित व्यवस्था करें। विद्यार्थी अध्ययन के पश्चात् अपनी रिपोर्ट विद्यालयों को प्रस्तुत करें। विद्यालय रिपोर्टों का अध्ययन करने के बाद उसमें संशोधन एवं परिवर्तन आदि करके स्थानीय नगरपालिका को भेजें। इस विधि से समस्याओं का हल तो होगा ही साथ ही विद्यार्थियों को अपने जीवन में उन्नति करने का प्रोत्साहन भी प्राप्त होगा।

आज जिस व्यवस्था को प्रत्येक राज्यों ने अपना लक्ष्य बनाया हुआ है उसके सम्बन्ध में १८वीं शताब्दी में नैपोलियन ने कहा था :

"Public institution should be the first object of Government."

"जन-शिक्षा सरकार का प्रथम कार्य होना चाहिए।"

स्वतन्त्र भारत की नवीन सरकार ने जन-शिक्षा का कार्य भार तो वहन किया है परन्तु वह जन-शिक्षा की व्यवस्था उचित रूप से नहीं कर पा रही है। अभी भी ऐसे अनेकों विद्यालय हैं जिनका संचालन पूंजीपतियों, धार्मिक संस्थाओं, राजनैतिक नेताओं या पार्टियों, जातीय-वर्गों आदि के आधार पर होता है। अतः यह सरकार का प्रमुख कार्य है कि वह समस्त विद्यालयों का भार अपने ऊपर ले और शिक्षा की योजनाओं को सफल बनाये। योजनाओं को सफल बनाने के लिए निम्न उपाय सहायक हो सकते हैं :

(१) श्रेष्ठ विद्यालयों का निर्माण,
(२) आर्थिक समस्या की पूर्ति,
(३) योग्य शिक्षकों की नियुक्ति,
(४) विद्यालयों का पुनर्गठन और
(५) विद्यालयों का निरीक्षण एवं नियन्त्रण।

(१) विद्यालयों का निर्माण—सरकार का कर्तव्य है कि विद्यालयों का निर्माण स्वयं उचित रूप से करे। श्रेष्ठ एवं उचित विद्यालय ही देश की शिक्षा के लिए सफल उद्देश्यों की पूर्ति करने में सहायक हो सकते हैं। यदि विद्यालय द्वारा उद्देश्यों का प्रचार एवं प्रसार समुचित नहीं होता तो सरकारें भी जन-कल्याण की भावना को पूर्ण रूप से समन्वित नहीं कर सकती हैं।

(२) आर्थिक समस्या की पूर्ति—भारतीय नवीन सरकार सदैव धन के अभाव का कारण दिखाकर बजट में शिक्षा पर कम व्यय दिखाती है। वह तो अन्य अनेकों योजनाओं पर करोड़ों रुपये व्यय करती है। वह भी खजाने के वास्तविक धन से नहीं बल्कि कर्ज लेकर खर्च करती है। परन्तु सरकार को वास्तविक रूप से समझ लेना

चाहिए कि शिक्षा पर समुचित व्यय करें, क्योंकि अन्य योजनाएँ भी तभी पूर्णरूप से सफल हो सकती हैं जबकि शिक्षा का रूप नागरिकों में सही-सही आँका जाये। अतः सरकार देश का कल्याण चाहती है तो शिक्षा पर निःसंकोच व्यय करना चाहिए।

(३) योग्य शिक्षकों की नियुक्ति—शिक्षा का उद्देश्य तभी सफल होता है जबकि विद्यालयों में योग्य शिक्षक उपलब्ध हों। यदि अध्यापन कार्य योग्य शिक्षकों द्वारा सम्पन्न नहीं होगा तो विद्यार्थियों को समुचित ज्ञान लाभ नहीं होगा और वह अपने जीवन में कभी सफल नागरिक नहीं बन सकेंगे। आदर्श नागरिकों के अभाव में देश का अहित निश्चित है। दूसरे विद्यालयों को योग्य शिक्षक भी यथोचित वेतन मिलने पर ही प्राप्त हो सकते हैं। अतः सरकार का परम कर्तव्य होना चाहिए कि शिक्षकों का वेतन मात्र सही और सुविधापूर्ण निश्चित किया जाय और उसकी समुचित व्यवस्था हो।

(४) विद्यालयों का पुनर्गठन—स्वाधीन भारत में भी शिक्षा केन्द्रों में वही पुराना अंग्रेजी शासन का अनुकरण हो रहा है, जबकि प्रशिक्षण के लिए सर्वप्रथम स्वतन्त्र भावना का प्रचार एवं प्रसार करना आवश्यक है। यहाँ यह देखने में आता है भारत सरकार ने इस ओर लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया है। और अन्य विद्यालयों के सदृश ही प्रशिक्षण विद्यालयों के पात्र भी केवल डिग्री प्राप्त करने के उद्देश्य से पढ़ते हैं। फलतः वे वास्तविक ज्ञान से अछूते रहते हैं और शिक्षण-कला से वंचित रहते हैं। इस अवस्था में राज्य या राष्ट्र सरकार का कर्तव्य है कि वह इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए नये-नये अनुसन्धानों की ओर ध्यान दे और विद्यालयों का नवीनी-करण करे।

(५) विद्यालयों का निरीक्षण एवं नियन्त्रण—सरकार का उद्देश्य होना चाहिए कि विद्यालयों के निरीक्षकों की संख्या में वृद्धि की जाय और उन्हें अपने नियम पालन कराने के लिए कड़ाई करने का अधिकार हो। समय-समय पर विद्यालयों का निरीक्षण करें और सम्भावी समस्याओं का समाधान करना आवश्यक माना जाय।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि देश और समाज की अवस्था को उन्नतिशील बनाने के लिए सर्वप्रथम विद्यालय के सुधार आवश्यक हैं। यह प्रशिक्षित अध्यापकों द्वारा ही विज्ञान, कला-कौशल, साहित्य, संगीत, उद्योग, नैतिकता, दर्शन-शास्त्र आदि माध्यमों से ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि समाज में विद्यालय का महत्त्व एक अति श्रेष्ठ है।

अध्याय ७

प्रारम्भिक शिक्षा प्रणाली एवं गृह परिचर्या

(Basic Education & Home Nursing)

प्रश्न ३०—बेसिक शिक्षा प्रणाली का स्वरूप निश्चित करते हुए बेसिक शिक्षा के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र० १९५७, १९६३)

भूमिका—बालकों को पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त जीवकोपार्जन सम्बन्धी जो शिक्षा दी जाती है वह बेसिक शिक्षा है। यदि समाज अथवा राज्य द्वारा बालकों को बेसिक शिक्षा द्वारा शिक्षित किया जाता है तो यह प्रणाली व्यक्तियों की सफलता एवं बेकारी के बीच की दूरी कम करती है। भारत में सर्वप्रथम श्री मोहनदास कर्मचन्द गांधी (M. K. Gandhi) ने जीविकोपार्जन का उद्देश्य शिक्षा में सम्मिलित करने के प्रसंग में कहा था :

"A vocation or vocations are the best medium for the allround development of a boy or a girl, and therefore as far as possible the syllabus should be woven round vocational training."

इस अव्यवस्थित व अनुचित पूर्व प्रचलित प्रणाली को दूर करने के लिए वर्णन किया है :

"Manual training should not consist in producing articles for a school museum or toys, that have no value but should produce marketable articles. He pointed out that the training sought to be given the rough spasmodic activities could be given by exploring particular crafts, which will not only provide proper education for the child, but also make him an efficient craftsman who will produce things of economic value."

उपरोक्त स्वप्न को साकार करने के लिए स्वयं महात्मा गांधी ने देश के सुप्रसिद्ध अनेकों शिक्षाशास्त्रियों को बुलाकर सन् १९३७ में एक शिक्षा योजना का निर्माण किया था। उस आधार बेसिक शिक्षा से सम्बन्धित प्राथमिक शिक्षा प्रणाली की परिभाषा में कहा जा सकता है कि—"वह प्रणाली जिसमें बच्चे को भावी जीवन के

लिए तैयार किया जाता है। किताबी ज्ञान की योजना इस प्रणाली के लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती।"

परिभाषा को दृष्टि में रखते हुए बेसिक शिक्षा प्रणाली के सिद्धान्त भी विभिन्न हैं। आधारभूत सिद्धान्त को निम्न भाँति वर्गीकृत किया जा सकता है :

(१) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा,
(२) शिक्षा की आर्थिक समस्या पूर्ति,
(३) शिक्षा की पाठ्य विधि हस्तकला द्वारा,
(४) अनिवार्य व निःशुल्क शिक्षा, और
(५) अन्य विशेषता।

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा—बालक अपनी प्रादेशिक भाषा या मातृभाषा में सरलता से सीख सकता है। भारत में अनेकों भाषायें हैं। विदेशी भाषा का ज्ञान बालक को कम होता है। उस भाषा में बालक के सीखने में व्यक्तित्व का विकास उचित नहीं होता है और न वह शीघ्रता से सीख सकता है। विशेष बात यह है कि विदेशी भाषा में बालक के मन में हीन भावना पैदा हो जाती है। अपनी संस्कृति और सामाजिक परम्परा को भी विदेशी में नहीं सीखा जा सकता है। गांधीजी ने जो सिद्धान्त निर्धारित किये हैं उनमें मातृभाषा के साथ-साथ अन्य प्रादेशिक भाषाएँ भी सीखने की योजना निर्धारित की गयी है।

शिक्षा की आर्थिक समस्या पूर्ति—भारत एक गरीब, देश है और यहाँ पर जनसंख्या भी इतनी अधिक है कि प्रारम्भिक शिक्षा को पूर्णरूपेण निःशुल्क करने पर करोड़ों रुपयों के खर्च का बजट होता है। इस बजट की रकम को वहन करने के लिए दो रूप अपनाये गये हैं। प्रथम तो बालकों की शिक्षा के साथ कोई ऐसा कार्य करना चाहिए, जिसके उपलक्ष में प्राप्त धन से बालकों को अपनी फीस, पुस्तक आदि का खर्च निकाल लेना चाहिए। दूसरी बात यह कि इस कला के माध्यम से बालक आगे चलकर अपनी जीविका चला सके। अतः निष्कर्ष यह है कि शिक्षा के साथ अर्थ प्राप्त करने के लिए कला, टैकनीकल आदि होना अनिवार्य है जिसका प्रभाव वर्तमान और भविष्य दोनों में ही लाभप्रद होता है।

शिक्षा की पाठ्य विधि हस्त-कला द्वारा—पहले यह निश्चय किया जा चुका है कि आर्थिक पूर्ति के लिए शिक्षा में कला का होना अनिवार्य है। साथ ही यह प्रश्न भी निर्णय कर लेना है कि उस हस्तकला में निम्न गुण होना अनिवार्य है :

(१) हस्तकला उपयोगी हो।
(२) उस हस्तकला के माध्यम से कई विषयों का ज्ञान कराया जा सके।
(३) बालक में अपने हाथ से कार्य करने की क्षमता उत्पन्न हो।
(४) समाज में समानता की भावना का प्रादुर्भाव हो।
(५) हस्तकला का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से हो।

अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा—बालकों को प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य व निःशुल्क मिलनी चाहिए। बालकों की आयु ७ से १४ वर्ष तक होने के कई कारण हैं। इस आयु में बालक प्रारम्भिक एवं माध्यमिक दानों स्तर की शिक्षा प्राप्त कर सकता है। उसकी किशोरावस्था में अच्छे संस्कार पड़ जाना जीवन के लिए लाभप्रद होता है। यह आयु नवीन-नवीन वातें सीखने के लिए उचित होती हैं। हस्तकला आदि सीखकर वह अपने को किसी व्यवसाय के योग्य बना लेता है। आगे की शिक्षा महँगी होने के कारण, यही शिक्षा का स्तर बालक के लिए भविष्य का निर्णय करने का होता है। अतः आदर्श नागरिक बनाने के लिए बालक को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने का प्रयास उत्तम प्रयास है।

अन्य विशेषताएँ—महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त का भी प्रचार किया क्योंकि भारत सदैव अहिंसा व सत्य का पुजारी रहा है। दूसरी बात यह भी विचारणीय रही है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है और अधिकांश जनता गाँवों में रहती है अतः उन्हें ऐसी शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए जो उनके प्रतिदिन के जीवन को अधिक सुखमय बना सके। तीसरी प्रमुख वात यह है कि आदर्श नागरिकता के लिए प्रत्येक नागरिक को आत्मनिर्भर होना आवश्यक है अतः बालकों में अपनी जीविका के लिए दूसरों पर आश्रित न रहने की भावना उत्पन्न करने योग्य शिक्षा प्रदान करनी चाहिए।

सीमांसा—उपरोक्त वेसिक शिक्षा प्रणाली ने आधारभूत सिद्धान्तों पर किताबी ज्ञान की कोई विशेष प्रमुखता नहीं रखी। आदर्श जीवन व्यतीत करने योग्य सभी पहलुओं पर विचार कर महात्मा गांधी ने इन सिद्धान्तों पर जोर दिया और वेसिक शिक्षा प्रणाली का प्रचलन शुरू किया गया। भारत जो अभी स्वतन्त्र हुआ है, उसके बालकों के लिए यह सिद्धान्त अधिक लाभप्रद सिद्ध होंगे ऐसा उनका विचार था। बीस साल गुजर जाने पर हम उन लाभों का आभास मिल गया। यह वास्तव में उचित ही थे।

प्रश्न ३१—बेसिक शिक्षा के कौन-कौन से गुण व दोष हैं ? बेसिक शिक्षा पद्धति के उद्‌देश्यों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

भूमिका—प्रश्न ३० में जिन आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया है उनको दृष्टिकोण में रखते हुये वेसिक शिक्षा प्रणाली के गुण निम्न हैं :

गुण—१. शिक्षा सिद्धान्त के अनुसार यह पद्धति अत्यन्त ही श्रेष्ठ है। इसके अन्तर्गत बालक दैनिक जीवन की कार्य प्रणाली सीखता है, वह जो कुछ सीखता है वह स्वाभाविक और सरल होता है। सरलता का प्रमुख कारण उसकी मातृ भाषा में ज्ञान प्राप्त होना है। बालक का विकास शीघ्र होता है।

२. शिक्षा सिद्धान्तों के अनुसार बालक जो कुछ सीखता है वह क्रियात्मक रूप से सीखता है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से करके सीखने की भावना के

साथ उसका मानसिक विकास होता है। बालक की कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों ही का पूरा-पूरा उपयोग होता है और मानसिक एवं शारीरिक दोनों भाँति की शिक्षा प्राप्त हो जाती है। मुख्यतया हस्तकला से बेसिक शिक्षा प्रणाली में बल मिलता है। बालक किताबी ज्ञान के भार से छूट जाता है।

३. बेसिक शिक्षा प्रणाली का सामाजिक स्वरूप भी लाभप्रद है। इसके अन्तर्गत गरीब-अमीर का भेद त्याग कर बालक एक साथ पढ़ते हैं तो बड़े-छोटे का भेद दूर हो जाता है और गाँवों व शहरों की दूरी कम हो जाती है। समाज के समस्त वर्गों के बालकों में परस्पर सहयोग की भावना का उदय होता है, फलतः वर्ग संघर्ष नष्ट हो जाता है। मानसिक व शारीरिक कार्यों की विभिन्नता दूर होती है, उचित सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सम्पूर्ण देश एकता की इकाई के एक सूत्र में बांध जाता है।

४. कई विषयों का एक साथ समन्वय होने के कारण बालक एक कला के सीखने के समय विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। जैसे किसी कला के साथ गणित और विज्ञान का सम्बन्ध उसे गणित और विज्ञान का ज्ञान भी कर देता है और बालक प्रयोगात्मक रूप से उस कला में पूर्ण विकास प्राप्त करता है।

५. जब यह शिक्षा सस्ती और सुलभ होती है तो भारतवर्ष में जो एक कृषि प्रधान देश है ग्रामोद्धार अवश्यमेव होने की आशा है। फलतः देश की उन्नति होगी।

६. बालक की उत्पादन बढ़ाने की योग्यता बढ़ जाती है, फलस्वरूप देश की कृषि व उद्योग की उन्नति होती है। दूसरे बालक का समाज व शिक्षालय दोनों से अच्छा सम्बन्ध बन जाता है।

७. बेसिक शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत जो सामूहिक कार्यों का सिद्धान्त है उससे बालकों में पारस्परिक सहयोग, सहकारिता एवं सहानुभूति उत्पन्न होती है। बालक एक आदर्श नागरिक बनता है। उसका प्रत्येक क्षेत्र में विकास सम्भव हो जाता है। शरीर, हृदय और बुद्धि में परस्पर सम्बन्ध होता है। दैनिक जीवन में एक अभूतपूर्व सामञ्जस्य उपस्थित होता है। जीवन सुखमय बन जाता है।

दोष—बेसिक शिक्षा प्रणाली के प्रतिपादित होने से समाज में या इस प्रणाली में अनेकों दोष भी पाये जाते हैं। किसी-किसी दोष का स्वरूप तो इतना भयंकर है कि देश को भी नष्ट करने की क्षमता उसमें छिपी है। यह दोष निम्न हैं—

१. सर्वप्रथम बेसिक शिक्षा प्रणाली में धार्मिकता तो लेशमात्र भी नहीं है।

२. दूसरे बालकों के स्वास्थ्य के विषय में बेसिक शिक्षा प्रणाली कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखती है।

३. बालक शिक्षालय में जो कार्य करते हैं उनसे प्राप्त अर्थ द्वारा ही शिक्षालय एवं शिक्षकों की अर्थ समस्या हल होती है। अर्थात् बालक जो कार्य करता है

वह फीस के रूप हैं। फलस्वरूप शिक्षक बालकों को प्रयोगात्मक कार्यों में लगाये रहते हैं। इस भाँति शिक्षालय लघु उद्योग या लघु फैक्टरी बन जाते हैं। यह विषय भी बेसिक शिक्षा प्रणाली के लिए अहितकर है।

(४) शिक्षक बालकों को विशेष उत्पादन कराने के लिए अल्पायु में ही श्रेष्ठ दस्तकार बनाने का प्रयास करते हैं, इससे उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। फलस्वरूप शिक्षक को इतना अवकाश नहीं मिल पाता कि वह बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करे, इस भाँति बालक एक मजदूर बनकर ही रह जाता है।

(५) बेसिक शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत एक विषय को मुख्य मानकर पढ़ाया जाता है और अन्य विषय से उसका उचित समन्वय ही नहीं होता। फलतः बालकों को किसी भी भाँति का क्रमिक ज्ञान नहीं होता है। दूसरी प्रमुख बात यह है कि बालक कारीगर न होने के कारण हस्तकला पर अधिक समय नहीं दे पाता फिर भी उससे काम लिया जाता है जो अनुचित है। बालक से विशेष वस्तु पर असन्तुलित रूप से ध्यान दिया जाता है और शिक्षालय का वातावरण कृत्रिम बन जाता है: फलस्वरूप बालक अबोध रह जाता है, उसे उच्च शिक्षा का ज्ञान प्राप्त करने या दैनिक कार्यों में पूर्ण सफलता नहीं मिल पाती है।

(६) सिद्धान्ततः बेसिक शिक्षा प्रणाली हस्तकला प्रधान है न कि बालक प्रधान। हस्तकला का महत्त्व है बालक का नहीं। बालक हस्तकला के लिए कार्य करता है। इस भाँति कुछ समय पश्चात् यह अनुमान किया जाता है कि बेसिक शिक्षा प्रणाली से दस्तकार-जुलाहे, बढ़ई, लुहार, चमार आदि की संख्या-वृद्धि होगी और मानव का उद्देश्य पूरा नहीं होगा।

(७) बालकों द्वारा हाथ की बनी वस्तुओं की बिक्री करना असम्भव हो जाता है क्योंकि बाजार में यन्त्रों से निर्मित वस्तुएँ सस्ती और अच्छी मिल जाती हैं। यदि तुलना में कम मूल्य पर बेचा जाय तो कच्चे सामान का मूल्य भी प्राप्त नहीं हो पाता है और शिक्षालय की आर्थिक पूर्ति होना कठिन हो जाता है।

(८) यन्त्रों द्वारा मनुष्य को श्रम कम करना पड़ता है। वस्तु सस्ती और अच्छी मिलती है। जल्दी तैयार हो जाने से मनोरंजन को अवकाश मिल जाता है। नये-नये आविष्कारों को प्रोत्साहन मिलता है। वैज्ञानिक युग का उत्थान होता है जबकि बेसिक शिक्षा प्रणाली द्वारा दो शताब्दी पूर्व का चित्र बनाया जाता है।

मीमांसा—जहाँ बेसिक शिक्षा प्रणाली लाभदायक है वहीं भारत जैसे गरीब एवं कृषि प्रधान देश में यह शिक्षा प्रणाली अत्यन्त अलाभकर भी है। महात्मा गाँधी ने लाभ की दृष्टि से इसका प्रचार किया था परन्तु अब समय बदल गया है। इससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है। फिर भी बेसिक शिक्षा का उद्देश्य हस्तकला के माध्यम से देश, समाज तथा व्यक्ति का हित करना है।

प्रश्न ३२—बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम तथा समय विभाग चक्र का स्पष्ट विवरण दीजिए।

भूमिका—प्रश्न ३० के मूल सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए यह निश्चय करना आवश्यक है कि बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम क्या होना चाहिए तथा उसकी विधि क्या हो। अतः यहाँ पाठ्यक्रम का वर्णन करते हैं।

हस्तकला—मुख्य अथवा केन्द्रित विषय बेसिक शिक्षा का प्रधान विषय है। इस विषय के अन्तर्गत कताई, बुनाई, कृषि, बढ़ईगीरी, फलोद्यान, चर्मकला, मिट्टी के बर्तन व खिलौने बनाना, मत्स्यपालन आदि आते हैं। इसके पढ़ाने के लिए यह विचारणीय है कि स्थानीय वातावरण, भौगोलिक एवं सामाजिक अवस्थाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

बेसिक शिक्षा के उद्देश्य—स्वाभाविक क्रियाशीलता को उद्देश्यपूर्ण बनाने की कल्पना पर आधारित बेसिक शिक्षा का उद्देश्य देश के प्रत्येक नागरिक की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है और उसका सर्वांगीण विकास करना है। श्री रामचन्द्रम (Ramchandram) के मतानुसार :

"The point to bear in mind is that the children should be encouraged to take up a variety of useful activities, which will give them the joy of discovery and joy of learning."

अर्थात्—"हमें यह विचार अपने मस्तिष्क में रखना चाहिए कि बालक में पूर्ण विकास के लिए उसे विभिन्न रचनात्मक प्रवृत्तियों को कार्य रूप में परिवर्तित करने का अवसर होना चाहिए जिससे उसे अन्वेषण की प्रसन्नता तथा ज्ञान को सीखने की खुशी प्राप्त हो।"

प्रो० हुमायूँ कबीर (Humayun Kabir) के मतानुसार :

"I hold that the child's development of the mind and the soul is possible in such a system of education only when every handy craft has to be taught not merely mechanically as is seen to day, but scientifically,

अर्थात्—"बेसिक उद्देश्य बालक के मानसिक एवं आत्मिक विकास की सम्भावनायें प्रस्तुत करना है। इस विद्या के अन्तर्गत जिस उद्देश्य पर बल दिया जाता है उसका लक्ष्य केवल एक मात्र यांत्रिकता का ज्ञान करना ही नहीं बल्कि प्रक्रिया का वैज्ञानिक अध्ययन करना है।"

पं० जवाहरलाल नेहरू (Pt. Jawaharlal Nehru) के मतानुसार :

"Means a social revolution in our ways of life which is creeping gradually but over the vast land of India."

अर्थात्—"बेसिक शिक्षा सामाजिक क्रांति है जो जीवन में परिवर्तन लायेगी।

वह अपने आप ही शान्ति से विकसित होती जा रही है और शीघ्र ही भारत भूमि में फैल जायगी।"

मातृ भाषा—बालक जिस प्रदेश का निवासी हो उसी प्रदेशीय भाषा में शिक्षा देना सरल होता है और बालक भी सुगमता से ग्रहण कर लेता है। दूसरे शिक्षा ज्ञान अर्थात् अक्षर बोध होना अनिवार्य है।

अंकगणित—छोटे-छोटे हिसाब तथा अपना दैनिक आय-व्यय का विवरण रखना प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक है। अतः बेसिक शिक्षा प्रणाली में अंकगणित का विषय भी अनिवार्य ही है।

सामाजिक विषय—इतिहास, भूगोल तथा नागारिकशास्त्र।

सामान्य विज्ञान—रसायन विज्ञान, पशु विद्या, शरीर विज्ञान, वनस्पति विज्ञान।

स्वास्थ्य विज्ञान—बालक के लिये अपने स्वास्थ्य के लिए प्रारम्भिक चिकित्सा आदि का ज्ञान अनिवार्य होना चाहिए।

संगीत—कार्यरत रहने वाले नागरिक को कुछ अवकाश के क्षणों में मनोरंजन भी आवश्यक होता है, इसलिए संगीत की शिक्षा का भी ज्ञान दिया जाता है।

चित्रकला तथा ड्राइंग—लकड़ी, कताई और मिट्टी की कला के लिए चित्रकला और ड्राइंग का विषय सीखना भी आवश्यक होता है।

भारतीय पद्धति के अनुसार यह नियम है कि बालक और बालिकाओं को अलग-अलग पढ़ाया जाय। परन्तु बेसिक शिक्षा प्रणाली में प्रारम्भिक शिक्षा में सह-शिक्षा की व्यवस्था ५वीं कक्षा तक की गयी है और छटी और सातवीं कक्षा में बालिकाओं के लिये गृह विज्ञान पढ़ाने का आयोजन किया गया है।

बेसिक शिक्षा का समय-विभाजन—शिक्षकों द्वारा विषय के अनुसार बालकों को प्रत्येक विषय की शिक्षा देनी चाहिए। सुविधा के लिए यहाँ प्रत्येक विषय के लिए अनुमानानुसार समय दिया गया है:

हस्तकला (प्रमुख विषय)	३½ घण्टे
मातृभाषा (अनिवार्य विषय)	४० मिनट
अंकगणित (अनिवार्य विषय)	४० मिनट
सामाजिक विषय अथवा साधारण विज्ञान	२० मिनट
शारीरिक शिक्षा अथवा स्वास्थ्य विज्ञान	१० मिनट
मनोरंजन आदि	१० मिनट

बेसिक शिक्षा के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों को निम्न पद्धति से प्रयोग करना चाहिए:

(१) बेसिक शिक्षा का प्रारम्भ गाँवों से किया जाय।

(२) बेसिक शिक्षा द्वारा कताई, बुनाई, बढ़ईगीरी, कृषि आदि उद्योग सिखाये जायें, जिससे बालक रचनात्मक कार्य करें।

(३) बेसिक शिक्षा से समन्वय प्रणाली का प्रयोग कर प्राकृतिक व सामाजिक वातावरण का बालक के जीवन में प्रयोग लाना है।

(४) बेसिक शिक्षा स्वावलम्बी होती है।

(५) बेसिक शिक्षा प्रारम्भिक शिक्षा से विश्वविद्यालय की शिक्षा तक की व्यवस्था का अपने में समावेश करती है।

(६) बेसिक शिक्षालय बालकों के लिए एक लघु समाज के समान हैं जिसमें बालक सामुदायिक जीवन बिताने के योग्य होते हैं।

मीमांसा—बेसिक शिक्षा अपने आपमें यदि दोषयुक्त है तो गाँधीजी का कथन था कि उसे दोषमुक्त किया जाय और अच्छी तरह कार्यान्वित किया जाय। फलतः प्रत्येक व्यक्ति, देश व समाज का वास्तविक हित इसी में निहित है

प्रश्न ३३—एक गृह परिचारिका के गुणों और सुश्रुषाकारी के कर्त्तव्यों का उल्लेख कीजिए तथा उनके कार्यों पर प्रकाश डालिए।

भूमिका—बेसिक शिक्षा प्रणाली में बालिकाओं को छटीं व सातवीं कक्षा में परिचारिका के गुण और सुश्रुषाकारी के कर्तव्य का ज्ञान कराया जाता है। यदि बालिकाओं को यह बातें नहीं पढ़ाई जायें तो भविष्य में वह अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन करने में असमर्थ रहती हैं और सामाजिक कलह दिन-प्रतिदिन बना रहेगा जो देश व राष्ट्र के लिए भी हानिकारक है। अतः परिचारिका में निम्न गुणों का होना आवश्यक है :

(१) परिचारिका को फुर्तीला होना आवश्यक है। तीमारदारी करते समय बीमार को बार-बार अनेकों भाँति की आवश्यकताएँ होती रहती हैं और दवा व सेवा का समय नियत रहता है जिसके लिय आलस्य अत्यन्त हानिकारक है। यदि फुर्ती का अभाव रहे तो सेवा में अवश्य अवहेलना होगी और बीमार व्यक्ति असन्तुष्ट रहेगा। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जायेगा।

(२) परिचारिका को धैर्य से कार्य करना चाहिए। बीमार का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। उसे क्रोध भी कभी-कभी आता है। यदि परिचारिका धैर्य से काम न ले तो बीमार को अवश्य हानि होगी।

(३) परिचारिका को मधुरभाषी होना चाहिए। प्रसन्न और सहानुभूतिपूर्ण बातों से बीमार का हृदय प्रसन्न हो जाता है। इसके विपरीत परिचारिका का चिड़चिड़ा स्वभाव बीमार की बीमारी को घटाने की अपेक्षा बढ़ा देता है।

(४) परिचारिका को स्वयं निरोग होना चाहिए। यदि उसका स्वास्थ्य ठीक होगा तभी वह सेवा में संलग्न रह सकती है। जबकि वह स्वयं अस्वस्थ और रोगी है तो बीमार की सेवा किस रूप में कर सकती है।

(५) पारिचारिका को स्वयं पढ़ी-लिखी और होशियार होना चाहिए। डाक्टरों की भाषा व उनकी बतलाई हुई सावधानियों को वर्तने की क्षमता होना अनिवार्य है अन्यथा बीमार को बचाना असम्भव भी हो जाता है। परिचारिका की

जरा सी असावधानी बीमार की मौत का कारण बन सकती है। उसे प्राथमिक शिक्षा, प्रारम्भिक चिकित्सा आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। कारण स्पष्ट है कि रोगी का ताप, नाड़ी, दवा की पहिचान, विषक्रामक पदार्थों का उचित प्रयोग उसे ही करना होता है।

(६) परिचारिका में सेवा का उत्साह हो। उसे निद्रा और नशीली चीजों के सेवन की आदत न हो। उसके जीवन में सदाचार और उच्च विचार का नियम हो।

मीमांसा—उपरोक्त गुणों से स्पष्ट होता है कि परिचारिका को सर्व गुण सम्पन्न होना चाहिए। उसमें माँ का स्नेह, मित्र का प्यार, नौकर की भाँति आज्ञाकारिता आदि गुण होना अनिवार्य है। धैर्य और बीमारी से लड़ने की क्षमता होना भी उसके जीवन का लक्ष्यहोना चाहिए। यह सेवा का उत्साह एक सफल परिचारिका का सहायक होता है।

इसी भाँति सुश्रुषाकारी के कर्तव्य निम्न हैं :

(१) परिचारिका का दूसरा रूप सुश्रुषाकारी है जो रोगी को औषधि आदि समय पर देने के लिए होती है। अत: उसका कर्तव्य है कि डाक्टर के समस्त आदेशों का अक्षरश: पालन करे।

(२) कमरे की व्यवस्था को ठीक रखे, बीमार के लिए हवा का उचित प्रवन्ध करे।

(३) रोगी को आराम पाने का ध्यान रखे। आवश्यकतानुसार उसे कर वट दिलाये। सर्दी, गर्मी का वचाव रखे।

(४) छूत की बीमारी को फैलने से रोकने के समस्त कार्यों को पूरा करे। बीमार के मल-मूत्र आदि को फेंकने का प्रवन्ध करे।

(५) बीमार की पट्टी आदि के खुलने पर घावों का धोना, शरीर के मैल को पोंछना, बीमार के नहाने का प्रवन्ध, समय पर पथ्य देना सुश्रुषाकारी के ही कर्तव्य हैं।

(६) बीमार के ताप, नाड़ी, श्वांस, पेशाब, पाखाना, वमन, नींद, औषधि आदि की संख्या का पूरा-पूरा व सही-सही एक चार्ट सा बनाकर प्रतिदिन लिखना चाहिए। सुश्रुषाकारी को यह बातें अपनी याददास्त पर नहीं छोड़ देनी चाहिये।

(७) सुश्रुषाकारी के रूप में गृहस्थ का कर्तव्य है कि रोगी के लिए एक सर्वोत्तम कमरे का चयन करे। यहाँ रोगी के कमरे की विशेषताओं का उल्लेख कर रहे हैं।

रोगी का कमरा—रोगी का कमरा न अधिक गर्म हो न अधिक ठण्डा। कमरे में प्रकाश एवं हवा के आवागमन का विशेष प्रबन्ध हो। कमरे में सूर्य की किरणें सीधी नहीं पड़नी चाहिए। वायु भी बीमार से सीधी नहीं टकरानी चाहिये,

अत: हवादान बड़े और ऊँचे होने चाहिये। कमरे में बीमार के अतिरिक्त फालतू सामान होना असुविधाकर है। सामान कम से कम होना अच्छा है। दवा आलमारी में रखनी चाहिये। खाना-पीना खुली हवादार आलमारी में रखने का प्रबन्ध हो। बीमार के कपड़े सूखे व साफ रखने चाहिए। कमरे का फर्श पक्का हो जिससे धोने में आसानी हो। बीमार का पलंग कसा होना चाहिये।

बर्तन जिनको बीमार स्तैमाल करे चीनी के होने चाहिये जो आसानी से साफ किये जा सकें। कमरा रसोईघर के पास नहीं होना चाहिए। यदि रसोई के पास होगा तो धुआँ बीमार के लिए हानिप्रद होगा। कमरे से दूर मल-मूत्र के फेंकने का प्रबन्ध हो। बीमार को ज्यादा दूर चलना न पड़े इसलिए संडास का प्रबन्ध होना चाहिये।

मीमांसा—सुश्रुषाकारी और परिचारिका के कर्त्तव्य तथा गुणों का उल्लेख पढ़ने के बाद ही उनकी सेवा का ज्ञान होता है उनकी आवश्यकता गुणों से ही पहचानी जाती है। बीमार के लिए ये अत्यन्त ही आवश्यक होती हैं। कमरे का खुला एवं स्वच्छ होना भी बीमार के लिए लाभप्रद होता है। बालकों एवं बालिकाओं को इन बातों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि यह गुण जीवन में उन्हें लाभ ही देते हैं।

प्रश्न ३४—प्राथमिक चिकित्सा से आप क्या समझते हो? प्राथमिक चिकित्सक के क्या कर्तव्य हैं?

भूमिका—मनुष्य के जीवन में किसी समय अकस्मात् कोई घटना हो जाती है जिसमें उसे किसी भाँति की शारीरिक चोट, बुखार या कै, दस्त अथवा किसी जानवर या कीड़े द्वारा काटे जाने से कष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में डाक्टर से सलाह लेना या उपचार कराना आवश्यक होता है। परन्तु डाक्टर के पास पहुँचने अथवा डाक्टर के आने में देरी लगने तक उसका कोई उपचार होना भी आवश्यक है। इसी उपचार को प्राथमिक चिकित्सा कहते हैं।

यदि किसी मनुष्य का खून बह रहा है तो उसे रोकना आवश्यक है। खून न रोकने पर मनुष्य की दशा बिगड़ सकती है, यहाँ तक कि मृत्यु भी सम्भव है। इस भाँति की अवस्था के लिए प्रत्येक मनुष्य को न्यूनाधिक शरीर-विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है। वह व्यक्ति जो इस तरह डाक्टर के आने या उसके पास पहुँचने तक उपचार द्वारा मनुष्य का उपचार करता है या कर सकता है, प्राथमिक चिकित्सक कहलाता है। उसकी यह क्रिया जो उपचार के लिए की जाती है प्राथमिक चिकित्सा कहलाती है।

प्राथमिक चिकित्सक के कर्तव्य—मनुष्य को दुर्घटनाग्रसित व्यक्ति के साथ जो उपचार करने की आवश्यकताएँ हैं उनका वर्णन या उन कर्त्तव्यों के रूपनिम्न भाँति हैं :

सर्वप्रथम दुर्घटना के पश्चात् उपचार करने के लिए धैर्य रखना चाहिए तथा अन्य साथियों या सम्बन्धियों को भी सहानुभूति के साथ धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। यदि अन्य व्यक्ति ही घवड़ा जायेंगे तो दुर्घटनाग्रसित व्यक्ति भी घवड़ा कर चेतनाहीन हो सकता है।

धैर्यपूर्वक कर्त्तव्य का ध्यान रखकर डाक्टर के बुलाने का या डाक्टर के पास ले जाना का प्रवन्ध करना चाहिये। डाक्टर को बुलाते समय उसके आने से पहले ही रोगी का पूर्ण विवरण दे देना चाहिये ताकि उपचार का संभावित सामान और दवाई आदि का प्रबन्ध करके डाक्टर आवे। यदि डाक्टर को रोगी की दशा का पूर्वाभास नहीं होगा तो दुवारा सामान या दवाई लाने में समय व्यर्थ नष्ट होगा और रोगी की अवस्था बिगड़ने की सम्भावना हो सकती है। डाक्टर को दुर्घटना का विवरण देते समय यदि यह ज्ञान हो जाय कि चोट या बीमारी का क्या कारण है और यदि उसे दूर करने का उपाय ज्ञात हो तो उसे दूर कर देना चाहिए। उदाहरणार्थ—काँटा या सुई लग जाने पर उसे निकाल दें या लू लग जाने पर ठण्डे स्थान का प्रवन्ध करें।

दुर्घटनाग्रसित व्यक्ति को सदैव उस मुद्रा में लिटाना चाहिए जिसमें वह सुविधा अनुभव करे। उसे कम से कम कष्ट हो और अधिक से अधिक आराम प्राप्त हो। दुर्घटना का स्थान यदि सार्वजनिक है और वहाँ भीड़ लग गई हो, तो भीड़ को हटाना आवश्यक है ताकि शोर कम हो, कार्य अथवा उपचार करने में सुविधा हो और दुर्घटनाग्रसित व्यक्ति को शुद्ध वायु मिले। यही अनुभव घर पर भी लागू करना चाहिए। शोर करने, शुद्ध वायु के न मिलने और भीड़ इकट्ठी करने पर रोगी को कष्ट अधिक होने की सम्भावना बनी रहती है। भीड़ का प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सलाह देता है और प्राथमिक चिकित्सक अपना कार्य ठीक भाँति से नहीं कर पाता है।

उपचार की दृष्टि से काँटा निकालना, लू लगने पर बर्फ की पट्टी मस्तक पर रखना प्रथम उपचार है। चोट लग जाने के कारण खून बहने लगता है, कमजोरी अनुभव होती है। अतः खून रोकने और चेतना लाने का प्रयत्न करना चाहिए। खून रोकना अत्यन्त आवश्यक है। अधिक खून बह जाने पर मृत्यु हो जाने की सम्भावना है। यदि किसी व्यक्ति ने विषपान कर लिया है तो उसे निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। इन उपचारों के करने से डाक्टर का कार्य सरल हो जाता है और बीमार की दशा भी सुधर जाती है। प्राथमिक चिकित्सक को यदि दवाओं का कुछ ज्ञान है तो उनका भी उपयोग करना चाहिए।

मीमांसा—प्रायः यह देखा जाता है कि अकस्मात दुर्घटना हो जाने पर व्यक्ति घवड़ा जाते हैं और दुर्घटनाग्रसित व्यक्ति की दशा को बढ़ा देते हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्राथमिक चिकित्सक के कर्त्तव्य और उन्हें करने की क्षमता आवश्यक है।

प्रश्न ३५—निम्नलिखित आकस्मिक दुर्घटनाओं के स्वरूप, कारण, लक्षण तथा उनके लिए किये जाने वाले उपचारों का सविस्तार उल्लेख कीजिए।

(१) हड्डी टूट जाना।
(२) मोच आ जाना।
(३) जलना अथवा झुलसना।
(४) डूबना।
(५) फाँसी लगाना।
(६) बर्र, साँप, पागल कुत्ते द्वारा काटना।
(७) मूर्छा।
(८) रक्त-स्राव होना।
(९) विष खा लेना।

भूमिका—प्रत्येक मानव के लिए सामाजिक जीवन आवश्यक है। जब वह सामाजिक प्राणी है और समाज में रहकर सहानुभूति और प्रेम की भावना से ओत-प्रोत है तो जीवन में कभी-कभी प्राथमिक चिकित्सा का अवसर प्राप्त होता ही है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि उसे चिकित्सा का ज्ञान हो। अतः यहाँ कुछ प्रमुख आकस्मिक दुर्घटनाओं का उल्लेख किया जाता है।

हड्डी का टूटना—प्रायः बालकों की मुलायम हड्डी अचानक भारी चोट लग जाने से टूट जाती है या उसके जोड़ खुल जाते हैं जिसे हड्डी उतर जाना कहते हैं। हड्डी टूटना और उतरना दो विभिन्न रूप है। सर्वप्रथम हड्डी टूटने के निम्न कारण हैं :

कारण—किसी भारी वस्तु के हड्डी पर गिरने अथवा टकराने से हड्डी उस जगह से टूट जाती है। अधिकांशतः बड़ी आयु के व्यक्तियों की हड्डी कठोर होने के कारण टूट जाती है। झटके से हड्डी का टूटना भी एक कारण है। यदि कोई व्यक्ति हथेली के बल जमीन पर गिरे तो हसली की हड्डी टूट जाती है। कभी-कभी मांसपेशियों के तनाव के कारण हड्डी मुड़ने से भी टूट जाती है।

लक्षण—जिस जगह की हड्डी टूट जाती है वहाँ निरन्तर दर्द रहता है। कुछ समय बाद वहाँ पर सूजन चढ़ जाती है। वह अंग अपना कार्य करना या उसका संचालन करना असम्भव हो जाता है। टूटी हुई हड्डी वाले अंग को हिलाने-डुलाने पर हड्डी में आवाज होती है। हड्डी टूट जाने पर अंग की बनावट में अन्तर आ जाता है। ऊपरी सतह की टूटी हुई हड्डी सरलता से पहचानी जा सकती है। दूसरे अंगों से तुलना करने पर हड्डी का टूट जाना पहचाना जा सकता है।

उपचार—हड्डी के जोड़ने में काफी समय लगता है। यह काम सरलता से नहीं किया जा सकता। अतः प्रारम्भिक चिकित्सक को यह कार्य नहीं करना चाहिए। फिर भी सावधानी के लिए जिस अंग की हड्डी टूटी हो उसे खपच्चियों से बाँध कर हिलना-डुलना रोक देना चाहिए। घाव को गर्म रखने के लिए कम्बल

आदि मोटे कपड़े लपेट देना उत्तम है। यदि हड्डी टूटने के साथ-साथ रक्त भी बह रहा है तो उसे रोकने का प्रबन्ध करना चाहिए। घायल को जिस मुद्रा में दर्द कम हो और आराम मिले लिटाना चाहिए। यदि यह निर्णय न हो सके कि हड्डी टूटी है या नहीं तो भी उस अवस्था में वही उपचार करना चाहिए कि हड्डी टूट गयी है।

हड्डी उतरना—बाँह का ऊपरी सिरा एक गोले के रूप में होता है और कन्धे के खोखले में फँसा रहता है। चोट लगने पर गोले को कन्धे के खोखले स्थान से बाँधने वाले बन्धक तन्तु टूट जाते हैं और बाँह बाहर निकल आती है। इसे जोड़ उतरना कहते हैं।

लक्षण—जोड़ में दर्द अधिक होने लगता है। हड्डी उतर जाने पर जोड़ की शक्ल बदल जाती है। उस अंग से काम करना कठिन हो जाता है क्योंकि वह हिलाया भी नहीं जा सकता। अंग के ऊपरी भाग में सूजन आ जाती है और निचला भाग सुन्न और शक्तिहीन हो जाता है।

उपचार—दुर्घटनाग्रसित व्यक्ति को जितना सम्भव हो आराम से लिटा दें। उसके अंग को न हिलायें और न हिलाने दें ताकि उस अंग को आराम मिले। रोगी डाक्टर के पास ले जाते समय भी सावधानी का प्रयोग करें। दर्द की अधिकता होने पर ठण्डे पानी या बर्फ की पट्टी रख कर आराम पहुँचावें यदि ठण्डे पानी से आराम न हो तो गर्म पानी प्रयोग में लायें। परन्तु गर्म पानी में बोरिक एसिड अवश्य घोल लें। रोगी को पीने के लिए गर्म दूध, ब्राण्डी अथवा चाय दें ताकि वह कमजोरी अनुभव न करे। साथ ही डाक्टर को दिखाने का अवश्य प्रबन्ध करें।

मोच आ जाना—खेलते समय, चलते-फिरते समय कभी-कभी शरीर की मांसपेशियाँ इतना अधिक खिंच जाती है कि उनके बन्धक तन्तु टूट जाते हैं। इस अवस्था में न तो हड्डी टूटती है, न उतरती है बल्कि मोच आ जाती है। कमर, कलाई, पैर व गर्दन में प्रायः मोच आती है।

लक्षण—जिस अंग में मोच आती है वहाँ सूजन आ जाती है और दर्द अनुभव होता है। अंग का हरकत में लाना कठिन हो जाता है। हरकत करने पर अधिक दर्द का अनुभव होता है। सूजन के साथ-साथ नसें तन जाती हैं।

उपचार—मोच वाले अंग को सेंकने से सूजन कम हो जाती है। गर्म व ठण्डे पानी से बारी-बारी से सेंकना लाभप्रद होता है। सेंकते समय अंग पर कोई वस्त्र न हो और वह अंग किसी प्रकार कसा भी न हो। कड़वे तेल में अफीम घोल कर मालिश करना लाभदायक है। अधिक हानि की दशा में प्लास्टर व पट्टी बाँधने के लिए डाक्टर की सलाह लेना आवश्यक होता है।

जलना अथवा झुलसना—जलने की अवस्था और कारण कई भाँति के हैं। साधारण तौर पर आग से जलते है परन्तु अम्लों से भी या बिजली से भी आग

लग जाती है। किसी भी कारण से व्यक्ति जला हो उसके शरीर पर जख्म हो जाते हैं। कभी-कभी कपड़े वगैरह जो पहने हुए हो वह भी जलते ही हैं।

आग से जलने पर उपचार---जलने पर जो छाले पड़ जायँ उन्हें फोड़ना नहीं चाहिए। छाले फोड़ने से जख्म बढ़ जाते हैं। जले पर होमियोपैथिक दवा 'आरनिका' या ऐलोपैथिक दवा 'बरनौल' लगाने से ठण्डक पड़ती है और जलन कम हो जाती है। गोले के तेल में चूने का पानी मिलाकर लगाने से भी आराम पहुँचता है। घाव को हवा से बचाना आवश्यक है। यदि कपड़ों में आग लगी है तो पहले उसे बुझाना चाहिए। कपड़ों में आग लगने पर भागना कदापि नहीं चाहिए। भागने से आग बढ़ती है। आग लगे व्यक्ति को कम्बल अथवा दरी में लपेट देना चाहिए। उसके ऊपर पानी नहीं डालना चाहिए।

अम्लों से जलने पर उपचार—व्यापारिक अम्ल हलके होते हैं अतः उन पर खाने वाला सोडा या वाशिंग सोडा का घोल लगाना चाहिए।

बिजली जलने पर उपचार—बिजली का आघात यदि जोर से लगा है तो डाक्टर से तत्काल परामर्श करना चाहिए। मनुष्य की सांस की गति मध्यम रूप से चल रही है तो कृत्रिम सांस का प्रबन्ध करना चाहिए जिससे उसे कमजोरी कम अनुभव होगी। सबसे बड़ी प्रमुख बात य : है कि रोगी या दुर्घटनाग्रसित व्यक्ति को स्थिति गम्भीरता का पता न लगे वरना उसकी हालत मानसिक प्रभाव के कारण बिगड़ती जायगी।

डूबना—पानी में डूबने पर व्यक्ति स्वयं अपने आप को बचाने का भरसक प्रयास करता है और बचने के लिए या किनारे तक पहुँचने लिए बड़ी जल्दी-जल्दी हाथ-पैर चलाता है। इस हाथ पैर की कसरत में उसकी सांसें तेज हो जाती है। पानी के अन्दर व बाहर आने-जाने के कारण उसकी नाक व मुँह में पानी भर जाता फिर सांस रुकने लगती है। अधिक देर तक सांस रुकने पर मृत्यु भी हो जाती है।

उपचार—सर्वप्रथम डूबने वाले व्यक्ति को पानी से बाहर निकालते ही पेट पर दबाव देकर पेट में भरा पानी निकालना चाहिए। उसके गीले कपड़ों को उतार कर सूखे कपड़े पहनाना चाहिए, ताकि उसके बदन को गर्मी मिले। पीने के लिए गर्म दूध, चाय या ब्रांडी देनी चाहिए, यदि हालत में सुधार न आये तो तत्काल डाक्टर से परामर्श करना चाहिए।

कृत्रिम सांस दिलाने या पेट से पानी निकालने की विधि—व्यक्ति को छाती के बल लिटाओ। छाती के नीचे नर्म तकिया लगा लेना चाहिए। पीठ को दबाओ या हाथ से पसलियों के पास के स्थान को दबाओं। इस भांति फेफड़ों ये भरा पानी बाहर आ जाता है और व्यक्ति सांस ठीक प्रकार से लेने लगता है।

फांसी लगाना—कभी-कभी व्यक्ति अपमान न सहन कर पाने पर या कलह से छुटकारा पाने पर गले में रस्सी आदि का फँदा लगा कर लटक जाते हैं। उनकी श्वांस नली अवरुद्ध हो जाने के कारण मृत्यु हो जाती है।

उपचार—फांसी लगा कर मरने वाले व्यक्ति को देखते ही पहले रस्सी काट देनी चाहिए परन्तु यह ध्यान रहे कि गले पर दवाब न पड़े अतः थोड़ा ऊपर उठाकर रस्सी काटनी चाहिए। गर्दन को सहलाये और फेफड़ों में कृत्रिम सांस दिलाये। यदि रस्सी काटने से पहले ही मृत्यु हो गयी है तो, कोई भी उपचार करना व्यर्थ है।

बर्रं का काटना—बर्रं जिस स्थान पर डंक मारती है वहाँ सूजन आ जाती है। बर्रं के डंक मारने पर डंक टूट कर शरीर में रह जाता है जिससे दर्द बढ़ता रहता है।

सर्प का काटना—सर्प के फन मारने से घाव बन जाता है या उस स्थान पर चीरे का सा निशान बन जाता है। व्यक्ति को गर्मी लगती है, बेचैनी अनुभव होती है और बेहोशी बढ़ती जाती है। घाव से खून बहने लगता है। अधिक खून बहने से और जहर के फैल जाने पर मृत्यु सम्भव है। सर्प जहरीला नहीं है तो भी कभी-कभी भय के कारण मृत्यु हो जाती है।

पागल कुत्ते का काटना—कुत्ते के काटने से भी एक प्रकार का जहर शरीर पर असर करता है और मनुष्य कुत्ते की ही भाँति पागल हो जाता है। उसको पानी की प्यास तो अधिक लगती है और पानी से डर भी लगता है। प्यास के कारण ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

उपचार—बर्रं के डंक को शरीर से निकाल देना चाहिए। उस घाव पर पोटैशियम परमैंगनेट भर कर पट्टी बाँध देनी चाहिए। अमोनिया का घोल बना कर घाव को धोना भी फायदेमन्द होता है।

सर्प के काटने के स्थान से स्थान की ओर कुछ दूरी पर शरीर को कस कर बाँध देना चाहिए। बाँधने के लिए पतली डोरी का उपयोग करना चाहिए जिससे खून की नलियाँ जकड़ जायँ और खून का बहाव रुक जाय। सर्प का जहर यदि हृदय तक पहुँच जायगा तो मृत्यु हो जाना सम्भव होता है।

घाव के स्थान को चाकू से काट कर विषैला खून निकाल देना चाहिए। घाव को पोटेशियम् पर मैंगनेट से धोना चाहिए और उसका पाउडर भर कर जख्म को बाँध देना चाहिए। इस भाँति करने से जहर एक सीमा तक ही सीमित रह जाता है। मनुष्य को सान्त्वना देनी चाहिए ताकि डर के कारण उसका हार्ट फेल न हो जाय।

मनुष्य में शक्ति बनाये रखने के लिए गर्म दूध, चाय या ब्राण्डी देनी चाहिए उसे बेहोशी से रोकना आवश्यक है। बेहोश हो जाने पर मृत्यु सम्भव है। इस कार्य के लिए शोर मचाना उत्तम हैं। सबसे उत्तम प्रयोग यह है कि उसे स्नान कराया जाय ताकि नींद न आवे। बहुत अधिक भीड़ इकट्ठी न होने दें। अधिकांश व्यक्ति तरह-तरह की बातें करके दुर्घटनाग्रसित व्यक्ति को घबड़ा देते हैं और उसे हानि होती है।

कुत्ते के काटे स्थान पर से विषैला खून निकाल कर कार्बोलिक अम्ल से रगड़ कर साफ कर देना चाहिए। घाव में पोटाश भरकर पट्टी बाँध देनी चाहिये। कुत्ते काटे के इन्जेक्शन लगवा देने चाहिये।

मूर्छा—मूर्छा आने के पश्चात् मनुष्य को बाह्य संसार का कुछ ज्ञान नहीं रहता अर्थात् उसकी चेतना शक्ति अलोप हो जाती है। उसके शारीरिक अंग कार्यशील नहीं रहते, परन्तु आन्तरिक इन्द्रियाँ कार्यरत रहती हैं जैसे फेफड़े, गुर्दे, दिल आदि। मूर्छा आने के कई कारण हैं: (१) शुद्ध वायु के अभाव में मनुष्य का दम घुटने लगता है, दिल घबराने लगता है और बेहोशी-सी छा जाती है। यही बेहोशी की अवस्था मूर्छा कहलाती है। (२) मस्तिष्क पर आघात लगने से झटका लगता है। नेत्र तिलमिला जाते हैं, श्रवण शक्ति लुप्त हो जाती है और अचेतन अवस्था मूर्छा का रूपबन जाती है। (३) हृदय रोगों के कारण चेतना लुप्त हो जाती है। (४) फेफड़ों में और गले में पानी भर जाने से सांस क्रिया मन्द हो जाती है तथा धीरे-धीरे बेहोशी बढ़ती जाती है जो मूर्छा कहलाती है। (५) नशीली वस्तुएँ, अफीम, चरस, भंग, या तम्बाकू का अधिक सेवन कभी-कभी नशा बढ़ा देता है और अधिक नशा रक्तचाप कम करता है जिस कारण मूर्छा छा जाती है। (६) कुछ गैसें भी जहरीली होने के कारण अपना प्रभाव डालती हैं, जिनको सूँघ कर मनुष्य बेहोश हो जाता है। (७) मृगी, हिस्टीरिया, डिफ्थीरिया आदि बीमारियों में मनुष्य चेतनाहीन होकर मूर्छित हो जाता है। (८) गले में किसी वस्तु के अटक जाने से या फांसी का फन्दा कस कर लगने से भी दम घुटने लगता है और मनुष्य मूर्छित हो जाता है।

उपचार—दुर्घटनाग्रसित व्यक्ति के कपड़ों को सर्व प्रथम ढीला कर देना चाहिये और हवा वाले स्थान में लिटाना चाहिये ताकि शुद्ध वायु मिले और उसे आराम मिले। डाक्टर को बुलाना चाहिये। डाक्टर के आने तक यदि उसका बदन ठण्डा होने लगे तो गर्म करने का प्रयत्न करना चाहिये। मूर्छा के समय उसे कुछ खाना-पीना नहीं देना चाहिये परन्तु मूर्छा के दूर होते ही गर्म दूध या चाय देनी चाहिये। सांस रुकती है तो कृत्रिम सांस देनी चाहिये और सूँघने के लिए नौसादर व चूना मिलाकर सूँघना चाहिये।

रक्त स्राव—रक्त स्राव के भेद होते हैं—प्रथम तो आन्तरिक जिसमें रक्त शरीर के किसी आन्तरिक भाग से निकलता है, परन्तु बाहर नहीं निकल पाता है। द्वितीय भेद बाह्य रक्त स्राव है, जिसमें रक्त किसी रक्त नली के कट जाने से निरन्तर बहता रहता है। बहने वाला रक्त तीन प्रकार की नलियों से बहता है। धमनी, शिरा और कोशिका से। तीनों प्रकार की नलियों से बहने के अलग-अलग कारण हैं और उनके उपचार भी विभिन्न हैं।

धमनी से रक्त स्राव—मानव शरीर का रक्त बहाव इस भाँति है कि जिसमें हृदय एक पम्प के सदृश कार्य करता है। हृदय एक झटके में धमनियों में धक्का

देता है और रक्त बहने लगता है। इस रक्त का रंग लाल होता है। यदि रक्त हृदय से आता हुआ प्रतीत हो, तो समझना चाहिये कि यह रक्त स्राव धमनी का रक्त स्राव है।

शिरा से रक्त स्राव—जिस प्रकार हृदय से समस्त शरीर में रक्त धमनी द्वारा पहुँचता है उसी भाँति शिरा द्वारा गन्दा रक्त हृदय तक वापिस लौटता है। इस रक्त का रंग बैंगनी होता है जो गन्दा-सा दिखता है। इसके बहने की गति मन्द होती है यदि। रक्त श्राव झटके के साथ नहीं होता तो वह शिरा से रक्त स्राव होता हैं।

केशिका से रक्त स्राव—शरीर में खून की छोटी-छोटी नलियाँ केशिका कहलाती हैं। इनमें रक्त अत्यन्त ही मन्द रूप से बहता है। यह खून शुद्ध नहीं होता। यह गाढ़ा और मटमैले रंग का होता है। यदि बहने वाले खून का रंग मटमैला और गाढ़ा हो, तो केशिका से रक्त स्राव होता है।

उपचार—धमनी में रक्त सीधा हृदय से आता है अतः उसकी गति अधिक होती है। धमनी जिस हड्डी के ऊपर से आती है वहाँ स्पन्दन स्पष्ट दिखाई देता है। उस स्थान पर पट्टी बाँध कर रक्त का बहाव रोका जा सकता है। पट्टी कसने के लिए एक कपड़े की गद्दी रख कर पट्टी बाँधते है और एक लकड़ी की पट्टी को कसते है। जिससे रक्त को रोकने तक दवाव डालते हैं। रक्त हृदय से सीधा आता है अतः सरल उपाय है कि सम्भव हो सके तो कटे अंग को हृदय से ऊपर कर दिया जाय।

शिरा के रक्त स्राव को रोकने के लिए कटे स्थान को अंगूठे से दबाना उत्तम है और कटे अंग को हृदय से नीचा रखना ठीक है, इससे रक्त का दवाब कम हो जाता है। कटे स्थान पर बर्फ रखने से रक्त बन्द हो जाता है। औषधि के रूप में टिंचर आयोड़ीन की पट्टी भिगो कर रखने से रक्त दवाब बन्द हो जाता है।

केशिका के रक्त स्राव होने पर हाथ से कटे अंग को दबाना ठीक है। उस स्थान को हृदय से ऊँचा रखना चाहिए ताकि रक्त का बहाव कम हो जाये। इस तरह कटे स्थान पर रक्त की एक परत जम जायगी। यदि उस रक्त की पपड़ी को हटा दिया जायेगा तो रक्त स्राव पुनः चालू हो जायगा, अतः पपड़ी नहीं हटानी चाहिए। बर्फ रख कर दबाने से भी रक्त जम जाता है और उसका बहाव कम हो जाता है। इस प्रकार के घाव में भी टिंचर आयोडीन की पट्टी बाँधने से रक्त स्राव बन्द हो जाता है।

विष खाना—विष के प्रयोग से मनुष्य की मृत्यु अवश्य हो जाती है। परन्तु विष की तीक्ष्णता कम होने पर मृत्यु जल्दी नहीं होती बल्कि मनुष्य तड़फता अधिक है। विष के कई भेद हैं जैसे—निद्रा लाने वाला, जाने वाला, जलन पैदा करने वाला, तत्काल मृत्यु की गोद में सुलाने वाला।

निद्रा उत्पन्न करने वाले विष के प्रयोग से मनुष्य का मस्तिष्क जड़ हो जाता है और उसे नींद आती है। कुछ समय के पश्चात् मनुष्य बे होश हो जाता है। उसकी नाड़ी सुस्त, शरीर ढीला, आँखें छोटी और साँस तेज हो जाती है। अफीम, धतूरा, क्लोरोफार्म नींद लाने वाले विष हैं। एकोनाइट शरीर में अकड़न पैदा करता है।

तेज तेजाब या अम्ल पीने से आमाशय जल जाता है और रक्त की उल्टी होती है। आमाशय जल जाने के अतिरिक्त मुंह व गले में भी जलन पैदा हो जाती है। सांस लेना कठिन हो जाता है और बेहोशी छाने लगती है।

पिसा कांच, पारा या उसके बने यौगिक भी आमाशय में जलन उत्पन्न करते हैं। अत्यन्त तक़लीफ के साथ-साथ खूनी दस्त हो जाते हैं।

इन सबसे तेज व भीषण प्रभाव वाला विष पोटेशियम सानाइट है जो जीभ पर पहुँचते ही मृत्यु की गोद में सुला देता है।

परीक्षा—दुर्घटनाग्रसित व्यक्ति ने किस विष का प्रयोग किया है? इसकी परीक्षा करने या जानने के लिए उसके पास या कमरे में रखी शीशी, बर्तन आदि द्वारा मालूम करते हैं। दूसरे उसके अंगों से जाना जाता है। कुछ विशेष भाँति के तथ्य निम्न हैं जो आँखों द्वारा देखने पर यह बताते हैं कि किस विष का प्रयोग किया गया है।

आँखों की पुतली सिकुड़ी हुई है तो धतूरे का प्रयोग किया है। मुख व ओंठ जले हुये हैं तो तेजाब या अम्ल का प्रयोग किया है।

मुख से अफीम की गन्ध आने पर जाना जा सकता है कि अफीम का प्रयोग किया है।

उल्टी व दस्त हो जाने पर वमन व विष्टा का रासायनिक परीक्षण करने पर जाना जा सकता है कि किस विष का प्रयोग किया है।

उपचार—व्यक्ति को जीवित रखने के लिए सबसे पहले उसकी सांस को देखना चाहिए। सांस की गति मध्यम है तो उसे कृत्रिम सांस द्वारा ठीक कराने का प्रयास करना परम आवश्यक है। आमाशय को जलाने वाली वस्तु का प्रयोग किया गया है तो उल्टी करानी चाहिए। उल्टी के लिए गाढ़ा नमकीन पानी, राई का पानी या कैस्टर आइल देना चाहिए। उल्टी कराने से जहर का कुछ अंश बाहर आ जाता है और व्यक्ति की दशा में सुधार होने लगता है। जलन वाले विष के प्रयोग में कच्चे अंडे दूध, गर्म घी, जैतून का तेल या पैराफीन देने से जलन कम होती है। रोगी को सोने नहीं देना चाहिए, उस स्वच्छ हवा मिलने का प्रबन्ध करना चाहिए। ठीक हो जाने के बाद भी कई दिन तक सिरका आदि देते रहना चाहिए ताकि शरीर से पूर्णरूपेण विष का प्रभाव जाता रहे। डाक्टर का परामर्श अवश्य लेना चाहिए।

मीमांसा—प्राथमिक चिकित्सक के लिए यह उपरोक्त बातें जान लेना जन सेवा की दृष्टि से जान लेना आवश्यक है। यदि इन बातों से अनभिज्ञ व्यक्ति

के साथ कभी कोई दुर्घटना हो जाये तो वह घबड़ा जाय और दुर्घटना ग्रसित व्यक्ति की मृत्यु सम्भव है। अतः तत्काल डाक्टर का परामर्श अति आवश्यक है और धैर्य से कार्य करना चाहिए।

प्रश्न ३६—व्यक्तिगत स्वास्थ्य रक्षा से आप क्या समझते हैं ? छात्रों को देने योग्य प्राथमिक शिक्षा का उल्लेख कीजिये।

भूमिका—छात्रों को व्यक्तिगत स्वास्थ्य की शिक्षा देना अति अनिवार्य है क्योंकि प्रत्येक परिवार में कभी-कभी इस प्रकार की दुर्घटना हो जाती है जिसके कारण व्यक्ति अत्यन्त दुःख और परेशानी अनुभव करने लगता है। तत्काल उपचार न करने पर छोटी-छोटी पारिवारिक दुर्घटनाएँ बड़ी जटिल समस्या बन जाती हैं। अतः छात्रों को दुर्घटनाओं से बचाने के लिए स्वास्थ्य रक्षा की शिक्षा देना अनिवार्य है।

स्वास्थ्य रक्षा विज्ञान के अन्तर्गत कई विषय आते हैं। उनका वर्गीकरण निम्न रूप से किया जा सकता है :

(१) शारीरिक सुरक्षा—त्वचा, पेट, मुख, दांत, अपच सम्बन्धी ज्ञान।
(२) भोजन की स्वच्छता एवं भेद–नियमित भोजन तथा अवयव युक्त भोजन
(३) व्यायाम—स्थान, व्यायाम के ढंग, क्रीड़ा सम्बन्धी व्यायाम।
(४) निद्रा एवं विश्राम—काम करने और आराम करने के समय का सन्तुलन।

शारीरिक सुरक्षा की दृष्टि से त्वचा की स्वच्छता अति आवश्यक है। शरीर से छोटे-छोटे छिद्रों से पसीने के रूप में मैल निकलता रहता है और धूल के जमने से त्वचा गन्दी हो जाती है। इस कारण खुजली, दाद, छाजन, फुंसी आदि रोग उत्पन्न होते हैं। इनसे बचने के लिए प्रति दिन स्नान करना चाहिए, शरीर के प्रत्येक अंग को तौलिया या मोटे कपड़े से अच्छी तरह से पोंछना चाहिए ताकि शरीर पर किसी भाँति कीं गन्दगी न रहे।

जिस प्रकार शरीर की त्वचा की सफाई आवश्यक है उसी प्रकार पेट की सफाई भी अति आवश्यक है। पेट में अजीर्णता, गैस खट्टी डकार आना, भूख न लाना आदि रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों से बचने के लिए प्रतिदिन समय पर शौच्य जाना चाहिए। पेट को खराब करने वाले पदार्थों का भोजन में सेवन नहीं करना चाहिए। गर्मी में नीबू व काला नमक डालकर सुबह पीना पेट के रोगों से मुक्ति पाने का सरल उपाय है। इस प्रकार रात को गर्म पानी से त्रिफला का सेवन लाभदायक होता है।

पेट की अधिकांश खराबियों की जड़ मुँह व दाँतों की सफाई न करने के कारण उत्पन्न होती हैं। यदि भोजन मुंह से ही गन्दा होकर पेट में जायगा तो आमाशय भी खराब हो जायेगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि दांत ही खराब होंगे तो आंत भी खराब होवेगी। इसलिए सुबह और खाना खाने के पश्चात् दाँतों को अच्छी

तरह साफ कर लेना चाहिए। सुबह रात सोते समय मुँह बन्द रहने के कारण दुर्गन्ध उत्पन्न होती है उसे दूर करना आवश्यक है क्योंकि पेट में वह दुर्गन्धयुक्त थूक आमाशय की पाचन क्रिया पर प्रभाव डालता है। खाना खाते समय जो अन्न के अंश दाँतों की दरारों में रह जाते हैं उन्हें साफ न करने से मुँह में सड़ जाता है और उसका रस पेट में पहुँच कर पाचन क्रिया पर प्रभाव डालता है। फलतः पेट में अपच, कब्ज, मन्दाग्नि आदि रोग होते हैं। दाँत जड़ें खराब हो जाने के कारण उखड़ जाते हैं। दाँतों को साफ करने के लिए मञ्जन, टूथपेस्ट आदि का उपयोग करना चाहिए। सबसे सरल वस्तु तो नमक व सरसों के तेल का मिश्रण है जो दाँतों को साफ, चमकीला व मजबूत बनाता है और दाँतों के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। दाँतों की सफाई उँगली से करनी चाहिए। यदि ब्रुश का प्रयोग करना आवश्यक है तो उसके बाल मुलायम व महीन होने चाहिए। तीसरी वस्तु दाँतुन है। दाँतुन नीम, बबूल या कीकर की प्रयोग की जाती है। दाँतों की बीमारियों से बचने के लिए खाने के पश्चात् खूब अच्छी भाँति से कुल्ला करना चाहिए। दाँतों से खून निकलने का कारण विटामिन सी और डी की कमी होती है अतः अधिक स्वाद की वस्तु नहीं खानी चाहिए। गर्म व ठण्डी वस्तुओं के खाने से दाँतों में कटाव-सा पड़ जाता है। दाँतों में दरार सुपाड़ी, बादाम जैसी कड़ी वस्तु के तोड़ने से भी पड़ जाती है। दरार में कीड़े पड़ जाते हैं और दाँत खराब हो जाते हैं। इन बीमारियों से बचने के लिए दाँतों की सुरक्षा अति आवश्यक है।

सिर की सफाई प्रतिदिन करनी चाहिए। यदि बड़े बालों का शौक है तो तेल व साबुन प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिए। सिर गंदा रहने से बालों में जूँ पैदा हो जाते हैं जिसे दूर करने के लिए कार्बोलिक अम्ल का घोल हल्के रूप में बना कर सिर धोना चाहिए। सिर की सफाई के लिए आँवला, बेसन, दही, रीठा आदि का प्रयोग करना चाहिए। बालों में तेल लगाकर कंघा प्रतिदिन करना चाहिए। कंघा करने से भी बालों का मैल निकल जाता है।

शरीर में नाखून का बढ़ जाना भी रोग उत्पन्न करने का कारण है। नाखून बड़े हो जाने पर उनमें मैल व गन्दगी भर जाती है जो खाना खाते समय खाने में मिल पेट में जाती है और आमाशय को खराब कर देती है। अतः बालकों को चाहिए कि अपने नाखूनों को कटाते रहें। कुछ बालकों की आदत दाँतों से नाखून काटने की पड़ जाती है। यह गन्दी आदत नुकसानदायक है अतः ऐसा नहीं करना चाहिए।

जिस प्रकार दाँतों की सफाई नित्यप्रति करना आवश्यक है उसी भाँति आँख और नाक की भी सफाई आवश्यक है। आँखों को सुबह पानी से धोना चाहिए। रात को सोते समय काजल, सुरमा या अञ्जन का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। आँखों में सुर्खी, रोएँ आदि रोग हो जाने पर गुलाब जल अथवा त्रिफला के पानी से धोना चाहिए। किसी अन्य बड़े रोग के होने पर तत्काल डाक्टर को दिखाना चाहिए। मुँह

धोते समय नाक की सफाई भी आवश्यक है। नाक में जो मैल आदि जम जाता है उससे फुँसी वगैरह पैदा हो जाती हैं। अतः नाक की सफाई भी आवश्यक है। सफाई के विचार से कवि के निम्न शब्द उपयुक्त हैं :

आँख में अञ्जन, दाँत में मञ्जन नित कर नित कर।
कान में तिनका, नाक में उँगली मत कर, मत कर।।

कपड़ों की सफाई—शरीर की सफाई के साथ-साथ व्यक्तियों को कपड़ों की सफाई भी करनी चाहिए। गन्दे कपड़ों में रहने से व्यक्ति कभी शरीर से भी साफ एवं स्वच्छ नहीं रह पाता है। कपड़ों के कार्यों को उसकी आवश्यकता के अनुसार तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। सर्वप्रथम कपड़ों द्वारा शरीर की गर्मी-सर्दी से रक्षा होती है। दूसरे कपड़े शरीर की सुन्दरता बढ़ाते हैं और कपड़े लज्जा का निवारण करते हैं। अतः तीनों बातों को ध्यान में रखते हुए निम्न बातों पर सदैव आचरण करना चाहिए :

पहनने के कपड़े तंग न हों। तंग कपड़ों से शरीर की वृद्धि में प्रभाव पड़ता है। खासकर बालकों को ढीले कपड़े पहनने चाहिए। कपड़े अधिक कीमती न हों क्योंकि उन्हें धोने में असुविधा होती है और जल्दी-जल्दी नहीं धोये जाते। कपड़े मैले भी नहीं होने चाहिए। मैले कपड़ों से अनेकों प्रकार की बीमारियों के फैलने की आशंका होती है। शरीर पर अन्दर पहनने वाले कपड़े बनियान व जाँघिया तो अवश्य ही प्रतिदिन धोकर पहनना चाहिए क्योंकि शरीर से निकलने वाला पसीना इन्हीं कपड़ों पर जम जाता है। न बदलने से दाद, खुजली, फुन्सी आदि रोग उत्पन्न होते हैं। कपड़े मौसम के अनुसार पहनने चाहिए। गर्मी में हल्के रंग के व सफेद कपड़े पहनने चाहिए। सर्दी गहरे रंग के व काले कपड़े पहनने चाहिए। लू के दिनों में गर्म हवा से शरीर को बचाना आवश्यक है अतः मोटे सूती कपड़े पहनने चाहिए, इसी तरह ठण्ड से बचने के लिए सर्दी में गर्म कपड़ा उपयुक्त होता है।

भोजन—मानव शरीर एक इञ्जन की भाँति काम करता है। शरीर को भोजन व पांनी की अति आवश्यकता रहती है। दूसरे शरीर से क्षय होने वाले अंगों को पूर्णरूप से ठीक करने के लिए भी विशेष भोजन की आवश्यकता होती है। शरीर की वृद्धि के लिए भी भोजन आवश्यक है। अतः मनुष्य के भोजन में निम्न अवयव होना अति आवश्यक है :

(१) प्रोटीन, (२) कार्बोहाइड्रेट, (३) वसा, (४) लवण, (५) जल और (६) विटामिन।

प्रोटीन—दूध, माँस, दाल, अंडे, मटर, सेम आदि में पाया जाने वाला प्रोटीन शारीरिक टूट-फूट को ठीक करने के लिए आवश्यक है। इनकी कमी होने पर बालकों की वृद्धि भी रुक जाती है।

कार्बोहाइड्रेट—कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन तत्व चीनी, गुड़, आलू शकरकन्दी, गेहूँ, जौ चुकन्दर से प्राप्त होते हैं। शारीरिक श्रम करने वाले व्यक्ति के

लिए उपरोक्त प्रकार के भोजन करना अति आवश्यक होता है। कार्बोहाइड्रेट की कमी के कारण शरीर कमजोर हो जाता है।

वसा—यह स्निग्ध पदार्थ, घी, तेल व चर्बी आदि में पाया जाता है। इनमें कार्बन, हाइड्रोजन व आक्सीजन भी पाया जाता है। इन पदार्थों के सेवन से मनुष्य सुडौल बनता है। वसा की कमी होने पर मनुष्य पतला हो जाता है और हड्डियाँ चमकने लगती हैं।

लवण—भोजन में लवणों का होना अति आवश्यक है क्योंकि लवण से शरीर की विभिन्न क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है। लोहे का लवण खून बढ़ाता है तो कैलशियम व मैंगनीशियम युक्त लवण हड्डियाँ बनाने में सहायक होता है। लवण हरी सब्जी में पाया जाता है।

जल—भोजन का सहायक जल खून बनाने के लिए आवश्यक है। भोजन में जल का अंश अधिक होना चाहिए।

विटामिन—एक जटिल रासायनिक यौगिक विटामिन स्वास्थ्य के लिए अति महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। इसकी कमी होने पर व्यक्ति बीमार हो जाता है अतः विटामिन की भी उचित मात्रा भोजन में होना आवश्यक है।

व्यायाम—व्यक्ति द्वारा किये गये भोजन को पचाने के लिए व्यायाम की आवश्यकता होती है। यदि व्यक्ति नियमित भोजन करता रहे और व्यायाम न करे तो उसकी पाचन-क्रिया बिगड़ जायगी और वह बीमार हो जायगा। फेफड़े शिथिल पड़ जायेंगे और उनसे उचित आक्सीजन शरीर को प्राप्त न होगा। आक्सीजन के अभाव में मनुष्य का रक्त शुद्ध नहीं होगा। अतः व्यायाम भी करना आवश्यक है ताकि अंग मजबूत हों और पाचन-क्रिया उचित रूप से कार्य करती रहे।

निद्रा—दिन भर कार्य करने व व्यायाम के कारण शरीर में जो थकावट उत्पन्न हो जाती है उसकी पूर्ति के लिए आराम आवश्यक है। विश्राम करने के पश्चात् शरीर की स्फूर्ति पुनः लौट आती है। विश्राम करने से निम्न लाभ हैं:

काम बन्द करने से शरीर की क्षति-पूर्ति हो जाती है। दूसरे शरीर में अधिक काम करने से जो अधिक शक्ति उत्पन्न होती है उसके साथ कुछ आवश्यक तत्व भी आ जाते हैं उनको विश्राम करके शरीर से दूर किया जाता है। अतः विश्राम करना अति आवश्यक है।

प्रश्न ३७—शारीरिक विकृतियाँ होने के कारण तथा उनके उपचारों पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

भूमिका—संसार में जन्म लेने वाला प्राणी किसी न किसी विकृति से अवश्य पीड़ित होता है। विकृतियाँ शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक या विकासात्मक आदि अनेकों प्रकार की होती हैं। शिक्षा से सम्बन्धित केवल शारीरिक विकृतियों का यहाँ वर्णन करेंगे।

खड़े होने व बैठने में दोष—बालकों की अल्पायु में शरीर की हड्डियाँ मुलायम होती हैं। यदि असावधानी के कारण खड़े होने या बैठने के समय उनकी आदत उचित ढंग से नहीं होती तो उनके अंगों में विकृति आ जाती है। टेढ़ा खड़ा होने से पीठ की हड्डी टेढ़ी हो जाती है और आयुपर्यन्त दुख उठाना पड़ता है। बचपन में स्कूल में निरन्तर ५-६ घण्टे बैटने से थकावट आती है। अतः वह विभिन्न मुद्राओं में बैठने का प्रयास करते हैं। यदि उस समय कोई गलत मुद्रा में बैठे तो शिक्षक का कर्तव्य है कि उचित मुद्रा में बैठने को कहे। इसी भाँति पढ़ते समय बैठने का ढंग उचित होना चाहिए।

उपचार—पढ़ते समय सीधे बैठकर पढ़ना चाहिए ताकि रीढ की हड्डी सीधी रहे। झुककर पढ़ने से रीढ की हड्डी झुक जाती है, कुवड़ निकल आता है और मनुष्य अधिक कार्य नहीं कर सकता है क्योंकि उनके स्नायु शिथिल पड़ जाते हैं अतः बालक को सीधा बैठना चाहिए। यह भी ध्यान रखना है कि सदैव कमर सीधी करके भी नहीं बैठना चाहिए। अधिक समय तक सीधा बैठने से कमर दर्द करने लगती है। सहारेदार कुर्सी पर बैठने से कमर भी सीधी रहती है और सहारा भी मिल जाता है, फलतः रीढ़ की हड्डी सीधी रहती है।

पढ़ते समय शरीर पर लिखने की अपेक्षा कम दबाव पड़ता है। लिखते समय बालक का सम्पूर्ण शरीर कार्य करता है। बालक हाथ, आँख, गर्दन, कमर, पैर आदि थोड़े-थोड़े समय पर बदलता रहता है। इसलिए शिक्षक को लिखने के समय का सावधानी से निरीक्षण करना चाहिए ताकि बालक के अंग विशेष पर दबाव अधिक न हो। अल्पायु में बालक से खड़े होकर लिखने की आदत डलवानी चाहिए। इस तरह से शरीर पर अधिक दबाव नहीं पड़ता।

इसी भाँति खड़े होते समय दोनों पैरों पर बराबर-बराबर भार डालकर खड़ा होना चाहिए। एक पैर पर दबाव डालकर खड़े होने से शरीर एक ओर को झुक जाता है। खड़े होकर पढ़ते समय किताब की दूरी इतनी हो कि आँख पर दबाव न पड़े। खड़े होकर झुककर कार्य करना भी शरीर में विकृति उत्पन्न करता है। शिक्षक को भी एक ही मुद्रा में विद्यार्थी को खड़े होकर कार्य नहीं कराना चाहिए।

स्कूल, कालेजों में बालकों के लिए कुर्सी व मेज इस नाप की हों कि बालक सीधा बैठकर सुगमता से पढ़ सके। उसे न तो तन कर बैठना पड़े और न अधिक झुकना ही पड़े। बालक को पढ़ते व लिखते समय दोनों ही मुद्राओं का प्रयोग करना पड़ता है। मेज-कुर्सी का अनुपात सही होने पर बालक को किसी प्रकार की हानि नहीं होगी।

आँखों का दोष—आँख में कई प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। बालक की समीप दृष्टि में दोष होता है तो दूर की वस्तु साफ दीखती है और यदि दूर की दृष्टि में दोष होता है तो समीप की वस्तु स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यदि किसी प्रकार का

दोष है तो यह शरीर विकृति कहलाती है। कभी-कभी दृष्टि में दृष्टि-वैषम्य हो जाता है। इसमें वस्तु लम्बी या मोटी दिखायी देने लगती है। आँख एक ही ओर देखने पर एक ओर नहीं जमती और आँखों पर नियन्त्रण नहीं रहता यह आँख को नियन्त्रण रखने वाली माँस-पेशी कमजोर पड़ जाने के कारण ऐसा होता है। अधिक कार्य करने वाले बालकों को स्नायु कमजोर हो जाने के कारण यह रोग हो जाता है। इसे ऐंची आँखें कहते हैं। कभी-कभी बालक हल्की रोशनी में नहीं देख पाते हैं। यह रोग रतौंधी कहलाता है। आँख की पुतली में फुन्सी हो जाती है और रगड़ से खुजली होने लगती है। आँखें साफ न करने या गन्दे हाथों से रगड़ने पर अजनी का रोग उत्पन्न होता है।

उपचार—दृष्टि दोष को दूर करने के लिए चश्मा लगाना चाहिए। दृष्टि-वैषम्य का दोष बेलनाकार तालों के लगाने से ठीक होता है। ऐसी आँखें चश्मा लगाने या आपरेशन से ठीक होती हैं। रतौंधी विटामिन की कमी के कारण उत्पन्न होती है अतः उचित मात्रा में विटामिन लेना चाहिए। अजनी का रोग दूर करने के लिए बोरिक एसिड मिले हल्के गर्म पानी से सेक करना उत्तम है।

कान का दोष—मानव शरीर में कान भी एक प्रमुख ज्ञानेन्द्रिय है। इसके तीन भाग होते हैं : (१) बाहरी कान, (२) मध्य भाग और (३) आन्तरिक कान।

सबसे पहले बाहरी कान जो कार्टीलेज का बना हुआ है ध्वनि को इकट्ठा करके कर्णनली में भेजता है। नली के सिरे पर पर्दा लगा है जो तीन हड्डियों से जुड़ा है। पर्दे के ध्वनि तरंगों के हिलने पर हड्डियों में गति होती है। तीसरे भाग में लम्बी तथा कुण्डलित कोशिकाएँ होती हैं जिससे स्वर व लय का ज्ञान होता है। तीन अर्ध चन्द्राकार नलियों के बीच भरे द्रव के अन्दर ध्वनि की तरंगें कुछ बालों से टकराती हैं और श्रवण बाल गति करने लगते हैं। तदनन्तर श्रवण नाड़ी में तरंगें उत्पन्न होती हैं जो मस्तिष्क में सुनाई देती हैं।

उपरोक्त कान की क्रिया का बोध हो जाने के उपरान्त यह सुगमता से समझ सकते हैं कि किस अंग के विकृत होने पर कौन सा दोष उत्पन्न होता है। सबसे बड़ा दोष बहरापन है। जन्म से बहरा होना या चोट आदि के लग जाने से जीवन में बहरापन होना। बहरापन पूर्ण रूप से होता है या आंशिक। यह स्पष्ट है कि बहरापन स्नायु की खराबियों से या कष्ट या मस्तिष्क की खराबी से होता है।

उपचार—कलम, तिनका अथवा पैंसिल आदि से कान कुरेदने पर पर्दे के फट जाने का डर रहता है अतः कभी कान अपने आप नहीं कुरेदना चाहिए। दूसरे शिक्षक बालकों के कान पर थप्पड़ न मारें। इससे भी पर्दा फटने का भय रहता है। नहाने के बाद कान को अच्छी तरह पोंछना चाहिए। पानी रह जाने से भी खराबी पैदा होता है। कान से मैल साफ करने के लिए गुनगुना गर्म तेल डालकर आसानी से साफ किया जा सकता है। कान की सफाई निरन्तर करते रहना चाहिए।

जिह्वा का दोष—जिह्वा सम्बन्धी दोष तीन तरह का होता है। पहला जो शिक्षक द्वारा ठीक किया जा सके, दूसरा डाक्टर इलाज कर सके व तीसरा असहाय दोष जो ठीक न हो सके।

उच्चारण का दोष शिक्षक ठीक कर सकते हैं। बालक नाक पर दबाव डाल कर वोलते हैं, अक्षर क्षमा करते हैं या चबा-चबा कर वोलते हैं। शिक्षक बालकों के उच्चारण पर ध्यान देकर इन दोषों को सुगमता से दूर कर सकते हैं। यदि बोलने का दोष अन्य कोई अंग की खराबी से उत्पन्न हो तो डाक्टर उसका उपचार करते हैं। जिह्वा का मोटापन, छोटापन या तालू से जुड़ा होना आदि दोष डाक्टर द्वारा ही ठीक किये जा सकते हैं। मांसपेशियों की विकृति उत्पन्न होने पर तुतलाने का दोष आ जाता है। मनुष्य कभी-कभी क्रोध, दुख, चिन्ता, शर्म आदि के कारण से भी तुतलाने लगता है। एक ही शब्द को बोलने में कभी-कभी देर लगती है। तुतलाने के कारण बालकों में हीन भावना पैदा होने की सम्भावना रहती है अतः तोतले बालक को चिढ़ाना या तंग करना या नकल करना नहीं चाहिए। अन्यथा उसका भविष्य विकृत हो जायेगा।

उपचार—शिक्षकों को चाहिए कि बालकों के उच्चारण को धीरे-धीरे ठीक करायें और उन्हें धीरे-धीरे बोलना व पढ़ना सिखायें। पढ़ते समय उनमें घबराहट न पैदा करें। मुख में कंकड़ या सुपारी रखकर न बोलें। शिक्षकों के व्यवहार से बोलने के अनेकों दोषों का उपचार सुगमता से दूर किया जा सकता है।

मीमांसा—शारीरिक विकृतियों का विवरण तथा उससे होने वाले परिणामों का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि विकृतियों के परिणामों को दूर करने के उपाय व जीवन को सुखमय बनाने के लिए शिक्षा अति आवश्यक है। अतः प्रत्येक विद्यार्थी को यह शिक्षा प्राप्त करना परमावश्यक है। मनुष्य का जीवन एक सफर की तरह है। इसमें अनेकों प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उनसे पार पाने के लिए यदि शरीर ही, ठीक ढंग से कार्य न करे तो मनुष्य अपंग हो जाता है। अतः शिक्षकों का कर्तव्य है कि बालक का उचित ढंग से पथ-प्रदर्शन करें।

अध्याय ८

विभिन्न शिक्षा पद्धतियाँ
(Different Methods in Education)

प्रश्न ३८ बाल शिक्षा पद्धतियों से आप क्या समझते हैं ? प्रमुख बाल शिक्षा पद्धतियाँ कौन-कौन सी हैं ?

भूमिका—प्राणी जीवन विकसित, व्यवस्थित, संगठित और अनुशासित करने के लिए विश्व में प्रत्येक राष्ट्र, धर्म एवं जाति द्वारा शिक्षा को महत्त्व दिया गया है। शिक्षा का स्वरूप विभिन्न प्रकार का होता है। वह किसी भी प्रणाली द्वारा प्रदान की जाय प्राणी जीवन को प्रभावित अवश्यक करती है। वर्तमान विश्व में नवीन शिक्षा प्रणालियाँ निर्मित हुई हैं। प्राचीन तथा नवीन दोनों ही प्रणालियों द्वारा एक ही उद्देश्य की पूर्ति करने का प्रयास किया जाता है।

"शिक्षा मानव को उसी प्रकार विकसित करती है जिस प्रकार कृषि पौधों को" इस विचार का प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री लोक (Locke) उचित समर्थन करते हैं :

"Plants are developed by cultivation and men by education."

शिक्षा पद्धति के भेद—शिक्षा पद्धति के भेद जानना सरल कार्य नहीं है। यह जटिल प्रश्न हल करने के लिए वर्तमान काल में विद्यमान शिक्षा पद्धतियों को निम्न रूप से विभाजित किया जा सकता है :

(१) बाल शिक्षा पद्धतियाँ—विश्व के प्रत्येक राष्ट्र में विभिन्न रूप से पायी जानी वाली पद्धतियाँ बाल शिक्षा का उद्देश्य पूरा करती हैं। प्राचीन काल से शिक्षा प्रणाली का भारतीय रूप प्रगट करते हुए डा० सी० कुनटम ने व्यक्त किया है :

"उपयन संस्कार के विवरण से और उपनयन के बाद छात्र के लिए निर्धारित किये हुए कर्तव्यों से यह प्रायः निश्चित हो जाता है कि बालक उससे पूर्व शिक्षा अवश्य प्राप्त करता था।"

भारत में शिक्षा देना विदेशी पद्धति नहीं बल्कि भारत बाल शिक्षा में कभी भी पीछे नहीं था। यह विचार प्रसिद्ध दार्शनिक एफ० डब्ल्यू० टामस के वक्तव्य से स्पष्ट होते हैं :

"Education is no exotic in India. There has been no contry when the love of learning had so early an origin or has exercised so lasting and powerful an influence. From the simple poet of Vedic Age to Bengali philosopher of the present day there has been an uninterupted succession of teachers and scholars."

अर्थात्—"शिक्षा भारत में विदेशी पौधा नहीं है। कोई भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ ज्ञान के प्रति प्रेम इतने प्राचीन काल से प्रारम्भ हुआ हो, या जिसने इतना स्थायी और शक्तिशाली प्रभाव उत्पन्न किया हो। वैदिक युग के साधारण कवियों से लेकर वर्तमान युग के बंगाली दार्शनिक तक, शिक्षकों और विद्वानों का एक निर्विघ्न क्रम रहा है।"

वर्तमान भारत में बाल शिक्षा पद्धति के निम्न रूप हैं :

(१) खेल द्वारा शिक्षा पद्धति।
(२) मान्टेसरी शिक्षा पद्धति।
(३) किण्डरगार्टन शिक्षा पद्धति।
(४) डाल्टन पद्धति।
(५) ह्यूरिस्टिक शिक्षा पद्धति।
(६) फ्रोबेल शिक्षा पद्धति।
(७) योजना शिक्षा पद्धति।
(८) बेसिक शिक्षा पद्धति।

(२) प्रौढ़ शिक्षा पद्धति—भारत में प्रौढ़ शिक्षा का प्रचलन सर्वप्रथम बौद्ध शासन काल से प्रारम्भ हुआ था। प्रौढ़ शिक्षा में स्थान और काल के अनुसार अनेकों बार परिवर्तन हुए हैं। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न शिक्षा पद्धति पायी जाती हैं। इस विषय पर अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम प्रौढ़ की परिभाषा अनिवार्य रूप से जाननी है। भारत में १२ वर्ष से अधिक आयु के स्त्री-पुरुष प्रौढ़ की परिभाषा में आते हैं जिन्हें परिस्थितियों के वशीभूत होकर अपनी जीविका के लिए मजबूर होना पड़ा हो। प्रौढ़ शिक्षा के उद्देश्य, समस्याएँ, प्रसार आदि पर आगे विस्तार से उल्लेख करेंगे।

(३) स्त्री शिक्षा पद्धति—प्रौढ़ शिक्षा के समान ही भारत में स्त्री शिक्षा का विकास उपलब्ध है। वैसे हो पूर्वाचीन भारत में स्त्री शिक्षा विशेष प्रचलित थी। गार्गी का साहित्य व वेदान्त पर अधिकार गिना है, तो कैकई का युद्ध कला पर द्रौपदी गणित का व गृह बजट का निर्णय करती थी तो अनुसूय्या, सावित्री, माधवी आदि स्त्रियों की गणना भी विद्वानों में की जाती है। डा० ए० एस० अल्टेकर (A. S. Altickar) बौद्धकालीन स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में व्यक्त करते हैं :

"The permission given to women to enter the order gave a fairly good impetus to the cause of female edncation especially in aristiseretck and commercial sections of society."

अर्थात्—"स्त्रियों के समुदाय में प्रवेश करने की आज्ञा ने स्त्री शिक्षा को विशेष रूप से समाज के कुलीन और व्यवसायक वर्गों की स्त्रियों की शिक्षा को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया।"

विभिन्न कालों में भारत के अन्दर स्त्री शिक्षा की विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित रहीं। स्त्री शिक्षा का भी विस्तृत उल्लेख अगले प्रश्नों में करेंगे।

व्यवसायिक शिक्षा—व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा में प्रशिक्षण देकर मानव को व्यवसाय में विशेष रूप से प्रवीण किया जाता है। यह शिक्षा प्राप्त कर मानव अपनी जीविकोपार्जन की समस्या हल करता है। मुस्लिम काल में भी इस प्रकार की शिक्षा कारखानों आदि में दी जाती थी। डा० यूसुफ हुसेन (Yusuf Husein) ने इस प्रसंग में व्यक्त किया है:

"The Karkhanahs were not only manufacturing agencies but also served as centres for technical and Vocational training to young men by the system of apprenticeship. They were placed under a master crafts man (ustad) to learn the trade and in course of time became experts themselves."

अर्थात्—"कारखाने केवल उत्पादन के साधन ही नहीं थे, वरन् शिष्य-क्षमता की प्रणाली के अनुसार युवकों को प्राथमिक एवं जीविका सम्बन्धी प्रशिक्षण देने के केन्द्रों के रूप में भी कार्य करते थे। वे व्यवसाय को सीखने के लिए किसी उस्ताद के शिष्य बना दिये जाते थे और कुछ काल के बाद स्वयं दक्ष हो जाते थे।"

मीमांसा—बाल शिक्षा पद्धति के साथ-साथ शिक्षा के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख किया गया है। बाल शिक्षा देने के अनेकों रूप हैं जिनका आगे के प्रश्नों में उल्लेख होगा। बाल शिक्षा के विभागों का उल्लेख करते समय यह भी देखना आवश्यक है कि उसको दी जाने वाली शिक्षा उसे जीवन में कहाँ तक सफलता दिलायेगी। अतः व्यावसायिक शिक्षा भी अनिवार्य है। वाणिज्य, कानून, चिकित्सक, नर्स, जन-कल्याण-सेवा आदि अनेकों प्रकार के उपविभाग हैं। वास्तविकता यह है कि बाल शिक्षा में ही प्रत्येक विषय का कम या अधिक शिक्षण दिया जाता है। अतः शिक्षा संचालन में यह बात ध्यान देने योग्य है। कि मानव कल्याण में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो।

प्रश्न ३९—खेल द्वारा शिक्षा से आप क्या समझते हैं? प्राथमिक पाठशालाओं में खेल द्वारा शिक्षा कहाँ तक सम्भव है? स्पष्ट कीजिए।

(उ० प्र० १९६०)

भूमिका—यूरोप के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री काल्डवेल कुक (Caldwell Cook) ने अपने विद्यार्थियों को पढ़ाते समय जब यह अनुभव किया कि विद्यार्थी पढ़ने में रुचि नहीं ले रहे हैं, तो उन्होंने अभिनयात्मक क्रियाओं एवं खेल द्वारा भाषा का पढ़ाना प्रारम्भ किया। तदनन्तर उन्होंने यह अनुभव किया कि नवीन प्रणाली से

विद्यार्थी पढ़ने में रुचि लेने लगे। तभी से खेल द्वारा शिक्षा देने की विधि को प्रोत्साहन मिला। भारतीय शिक्षाशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक श्री एल० आर० शुक्ला (L. R. Shukla) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"Just as a poet cannot restrain himself from writing a poem, or musician from singing., so the child cannot restrain himself from playing."

अर्थात्—"जिस तरह कवि अपने को कविता बनाने से, या गायक गाना गाने से रोक नहीं सकता। उसी प्रकार बालक अपने को खेलने से नहीं रोक सकता है।"

"अर्थ एवं परिभाषा—प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूनल के मतानुसार—"खेल एक सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति है।"

बालक जन्म से ही खेलने का आनन्द उठाता है। उसके लिए खेल जीवन का उद्देश्य है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि खेल वह जन्मजात शक्ति है जो स्वभावतः, स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होती है और आनन्द प्रदायक है।

स्टेनली हाल (Stanley Hall) के मतानुसार :

"Play is the purest expression of motoe heredity."

अर्थात्—"खेल वंशानुसंक्रमण की गति शुद्ध प्रकाशन है।"

के० भाटिया और बी० डी० भाटिया के मतानुसार :

"Play is the natural means which provides opportunities to the child for spontaneous effort and free interest."

अर्थात्—"खेल वह प्राकृतिक साधन है जिससे स्वतः प्रयत्न एवं स्वतन्त्र रुचि के अवसर प्राप्त होते हैं।"

कश्यप और पुरी (Kashyap and Puree) के मतानुसार है :

"Play is an activity and creative tendency, which is marked by spontancity, freedom and pleasure as its characteristic feature."

अर्थात्—"खेल एक क्रियात्मक एवं रचनात्मक प्रवृत्ति है जो स्वाभाविकता, स्वतन्त्रता एवं आनन्द के लक्षणों द्वारा अनुभव की जाती है।"

उपरोक्त परिभाषाओं का समीक्षण करने के उपरान्त यह कह सकते हैं कि—"खेल बालक की जन्मजात, स्वतन्त्र, स्फूर्तिदायक, स्वलक्षित एवं आनन्दायक शक्ति है।"

सिद्धान्त—(१) वंशानुक्रम के अनुसार बालक को खेल द्वारा जो शिक्षा प्रदान की जाती है वह महत्त्वपूर्ण होती है। (२) स्वाभावानुसार दी जाने वाली शिक्षा द्वारा खेलने की पद्धति की सफलता निश्चित है। (३) स्वतन्त्रता जन्म सिद्ध अधिकार है। अतः खेल द्वारा शिक्षा देने में स्वतन्त्रता का आयोजन अवश्य होना चाहिए। (४) खेल से स्फूर्ति प्राप्त होती है, अतः इसके द्वारा ही शिक्षा देनी चाहिए। (५) खेल बालक के लिए एक स्वलक्षित शक्ति है, जिसके आधार पर बालक को शिक्षा देने का

सिद्धान्त उचित है। (६) खेलते समय बालक आनन्द प्राप्त करता है। यदि खेल द्वारा बालक को शिक्षा प्रदान की जाय तो सफलता निश्चित होगी। इस प्रसंग में प्रसिद्ध दार्शनिक टी० पी० नन् (T. P. Nunn) ने शैक्षणिक महत्व को स्पष्ट किया है :

"It is hardly extravagent to say that in the understanding play lies the key to most of the practical problem of education."

इसी के समर्थन में खेल द्वारा शिक्षा देने की पद्धति को ग्रहण करने का उल्लेख करते हुए के० भाटिया और बी० डी० भाटिया ने कहा है :

"......the idea of introducing the play way in school teaching has spread rapidly, is to a great extent, replacing older educational method."

खेल के शैक्षणिक विविध रूप—बालकों को शिक्षा प्रदान करने में निम्न शैक्षणिक विधियों का प्रयोग किया जाता है :

(१) **सामूहिक खेल**—सामूहिक खेलों द्वारा शिक्षा के साथ-साथ प्रत्येक बालक में आत्म-सम्मान, त्याग, सहयोग एवं नागरिकता का ज्ञान होता है।

(२) **व्यावसायिक खेल**—बालक व्यासायिक खेलों द्वारा जीविकोपार्जन का ज्ञान प्राप्त करता है। करके सीखने के सिद्धान्त पर आधारित रचनात्मक कार्य करने का प्रोत्साहन सीखता है।

(३) **नाटक**—इतिहास और साहित्य सम्बन्धी विषय नाटकों और अभिनयों द्वारा बालकों को सिखाने से महान् पुरुषों के जीवन चरित्र का बोध होता है। अन्ततोगत्वा बालक उसका अनुकरण करता है।

(४) **स्वतन्त्र शासन**—विद्यालय एवं स्कूलों में स्वतन्त्र सरकार की स्थापना कर बालकों को राजनैतिक शिक्षा दी जाती है। इस सम्बन्ध में के० भाटिया और बी० डी० भाटिया का कथन युक्तसंगत है :

"It is the play-way that makes possible such valuable social and citizenship training for pupils at school through actual acceptance of and participation in the responsibilityes of self government."

अर्थात्—"यह खेल की पद्धति है जिससे स्वतन्त्र शासन में अपने कर्त्तव्यों के उत्तरदायित्वों को जानने से विद्यालय एवं स्कूलों में सामाजिकता एवं नागरिकता की शिक्षा मिलती है।"

(५) **स्काउटिंग**—अपने कार्यों को स्वयं करने की प्रवृत्ति पूर्ण रूपेण से खेल-खेल में स्काउटिंग द्वारा बालक सीख लेते हैं। जैसा कि के० भाटिया और बी० डी० भाटिया ने व्यक्त किया है :

"The play tendency finds full supression thronugh the many activities which boys and girls participate in scouts and guides."

अर्थात्—"खेलने की प्रवृत्ति द्वारा बालक एवं बालिकाएँ स्वाभाविक रूप से स्काउट और गाइड बनकर कार्य करने की क्षमता प्राप्त करते हैं।"

खेल द्वारा शिक्षा पद्धति के गुण—खेल द्वारा शिक्षा देना एक सर्वोत्तम शिक्षा पद्धति है। इस पद्धति के बालकों को निम्न लाभ हैं :

(१) मूल प्रवृत्तियों का शोधन हो जाता है। बालकों की पाशविक प्रवृत्तियाँ क्रोध, आम आदि का ह्रास होता है। खेल द्वारा शिक्षा देने की प्रवृत्ति से वह पशुवत् व्यवहार का शनैः शनैः त्याग कर देता है और जीवन में कुशल सामाजिक प्राणी बन जाता है।

(२) व्यावसायिक शिक्षा के अनेक रूप खेल-खेल में बालकों को सीखने को मिलते हैं। खेल में बालक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से व्यावसायिक शिक्षा द्वारा रचनात्मक क्रियायें करता है और जीवन में जीविकोपार्जन करने की कला सीख जाता है।

(३) अनेकों प्रकार के अनुभव प्राप्त करके बालक में स्वतः ही आत्म विकास उत्पन्न होता है।

(४) खेल द्वारा बालक को पढ़ने में रुचि होती है तो शिक्षक भी उन्हें पढ़ाने में उत्साह दिखाते हैं। फलतः अल्प काल में अधिक ज्ञान मिल जाता है।

(५) विलियम स्टर्न (William Stairn) के मतानुसार बालक पर खेल द्वारा शिक्षा का प्रभाव पड़ने से स्वास्थ्य लाभ होता है। "खेल द्वारा बालक अपने शारीरिक अंगों को पूर्ण बनाता है एवं उस ज्ञान और क्षमता को प्राप्त करता है जो कि उसके भावी जीवन में आवश्यक हैं।"

(६) बालकों में स्वयं तर्क, विचार और निर्णय करने की क्षमता उत्पन्न होती है। खेल द्वारा शिक्षा ग्रहण कर वे दार्शनिक, कलाकार आदि बनते हैं और विश्व का कल्याण करते हैं।

(७) खेलते समय तान, मन और धन का उचित प्रयोग होता है। अतः बालकों में खेल द्वारा शिक्षा दे कर सहकारिता एवं सहयोग की भावना पैदा की जा सकती है।

(८) जब बालक खेल में आनन्द एवं स्वतन्त्रता का अनुभव करता है तो वह नये-नये खेलों का आविष्कार करता है, उसकी कल्पना शक्ति में वृद्धि होती है। मनोवैज्ञानिक रूप से खेल द्वारा पशुवत् प्रवृत्ति का दमन होता है और नवीन चरित्र का निर्माण होता है। बालक के व्यक्तित्व के समस्त पहलुओं का स्वाभाविक एवं सर्वांग विकास होता है। इस सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री कश्यप एवं पुरी (Kashyap and Puree) के शब्द अति उपयुक्त हैं :

"Play has a great value for the development of the personality, integration, perseverance, self-reliance, praise, self-control and optimism are developed in the best give and take play activities."

खेल द्वारा शिक्षा पद्धति के दोष—खेल द्वारा शिक्षा देने से जहाँ बालकों में

अनेकों गुणो वकास होता है वहाँ इस पद्धति में दोष भी पाये जाते हैं। विवेचन एवं विश्लेषण करने पर निम्न दोषों का उल्लेख किया जा सकता है :

(१) खेल खेलना और शिक्षा प्राप्त करना दो अलग-अलग कार्य हैं अतः खेल को शिक्षा का आधार मानकर शिक्षा देना अनुपयुक्त है। इस विधि द्वारा बालक अपनी रुचि के कार्य तो सम्पन्न करेंगे, परन्तु अन्य कार्यों की अवहेलना करेंगे जो उन्हें अरुचिकर हैं।

(२) खेलने का प्रोग्राम कार्य से अवकाश प्राप्त समय में होता है। यदि कार्य-काल में खेलने का उपक्रम किया जायगा तो सारा समय खेल में ही व्यतीत हो जायगा। फलतः समय का दुरुपयोग होगा।

(३) कुछ कठिन विषय ऐसे भी हैं जिनका खेल में पढ़ाना असम्भव है जैसे गणित, विज्ञान आदि। इसका प्रमुख कारण यह है कि खेल स्वयं एक पूर्ण क्रिया है।

(४) खेलते समय जहाँ सहकारिता एवं सहयोग की भावना उत्पन्न होती है वहाँ बालकों में गम्भीरता की भी कमी रहती है, अतः बालक उत्तरदायित्व को पालन करने में असमर्थ रहते हैं।

(५) खेल द्वारा शिक्षा देने की पद्धति से धन का अपव्यय होता है क्योंकि इस पद्धति में अनेकों प्रकार के बाह्य सामान की आवश्यकता होती है। सामान के लिए धन खर्च होता है। अर्थात् व्यय की अधिकता होती है।

मीमांसा—खेल द्वारा शिक्षा देने से जहाँ अनेकों लाभ हैं वहाँ कुछ दोष भी पाये जाते हैं। परन्तु लाभ की दृष्टि से देखते हुए होने वाली हानियाँ नगण्य है। फिर भी धन का व्यय अधिक होना एक विचारणीय समस्या है जिसको सामाजिक, राजकीय, अथवा राष्ट्रीय स्तर पर दूर किया जा सकता है। अनेकों मनोवैज्ञानिक एवं शिक्षा-शास्त्रियों ने अपने मतों द्वारा स्पष्ट किया है कि खेल द्वारा शिक्षा देना उपयुक्त ही है।

जे० एस० रॉस (J. S. Ross) के मतानुसार :

"Play is joyful, spontaneous, creative activity in which man finds fullest self-expression."

कश्यप और पुरी (Kashyap and Puree) के मतानुसार :

"Play has a special significance for education. As play is interesting, natural and conductive to learning so many other things, some of its characteristics are gradually being introduced into methods of teaching....."

प्रश्न ४०—मान्टेसरी शिक्षा पद्धति का वर्णन करते हुए उसकी विशेषताएँ वर्णन कीजिए।

(उ० प्र० १९५७, ६३ व ६५)

भूमिका—डा० मेरिया मान्टेसरी (Dr. Maria Montessari) इटली देश की एक सभ्रान्त परिवार की सदस्या थी। अपनी शिक्षा सम्पूर्ण कर २४ वर्ष की

आयु में दीन, दुखी, लंगड़े, लूले, बहरे, गूंगे और मन्द बुद्धि बालकों के दुख से दुखी होकर उन्होंने इस प्रणाली को जन्म दिया। उन्होंने प्रयोगात्मक अध्ययन करने के उपरान्त यह सिद्ध कर दिया कि उचित शिक्षा द्वारा सामान्य बालकों की तरह मन्द बुद्धि बालक भी सफलता प्राप्त कर सकता है। वह इन्डियन ट्रेनिंग कोर्स इन्स्टीटयूट मद्रास की डाइरेक्टर बनकर सन् १६३६ में भारत आई और भारत में इस पद्धति का श्रीगणेश किया। यह पद्धति ३ वर्ष से ६ वर्ष तक के बच्चों के लिए अत्यधिक लाभदायक है। उनके कथन के अनुसार :

"If a new and scientific pedagogy is to arise from the study of the individual suchstudy must occupy itself with the observation of free children."

अर्थात्—"अगर व्यक्ति के अध्ययन से नवीन एवं वैज्ञानिक शिक्षा शास्त्र का आरम्भ करना है तो इस शास्त्र को स्वतन्त्र बच्चों का निरीक्षण करना चाहिए।"

मान्टेसरी पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त—प्रत्येक पद्धति के संस्थापक एवं समर्थक उसके सिद्धान्तों को अवश्य निर्धारित करते हैं। मान्टेसरी पद्धति के सिद्धान्त भी निश्चित किये गये हैं। इसके मूल सिद्धान्त श्रीमती डा० मोरिया मान्टेसरी द्वारा ही निर्मित हुये हैं। यह सिद्धान्त निम्न रूप में वर्गीकृत किये जा सकते हैं :

(१) विकास के लिये शिक्षा का सिद्धान्त—शिक्षा का रूप वास्तविक तो आन्तरिक विकास माना गया है। बालक के शरीर में वृद्धि होती है तो आत्मा में विकास होता है। इन दोनों रूपों को कुरूप न बनाना चाहिये और न दबाना चाहिए बल्कि शक्ति का क्रम के अनुसार विकास करना चाहिए। डॉ० मेरिया मान्टेसरी के शब्दों में :

"If any educational act is to be efficacious, it will be only that which tends to help towards the complete unfolding of the child's individuality."

अर्थात्—यदि शिक्षा देने की किसी पद्धति को प्रभावशाली बनाना है तो वह बालक के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के लिए ही प्रभावशाली होनी चाहिये।

(२) स्वतन्त्रता के लिये शिक्षा का सिद्धान्त—बालक स्वतन्त्र रहकर ही विकास कर सकता है। यदि स्वतन्त्र वातावरण न हो तो विकास विकृत हो जायगा और राष्ट्र के लिये आदर्श नागरिक न बन सकेगा। इसके समर्थन में डा० मान्टेसरी का उल्लेख कथनीय है :

"The school must permit the free, natural manifestations of the child, if he is to be studied in a scientific manner."

अर्थात्—"यदि बालक का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करना है तो शिक्षालय को उसे उसके स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक रूप में प्रकट होने देना चाहिये।" और भी—

"Freedom does not consist in having others at one's command to perform the ordinary services but in being able to do these for oneself, in being independent of others."

अर्थात्—स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ यह नहीं कि साधारण सेवाओं को करवाने के लिए अन्य व्यक्तियों से आज्ञा पालन करवाया जाय बल्कि उसे इस योग्य बनाना है कि उन्हें अपने लिये स्वयं कर सके। स्वतन्त्रता की वास्तविकता तो दूसरों पर निर्भर रहने से मुक्ति पाने में ही है।

(३) स्वशिक्षा का सिद्धान्त—बालक का विकास उसी अवस्था में सम्भव है जबकि अपनी त्रुटि का ज्ञान उसे स्वयं हो और वह अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा प्राप्त करे। शिक्षक का हस्तक्षेप विद्यार्थी के लिये असहनीय होता है। इसके समर्थन में के० भाटिया और बी० डी० भाटिया (K. Bhatia and B. D. Bhatia) का कथन उल्लेखनीय है :

"She believes that autoeducation is the only true education because here the child is not troubled by the adult interference but learns to teach himself."

(४) मांसपेशियों की शिक्षा का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार बालक अपने अंगों का पूर्ण रूप से प्रयोग करता है। बालकों को चलने, फिरने, घूमने, दौड़ने आदि का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। वे स्वास्थ रहकर कार्यशील बनते हैं।

(५) व्यक्तित्व की शिक्षा का सिद्धान्त—यदि बालक के व्यक्तित्व के अन्य व्यक्तियों ने अन्दर प्रदान किया तो विकास होना सम्भव होता है। बालक आत्म-निर्माण के मार्ग पर तभी अग्रसर होता है जबकि उसके व्यक्तित्व को आदर मिले और वह स्वतन्त्र रह कर कार्य करे।

(६) व्यवहारिक शिक्षा का सिद्धान्त—पुस्तक का ज्ञान कराने से व्यवहारिक ज्ञान नहीं होता है। इस पद्धति द्वारा अध्यापक बालकों को शरीर साफ रखने की विधि, कपड़ों के पहनने व साफ रखने की विधियाँ, चलने व बोलने की सभ्यता तथा साथ-साथ रहकर सहानुभूतिपूर्वक व्यवहारिक ज्ञान कराता है।

(७) खेल द्वारा शिक्षा का सिद्धान्त—मान्टेसरी शिक्षा पद्धति में भी अन्य पद्धतियों के समान ही खेल द्वारा शिक्षा देना सिद्धान्ततः माना गया है। अनेकों उपकरणों द्वारा भाषा गणित का ज्ञान बालकों को कराया जाता है। तात्पर्य यह है कि बालक का ज्ञान एवं अनुभव खेल द्वारा दी गयी शिक्षा से अवश्य प्रगतिशील होता है।

(८) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा का सिद्धान्त—वास्तव में ज्ञानेन्द्रियों से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। स्पर्श, कान, नाक, जिह्वा और आँख से ही अलग-अलग उपकरणों का प्रयोग कर बौद्धिक विकास होता है। श्रीमती के० भाटिया और बी० डी० भाटिया ने भी यही समर्थन में कहा है :

"She emphasizes the refinement of the senses so as to enable the children to discriminate better between the various stimuli that give rise to sensations of weight, colour, sound, touch and temperature and so to aid in exercising their judgment and reasoning."

अर्थात्—"वह इन्द्रियों की निर्मलता पर जोर देती हैं, जो बालक को विभिन्न उत्तेजकों के अन्तर नापने के योग्य बनावें। यह उत्तेजक ही वजन, रंग, ध्वनि, स्पर्श एवं तापक्रम का बोध कराते हैं ताकि तर्कशक्ति विकसित हो सके।"

मान्टेसरी शिक्षा पद्धति के अंग—मान्टेसरी शिक्षा पद्धति के तीन प्रमुख अंग हैं : (१) ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा, (२) कर्मेन्द्रियों की शिक्षा और (३) भाषा की शिक्षा।

ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा—ज्ञानेन्द्रियों से शिक्षा प्रदान करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि एक उपकरण से एक ही ज्ञानेन्द्रिय का प्रयोग हो, ताकि सुविधानुसार शिक्षा ग्रहण की जा सके। बालकों को उपकरण के आकार, समानता और उसकी विभिन्नता का बोध पूर्ण रूप से हो।

स्पर्शेन्द्रियों का ज्ञान मुलायम, खुरदरी, हल्की, भारी आदि विभिन्न वस्तुओं का अनुभव स्पर्श द्वारा कराके किया जाता है।। चक्षुन्द्रिय का ज्ञान रंगों व आकारों के खिलौने व वस्तुएँ कार्य में लाकर या दिखाकर कराया जाता है। श्रवणेन्द्रिय का छः बेलनों का उपयोग करके विविध ध्वनि उत्पन्न करके कराया जाता है। घ्राणेन्द्रिय को प्रशिक्षित करने के लिए गन्ध देने वाली वस्तुओं या द्रवों को शीशियों में भरकर प्रयोग किया जाता है। स्वादेन्द्रिय का बोध नमक, चीनी, खटाई आदि का स्वाद चखकर ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

कर्मेन्द्रियों की शिक्षा—कर्मेन्द्रियों का ज्ञान कराने के लिए शिक्षालय में बालकों को उठना-बैठना, दौड़ना-घूमना, संगीत, कपड़े पहनना, उतारना, भोजन बनाना, परोसना व खाना, बर्तन साफ करना, कमरा व कपड़े साफ करना, मेज-कुर्सी आदि का प्रयोग करना तथा विभिन्न भाँति के खेल-कूद, व्यायाम आदि क्रियाएँ कराई जाती हैं। इन क्रियाओं द्वारा बालक को शिक्षा मिलती है।

भाषा की शिक्षा—खुरदरे अक्षरों का स्पर्श कराके भाषा का ज्ञान कराया जाता है और लिखते समय उन शब्दों का उच्चारण द्वारा भी बोध कराते हैं। धीरे-धीरे अंकों की पढ़ाई की जाती है। बालक को अक्षरों व अंकों का ज्ञान विविध उपकरणों से कराया जाता है। इस भाँति मनोवैज्ञानिक एवं मनोरंजक विधि द्वारा बालक को शिक्षा दी जाती है।

मान्टेसरी शिक्षा पद्धति के गुण—मान्टेसरी शिक्षा पद्धति में निम्न गुण पाये जाते हैं :

(१) मान्टेसरी शिक्षा में बालक की रुचियों, दृष्टिकोणों, भावनाओं आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। बालक स्वतन्त्र वातावरण में विभिन्न उपकरणों से शिक्षा

ग्रहण करता है और प्रगति के पथ पर अग्रसर होता है। इस समर्थन में प्रसिद्ध दार्शनिक रस्क (Rusk) का कथन उल्लेखनीय है :

"But the most significant feature of this system is the individualisation of instruction."

अर्थात्—"इस पद्धति की अधिकांश महत्त्वपूर्ण विशेषता निर्देशन में वैयक्तिकता का स्थान है।"

(२) मान्टेसरी पद्धति में प्रत्येक बालक को अलग-अलग प्रशिक्षित किया जाता है; अतः वह अपनी क्षमतानुसार ही कार्य करता है। जैसा कि एडम्स (Adams) महोदय का कथन है :

"Montessori justly deserves true credit of sounding the knell of class teaching."

अर्थात्—"मान्टेसरी ने कक्षा (सामूहिक) शिक्षा का मृत्यु-संगीत ध्वनित किया जिसके लिए वे यश एवं बधाई के पात्र हैं।"

(३) मान्टेसरी पद्धति में भी खेलकूद शिक्षा-पद्धति के अनुसार मनोविज्ञान के स्वरूप, सिद्धान्त, निष्कर्ष आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। बालक अपने व्यक्तित्व का प्रत्येक अवस्था में विकास करने का अवसर प्राप्त करता है।

(४) मान्टेसरी पद्धति में लिखने-पढ़ने की विधि इतनी सरल है जो अन्य पद्धतियों में नहीं पायी जाती, जिससे अक्षर व अंकों का ज्ञान बालकों को पूर्ण रूप से हो जाता है।

(५) मान्टेसरी पद्धति में ज्ञानेन्द्रियों को पूर्ण प्रशिक्षित किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ-साथ बुद्धि का विकास भी अत्यधिक होता है।

(६) मान्टेसरी पद्धति में बालकों को रुचियों और क्षमताओं के आधार पर पढ़ने का अवसर होता है, फलतः हर समय कार्य में लगे रहने पर भी हर्ष व आनन्द का अनुभव करते हैं और शिक्षक को डाँटने या मारने की आवश्यकता नहीं होती। बालक आत्म-अनुशासन द्वारा नियन्त्रित रहते हैं।

(७) मान्टेसरी पद्धति में बालक के लिए मित्र, सहायक तथा पथ-प्रदर्शक के रूप में शिक्षक कार्य करते हैं। यदि शिक्षक उपकरणों के साथ खेलते बालकों को प्रोत्साहित करते हैं तो बालकों का उत्साह द्विगुणित होता है और वह अत्यधिक उन्नति करते हैं।

(८) बालकों को प्रत्येक कार्य स्वयं करना पड़ता है और वे अपनी रुचि से करते हैं। इस भाँति आत्म-निर्भरता, आत्म-अनुशासन, आत्म-विश्वास आदि गुणों का विकास पूर्णरूप से होता है।

(९) मान्टेसरी पद्धति में बालकों की व्यावहारिक एवं सामाजिक गुणों की पर्याप्त वृद्धि होती है। उन्हें सामाजिक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता है और सामाजिक कार्य करने पड़ते हैं।

(१०) बालक विभिन्न उपकरणों के साथ खेलने व पढ़ने में आनन्द का अनुभव करता है। वे इस आनन्द से थोड़े समय के लिए अलग नहीं रहता। उसे अल्पायु में ही रुचि के अनुसार कार्य करने का अवसर मिलता है। अतः मान्टेसरी पद्धति शिशुओं के लिए अत्यधिक उपयोगी शिक्षा है।

मान्टेसरी पद्धति के दोष

(१) मान्टेसरी पद्धति में केवल ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण पर ध्यान दिया जाता है। मन के साथ इन्द्रियों का भी विकास होता है, अतः यह एक अमनोवैज्ञानिक पद्धति है।

(२) बालकों को अपने व्यक्तित्व के प्रदर्शन करने के लिए समुचित क्षेत्र नहीं मिलता है क्योंकि मान्टेसरी पद्धति में सीमित क्षेत्र होता है।

(३) मान्टेसरी पद्धति में वास्तविकता का नहीं कृत्रिम परिस्थितियों का स्थान होता है। बालक बार-बार उन्हीं उपकरणों पर अध्ययन करता है।

(४) मान्टेसरी पद्धति उपकरणों को उपलब्ध करने के कारण महँगी पड़ती है। मध्यम और निम्न वर्ग के बालक इसका व्यय-भार नहीं उठा पाते।

(५) बालक उपकरणों के एक वृहत आडम्बर में फँस जाता है और वास्तविकता का ह्रास हो जाने के कारण घृणा करने लगता है।

(६) अमनोवैज्ञानिक होने के लिए एक कारण यह है कि अल्पायु का बालक इतना भार नहीं उठा पाता। शिक्षाशास्त्री स्टर्न का कथन है :

"This is premature transference of school method to a period of child's life, which is not ready for hard and fast system and conciously fixed aims of school like."

अर्थात्—"बड़ी आयु की शिक्षा पद्धति को छोटी आयु के बालकों में अपरिपक्व हस्तान्तरण है। वे इस कठोर व्यवस्था के लिए और शिक्षालय के जीवन के उद्देश्यों के लिए समर्थ नहीं होते हैं।"

(७) मान्टेसरी पद्धति में बालक को इतिहास, कला आदि की शिक्षा नहीं दी जाती है। इससे बालकों में मानवीय विचारों का वास्तविक रूप से विकास नहीं हो पाता है।

(८) मान्टेसरी पद्धति में बालकों को इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है परन्तु वे तो केवल उपकरणों तक ही सीमित होती है। बालक अन्य बालकों से बातचीत करने से वंचित रहते हैं और न खेल पाते है। अतः इस पद्धति में स्वतन्त्रता का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, जैसा कि डीवी महोदय का कथन है :

"There is a present tendency is no called advanced schools of educational thought........ to let us surround pupils with certain materials, tools and appliances etc........That is an unwarranted trespass upon their sacred intellectual individuality."

अर्थात्—"जिन्हें आज हम शैक्षणिक विचारों के प्रगतिशील स्कूल कहते हैं वे बालकों को कुछ निश्चित सामग्रियों, उपकरणों और साधनों से घेर देते हैं। यह बालकों के बौद्धिक व्यक्तित्व पर आधारित है।''

(९) साधारण शिक्षक मान्टेसरी पद्धति से शिक्षा नहीं दे सकते। भारत में इस शिक्षा के देने के लिए पूर्ण संख्या में शिक्षक नहीं मिलते क्योंकि यह शिक्षा स्त्रियाँ सुचारु रूप से देती हैं और शिक्षित स्त्रियों की संख्या कम है।

(१०) इन स्कूलों में पढ़ाई कम और खेल में अधिक समय नष्ट होता है। अतः प्रतिभाशाली बालकों को लाभ नहीं होता है। यही मेयर्स महोदय का कथन है :

"In general it is doubted whether her methods are as suitable to normal children as to sub-normal, whether the dedactic material is quite suited to needs of normal children as to others is also questionable."

अर्थात्—"सामान्यतया यह सन्देह किया जा सकता है कि उसकी विधियाँ जितनी मन्द बुद्धि वाले बालकों के लिए उपयुक्त हैं उतनी ही साधारण बालकों के लिए हैं, दूसरे बालकों की तरह उनके शिक्षोपकरण साधारण बालकों की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं—यह प्रश्न ही संदिग्ध है।"

मीमांसा—उपरोक्त वर्णन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मान्टेसरी पद्धति एक अद्वितीय पद्धति है। इस पद्धति के द्वारा बालकों का शारीरिक, मानसिक एवं रचनात्मक शक्ति का विकास होता है। अनेकों दोषों के पाये जाने पर भी परिस्थिति के अनुसार सुधार करने पर उपयोगी सिद्ध हो सकती है। शिक्षा शास्त्री जी० एस० पुरी (G. S. Puree) ने इसके समर्थन में व्यक्त किया है :

"The Montessori system of educatisson has had a manysided effect on the work done in schools."

प्रश्न ४१—किण्डरगार्टन पद्धति के प्रमुख सिद्धान्त तथा विधियों का उल्लेख कीजिए। (उ० प्र० १९६१ व ६४)

भूमिका—किण्डरगार्टन शिक्षा पद्धति का प्रचलन फ्रेडरिक विलियम आगस्त फ्रोबेल (Frederic William August Froebel) ने किया था। सन् १८२६ ई० में उन्होंने एजूकेशन ऑफ मैन (Education of Man) नामक पुस्तक लिखी थी। फ्रोबेल को क्रान्तिकारी समझकर जर्मन राज्य ने उनके स्थापित किये स्कूल को बन्द कर दिया था। इस पद्धति को विश्व में उनकी मृत्यु के बाद अपनाया गया है।

अर्थ एवं परिभाषा—किण्डर और गार्टन शब्दों के योग से किण्डरगार्टन शब्द बना है जिसका अर्थ है बालक और बगीचा। बालकों से प्रेम, सहानुभूति तथा दया का व्यवहार करना इस पद्धति का गुण है। किण्डरगार्टन के स्वरूप पर अध्ययन करते हुए श्री आर० आर० रस्क (R. R. Rusk) महोदय ने स्पष्ट उल्लेख किया है :

"Kindergarten is an institution for young children in which proper folding, mat-weaving, clay-modeling, symbolic games and

action songs are employed according to a methodical and systematic procedure."

अर्थात्—"किण्डरगार्टन छोटे बच्चों के लिए एक स्कूल है जिसमें बच्चों को उचित प्रकार से तह करने, चटाई बुनने, मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने, सांकेतिक खेलों तथा क्रियात्मक गीतों को उचित ढंग से तथा क्रम से सिखाया जाता है।"

किण्डरगार्टन शिक्षण-पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त—विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर किण्डरगार्टन पद्धति के नियम व सिद्धान्त निम्न हैं :

(१) मनुष्य जन्म से अपने साथ कुछ प्रवृत्तियों को लेकर आता है, अतः वह कुछ न कुछ कार्य अवश्य करेगा। इस सिद्धान्त से फ्रोबेल (Froebel) महोदय के शब्द हैं :

"The tree germ bears within itself the nature of the whole tree... the development and formation of the whole future life of each being is contained in the beginning of existance."

अर्थात्—"पेड़ का बीज अपने सम्पूर्ण पेड़ का रूप धारण किये रहता है। प्रत्येक वस्तु का भावी विकास और रूप उत्पत्ति के समय ही उसमें होता है।" अतः बालक अपनी क्रियाओं और भावनाओं को पूर्ण करने के लिए मन से कार्य करता है।

(२) इसी प्रकार फ्रोबेल (Froebel) ने खेल के माध्यम को स्वीकार कर बालकों की स्वाभाविक क्रिया को खेल कहा है। उनके मतानुसार :

"Play is the purest, most spiritual activity of man at this stage and at the same time, typical of human life as a whole of the inner hidden natural life in man all things. It gives, therefore, joy, contentment, inner and outer rest, peace with the world. It holds the sources of all that is good."

अर्थात्—"बचपन के खेल मनुष्य के शुद्ध आध्यात्मिक कार्य हैं और साथ ही साथ खेल में मनुष्य का आन्तरिक जीवन प्रकट होता है। वह इसलिए आनन्द, स्वतन्त्रता, सन्तोष, आन्तरिक एवं वाह्य आराम तथा संसार के साथ शान्ति प्रदान करता है। खेल समस्त अच्छाइयों का उद्गम है।"

(३) स्व-शिक्षा और खेल को शिक्षा का सिद्धान्त मानने के साथ समाज को स्थान देना अनिवार्य है क्योंकि खेलों का सामूहिक रूप होता है। सामूहिक खेलों में बालक सहयोग, सहानुभूति एवं एकता की भावना सीखता है।

(४) बालकों को स्वतन्त्र वातावरण भी अनिवार्य है। स्वतन्त्र वातावरण में बालक अपनी रुचि और भावना का प्रयोग स्व-शिक्षा के आधार पर कर सकता है या खेल में अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। डगन (Duggon) महोदय के मतानुसार :

"Education must provide for the development of the free

personality of every child, it must guide but not restrict, it must not interfere with the divinity in each child."

अर्थात्—"शिक्षा को प्रत्येक बालक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास के लिये अवसर देना चाहिए, मार्ग प्रदर्शन करना चाहिए।"

किण्डरगार्टन पद्धति के खेल—इस शिक्षण पद्धति में अपनाये खेलों को चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) मनोरञ्जक एवं रचनात्मक खेल।
(२) कल्पना शक्ति को विकसित करने वाले खेल।
(३) सामूहिक एवं सहयोग की भावना में वृद्धि करने वाले खेल।
(४) चरित्र निर्माण में विकास करने वाले खेल।

इन खेलों के सम्बन्ध में फ्रोबेल (Froebel) महोदय का मत है :

"In the Kindergarten the children are guided to bring out their play in such a manner as really to reach the aim desired by nature, that is to serve for their development."

अर्थात्—"किण्डरगार्टन पद्धति में बालकों का मार्ग प्रदर्शन ऐसे खेल खेलने के लिए किया जाता है जिससे ये अपने निश्चित लक्ष्य को प्राप्त कर सकें, अर्थात् उनके विषय में सहायता प्राप्त हो।"

शिक्षा का स्वरूप—शिक्षकों को बालकों के प्रति प्रदर्शन करने के लिए यह आवश्यक है कि वे गीत, गीत एवं रचनायें प्रस्तुत करें, जिससे बालक को विचारों के विकास में प्रोत्साहन मिले।

शिक्षा सामग्री—मातृ खेल एवं शिशु गीतों की पुस्तक, उपहार जैसे वेलनाकार, गोल या घन आकार की वस्तुएँ अथवा व्यापार कार्य करने के लिए कागज, कैंची, धागा, पेन्सिल, खिलौने, फूल आदि अनेकों विभिन्न वस्तुयें। यह समस्त सामग्री बालकों में प्रेम, कौतूहल, आत्म नियन्त्रण, निरीक्षण और बुद्धि के विकास में सहायक सिद्ध होती है।

किण्डरगार्टन पद्धति के गुण—अन्य पद्धतियों की भाँति इस पद्धति में भी गुण एवं दोष दोनों ही हैं। प्रमुख गुण निम्न हैं :

(१) किण्डरगार्टन पद्धति में आत्म-क्रिया पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिस कारण बालक में आत्म विश्वास, आत्म शक्ति और क्रियाशीलता उत्पन्न होती है।

(२) किण्डरगार्टन पद्धति अन्य पद्धतियों की तुलना में सरल एवं आकर्षक पद्धति है। बालक अपनी रुचि के अनुसार ही क्षेत्र प्राप्त करता है और ज्ञान प्राप्त करता है।

(३) किण्डरगार्टन पद्धति में व्यावसायिक क्रियाओं का भी स्थान है। विभिन्न रूपों में क्रियाओं को सम्पादित कर बालक भविष्य में योग्य नागरिक बनता है।

(४) इस पद्धति से पढ़ाने के कारण शिक्षक का रूप एक मित्र एवं पथ-प्रदर्शक के सदृश है क्योंकि व्यावसायिक क्रियाओं में शिक्षक सहयोग देकर ही प्रशिक्षण देते हैं।

(५) किण्डरगार्टन पद्धति के सिद्धान्तों में सामूहिक क्रियाओं का योग है। अत: वालक में नैतिक तथा सामाजिक गुणों का प्रादुर्भाव होता है। वह समाज के प्रति प्रेम करने लगता है।

(६) किण्डरगार्टन पद्धति में वालक प्रत्यक्षीकरण में योग्य हो जाते हैं। क्योंकि वालक की ज्ञानेन्द्रियाँ पूर्ण रूप से प्रशिक्षित हो जाती हैं। उसकी मानसिक क्रियाओं में स्पष्टता एव तत्परता आती है।

(७) किण्डरगार्टन पद्धति में वागवानी का विषय है जिससे वालक में फल-फूल के प्रति प्रेम होता है। फलत: सौन्दर्य का विकास होता है।

(८) किण्डरगार्टन पद्धति के सिद्धान्तों में सार्वभौमिकता विद्यमान है। इसकी सीमा एक देश तक ही नहीं वल्कि सम्पूर्ण विश्व में है प्रत्येक शिक्षालय में इसका प्रभाव पाया जाता है।

(९) किण्डरगार्टन पद्धति पशुओं के लिए अत्यधिक उपयुक्त है।

दोष—(१) किण्डरगार्टन पद्धति की विचारधारा मनोवैज्ञानिक है। साथ ही अत्यधिक दार्शनिक भी है, जो शिक्षकों की समझ से भी परे है।

(२) यह पद्धति आडम्वरपूर्ण है। वालक का अधिकांश समय गीतों में और खेलों में व्यतीत हो जाता है।

(३) वालकों को मिलने वाले उपहार एवं व्यवसाय वास्तविक जीवन से इतने दूर हैं कि उन्हें स्वतन्त्रता का क्षेत्र ही नहीं मिल पाता।

(४) सामूहिक कार्यों के कारण व्यक्तिगत कार्यों की उपेक्षा की गई है।

(५) किंण्डरगार्टन पद्धति में विभिन्न विषयों का समावेश नहीं हो पाता।

(६) प्रणाली महँगी है जो भारत जैसे देश के उपयुक्त नहीं है।

(७) गीतों की शृंखला प्राचीन है। वह प्रत्येक स्थान व देश के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

मीमांसा—गुणो एवं दोषों का विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि किण्डरगार्टन पद्धति उपयोगी है परन्तु वास्तविकता से परे होने के कारण कुछ परिवर्तन होना आवश्यक है। सामाजिक एकता का आधिक्य अनुचित है अत: मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिवर्तन आवश्यक है, जैसा कि डा० जेम्स वार्ड (Dr. James Ward) ने समर्थन किया है :

"The Kindergarten system in the hands of one who unperstands, is produces good results but it is apt to be too mechanical and formal. There does not seem room for the in dividuality of child, to which all free play shoud bgiven in the earliest years."

अर्थात्—"किण्डरगार्टन पद्धति की प्रशंसनीय सफलता उस व्यक्ति पर आश्रित है जो उससे सुपरिचित है, किन्तु इसके यन्त्रवत् तथा निष्प्राय होने की भी गुंजाइश है। बालक की वैयक्तिकता के पर्याप्त स्थान का इसमें अभाव है जिसकी प्रारम्भिक शिक्षा में अत्यन्त आवश्यकता होती है।"

इतने पर भी किण्डरगार्टन पद्धति एक श्रेष्ठ पद्धति है जिसके समर्थन में रस्क महोदय का स्पष्ट कथन है :

"Forebel's recognition of the native capacities of children, his loving attention to them represent perhaps the most effective single force in modern educational theory in effecting, wide spread acknowledgement of the idea of growth."

अर्थात्—"फ्रोवेल द्वारा बालक की जन्मजात शक्तियों का पहचानना एवं उनकी ओर प्रेमपूर्ण ध्यान देना और उसका प्रभाव जिसने दूसरों को उनके अध्ययन की प्रेरणा दी मिलकर आधुनिक शिक्षा सिद्धान्त में एक प्रभावशाली एवं अद्वितीय शक्ति की स्थापना करती है, जिसने विकास के दृष्टिकोण की व्यापक स्वीकृति को कार्यान्वित किया है।"

प्रश्न ४२—मान्टेसरी पद्धति एवं किण्डरगार्टन पद्धति का तुलनात्मक वर्णन कीजिए।

भूमिका—मान्टेसरी शिक्षा पद्धति एवं किण्डरगार्टन शिक्षा पद्धति की विधियों का अध्ययन पृथक रूप से किया तो यह आभास हुआ कि दोनों पद्धतियों में समानता ही है। परन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों पद्धतियों में समानता की अपेक्षा असमानता अधिक है। अत: यह तुलनात्मक अध्ययन करते हैं :

समानता—(१) दोनों ही पद्धतियों में ३ वर्ष से ७ वर्ष तक के बालकों की शिक्षा का आयोजन किया गया है।

(२) मान्टेसरी शिक्षा पद्धति में शिक्षोपकारणों का प्रयोग होता है, परन्तु किण्डरगार्टन पद्धति में उपहारों का प्रयोग किया जाता है।

(३) दोनों ही पद्धतियों में ज्ञानेन्द्रियों को साधने का सफल प्रयास किया जाता है।

असमानता—(१) मान्टेसरी शिक्षा पद्धति में वैज्ञानिकता का समावेश अधिक है तो किण्डरगार्टन शिक्षा पद्धति में दार्शनिकता का पुट अधिकता से है।

(२) बालकों को पृथक-पृथक सीखने का कार्य मान्टेसरी पद्धति में है परन्तु किण्डरगार्टन पद्धति में सामूहिक वातावरण में बालकों को शिक्षा दी जाती है।

(३) मान्टेसरी शिक्षा का कार्य बालक की इच्छा पर निर्भर है, परन्तु किण्डरगार्टन पद्धति में कक्षा अध्यापन एवं समय विभाग चक्र के अन्तर्गत कार्य करके शिक्षा दी जाती है।

(४) मान्टेसरी शिक्षा पद्धति शिक्षोपकरणों पर पूर्ण रूप से आधारित है और सम्बन्धित खेलों पर विशेष वल दिया जाता है। किण्डरगार्टन शिक्षा पद्धति का शिक्षा देने का आधार उपहार, खेल, गीत, संगीत और भाव गति पर ही आधारित है।

(५) जहाँ मान्टेसरी शिक्षा पद्धति में प्रतिदिन की दिनचर्या पर ध्यान देते हैं वहाँ किण्डरगार्टन पद्धति में वाग, वगीचों और प्रकृति सम्बन्धी अध्ययन पर ही शिक्षा दी जाती है।

(६) मान्टेसरी पद्धति में वालक स्वतन्त्र अनुशासन एवं आत्मसंयम की शिक्षा पाता है। किण्डरगार्टन पद्धति में बालक कक्षा-अध्यापन, नेतृत्व एवं सामा-जिक गुण सीखता है।

मीमांसा—दोनों प्रकार की पद्धतियाँ देश काल के अनुसार ही उपयुक्त हैं। भारत जैसे देश के लिए दोनों पद्धतियों का थोड़ा-थोड़ा समयोपयोगी साधन लेकर शिक्षा प्रदान करके वालक को ज्ञान प्रदान किया जा सकता है।

प्रश्न ४३—डाल्टन शिक्षा पद्धति के क्या सिद्धान्त हैं? इस सिद्धान्त की कार्य विधि बतलाते हुए इसके गुण व दोषों पर प्रकाश डालिए। **(उ० प्र० १९६७)**

भूमिका—अमरीका के डाल्टन नामक नगर में श्रीमती हेलेन पार्कहर्स्ट ने डाल्टन शिक्षा पद्धति की स्थापना की। तत्कालीन १९१४ का विश्व युद्ध ही इस शिक्षा पद्धति का आधार था। पद्धति के मूल में वालकों की स्वतन्त्रता की विचार धारा काम करती है। इसका स्पष्ट अध्ययन अर्थ व उद्देश्यों के द्वारा ही समझा जा सकता है।

अर्थ—डाल्टन पद्धति में वालक को एक लम्बे काल तक एक सप्ताह अथवा एक माह का कार्य दिया जाता है। समय का किसी भाँति का वन्धन न होने पर वालक स्वतन्त्र रूप से अपने कार्य को प्रयोगशालाओं में पूरा करने का प्रयास करता है। बालक अपनी रुचि तथा इच्छानुसार अपने कार्यों को सुविधानुसार प्रयोगशालाओं में निर्धारित समय में पूरा करते हुए अपने व्यक्तित्व का उत्तरदायित्वपूर्ण उचित विकास करने का अवसर प्राप्त करता है। ग्रेव्ज (Graves) महोदय ने इस पद्धति के विश्लेषण में व्यक्त किया है :

"Dalton plan involves a species of 'Contract system' in which each pupil agrees to complete the amount of work in a given period....and is left to his own devices as to ways and means of accomplishing it."

अर्थात्—"डाल्टन पद्धति में एक ऐसी ठेका व्यवस्था होती है जिसमें वालक एक निर्धारित समय में कार्य को पूरा करने को स्वीकार करता है और उस कार्य को पूरा करने के साधन एवं विभागों के चयन करने का कार्य उसी पर निर्भर रहता है।"

संस्थापिका महोदय श्रीमती पार्कहर्स्ट के (Parkhurst) के मतानुसार :

"Dalton plan is a piece of machinery for putting into operation the principle of individual work. It is simple and economic recognization of the school whereby, pupils and teachers function to better advantage."

अर्थात्—'डाल्टन पद्धति एक यान्त्रिक व्यवस्था है जिसमें कि वैयक्तिक कार्य के सिद्धान्त को व्यवहार में लाया जाता है। यह शिक्षालयों का सरल एवं आर्थिक पुनर्संगठन है, जहाँ शिक्षक एवं शिक्षार्थी को अधिक उपयोगी समय से कार्य करने के लिए अवसर प्राप्त होते हैं।"

उद्देश्य—डाल्टन शिक्षा पद्धति के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुये स्वयं श्रीमती पार्कहर्स्ट (Parkhurst) ने व्यक्त किया है :

"The aim of Dalton Plan was to create a new type of educational society by putting boys and girls under entirely different condition of living from those provided in the ordinary class room and reorganise the community life of the school."

अर्थात्—"डाल्टन शिक्षा पद्धति का उद्देश्य बालकों एवं बालिकाओं को साधारण स्कूल के वातावरणों से प्रथक नवीन वातावरण में रखकर नवीन शैक्षणिक समाज की रचना करना है एवं स्कूल के जीवन का पुनर्गठन करना है।"

इस नवीन शिक्षा पद्धति में बालकों के लिए एक सरल एवं आनन्द देने वाला वातावरण निर्माण किया जाता है ताकि बालक स्कूल स्वयं रुचि से आयें और शिक्षा ग्रहण करें।

आधारभूत सिद्धान्त—अन्य पद्धतियों की भाँति डाल्टन शिक्षा पद्धति के भी आधारभूत सिद्धान्त निम्न हैं :

(१) शिक्षार्थी की प्रधानता—डाल्टन शिक्षा पद्धति में शिक्षक की अपेक्षा उसके शिक्षार्थी को महत्त्व दिया जाता है। फलतः शिक्षार्थी का विकास उसके द्वारा किये गये या प्राप्त हुए वास्तविक ज्ञान से सुदृढ़ होता है।

(२) शिक्षार्थी की स्वशिक्षा—अन्य शिक्षा पद्धतियों के अनुसार इस पद्धति में समय का कोई वन्धन नहीं होता है। अतः शिक्षार्थी को अपनी सफलता और शिक्षा ग्रहण करने में अपनी रुचि के अनुसार अध्ययन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। फलतः उसमें आत्मविश्वास एवं आत्म-निर्भरता की वृद्धि होती है।

(३) व्यक्तिगत विभिन्नता—डाल्टन शिक्षा पद्धति में शिक्षार्थी के व्यक्तिगत भेद का ध्यान रखा जाता है। अतः शिक्षार्थी को अपनी रुचि के अनुसार विषय का चयन करने का अवसर मिलता है।

(४) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण—बालक डाल्टन पद्धति में स्वयं अपने कार्यों पर दृष्टि रखता है। गलती होने पर स्वयं सुधारने का प्रयास करता है।

(५) शिक्षक का स्थान—डाल्टन पद्धति में शिक्षक एक पथ-प्रदर्शक के समान है। वह बालकों के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं करता है बल्कि सहायता करता है।

(६) सामूहिक शिक्षा संस्था—बालक परस्पर वार्तालाप, विचार-विमर्श करते और समस्याओं का हल खोजने का प्रयास करते हैं। फलतः उनमें सामाजिक एवं नागरिक भावना का प्रादुर्भाव होता है।

(७) स्वतन्त्रता—डाल्टन पद्धति बालकों को पूर्ण से रूप स्वतन्त्रता प्रदान करती है। जैसा कि मिस वेला रानी (Miss Bela Rani) ने व्यक्त किया।

"It aims at giving to the elder child that freedom for self-development which has proved so valuable in the sohool life of the infant while at the same time ensuring by the curriculum of the school."

(८) परीक्षा का रूप—डाल्टन पद्धति में परीक्षाएँ अन्य पद्धतियों के समान नहीं ली जाती हैं बल्कि इसमें बालकों के काय की प्रत्येक दिन माप होती रहती है फलतः शिक्षार्थी प्रतिदिन अधिकाधिक कार्य करने का प्रयत्न करता है।

डाल्टन शिक्षा पद्धति की कार्य प्रणाली—डाल्टन पद्धति में निम्न कार्यों द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती है :

(१) पाठ का ठेका—पूरे वर्ष के कार्य की रूपरेखा विद्यार्थी को कक्षा प्रवेश के समय ही मिल जाती है। उसे यह वता दिया जाता है कि कब तक किस कार्य को पूरा कर लेना है।

(२) कार्य का निर्दिष्ट रूप—साप्ताहिक कार्य का निर्देशन विद्यार्थी को दिया जाता है। शिक्षक विद्यार्थी की योग्यता के अन्तर्गत ही उसे निर्दिष्ट पाठ देता है।

(३) कार्य-इकाई—कार्य का साप्ताहिक विभाजन विद्यार्थी को दिया जाता है। पाँच सप्ताह का कार्य मिल कर एक कार्य-इकाई होता है। एक माह का कार्य पूरा कर लेने पर माह के अन्त होने से पूर्व ही अगले माह का कार्य मिल जाता है, यदि वालक तीक्ष्ण बुद्धि वाला है।

(४) सम्मेलन—प्रतिदिन शिक्षालय में विद्यार्थियों एवं शिक्षक का एक सम्मेलन होता है। विद्यार्थी प्रयोगशाला में कार्य करते हैं और साथ-साथ फिर विचार-विमर्श करते हैं।

(५) रेखाचित्र—विद्याथ की प्रगति ज्ञात करने के लिए प्रयोगशाला में एक रेखाचित्र रहता है और एक प्रतिलिपि विद्यार्थी के पास रहती है। एक अन्य रेखाचित्र पूरी कक्षा का होता है। इन रेखाचित्रों में बालक एवं कक्षा की प्रगति का विवरण रहता है।

डाल्टन-शिक्षा पद्धति के दोष :

(१) डाल्टन शिक्षा पद्धति में बालक अपनी योग्यतानुसार प्रगति करने का अवसर प्राप्त करता है। इसके समर्थन में शिक्षाशास्त्री के० भाटिया एवं बी० डी० भाटिया (K. Bhatia and B. D. Bhatia) का कथन है :

"Each pupil gets an opportunity to work at his own rate."

अर्थात्—"प्रत्येक शिक्षार्थी अपनी स्व-इच्छा पर कार्य करने का अवसर प्राप्त करता है।"

(२) एक विद्यार्थी का कार्य दूसरे विद्यार्थी पर निर्भर नहीं होता है। हर एक विद्यार्थी पृथक-पृथक कार्य करता है और निरन्तर कर सकता है।

(३) समय का सदुपयोग करने का अवसर प्रत्येक विद्यार्थी को प्राप्त होता है। विद्यार्थी निरन्तर प्रयास करके पास ही होता है फेल होने का कोई स्थान नहीं होता, जैसा कि शिक्षाशास्त्री आई० बी० वर्मा (I. B. Verma) का मत है :

"There are no 'failures' and no waste of time on the part of the pupil."

(४) बालक इच्छित विषय का आवश्यकतानुसार अध्ययन करता है। सरल विषयों पर कम और कठिन विषयों पर अधिक समय देने की स्वतन्त्रता रहती है।

(५) विषय का ज्ञान करने के लिए विभिन्न पुस्तकों का उपयोग करने की बालक को स्वतन्त्रता रहती है। वह अन्य साधनों द्वारा विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

(६) बालक आवश्यकतानुसार अपना विषय पढ़ते हैं और उसका ज्ञान स्वयं प्राप्त करते हैं। फलतः उनमें उत्तरदायित्व की शिक्षा प्राप्त होती है। के० भाटिया और बी० डी० भाटिया ने इसके समर्थन में व्यक्त किया है :

"Training in the acceptance of responsibility is a valuable feature of the plan."

(७) शिक्षक एक पथ-प्रदर्शक के समान होता है। शिक्षकों से आवश्यकतानुसार सहयोग प्राप्त हो सकता है। पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे रहते हैं।

(८) शिक्षक बिना डराये या धमकाये पढ़ाने का प्रयास करते हैं, उनका विद्यार्थियों पर विश्वास होता है। अतः बालक स्वतन्त्र वातावरण में इच्छित कक्षा में प्रवेश कर सकता है।

(९) प्रतिदिन के सम्मेलन एवं विचार-विमर्श सभाओं में परस्पर समस्याओं को हल करते हैं एवं सहयोग देते हैं।

(१०) उत्तरदायित्व ग्रहण करने, समय का सदुपयोग करने एवं स्वतन्त्र वातावरण में पढ़ने से बालक की अनुशासन की समस्या का स्वाभाविक रूप से समाधान हो जाता है। अर्थात् शिक्षालय में अनुशासन की समस्या नहीं रहती।

(११) डाल्टन पद्धति में रेखाचित्रों का रिकार्ड होना विद्यार्थियों की प्रगति को प्रमुख रूप से सहयोग देता है। इन रेखाचित्रों में विद्यार्थी की प्रगति का पूर्ण विवरण रहता है जो प्रगति की प्रेरणा में सहायक होता है।

डाल्टन पद्धति का दोष :

(१) वैयक्तिक शिक्षण की प्रमुखता के कारण सामूहिक भावना का विकास नहीं हो पाता है।

(२) बालकों को स्वतन्त्र वातावरण मिलता है परन्तु शिक्षकों की स्वतन्त्रता का अपहरण हो जाता है। वह बालकों का रेखाचित्र बनाने में लगे रहते हैं।

(३) शिक्षकों का व्यक्तित्व बालकों को प्रभावित नहीं करता अतः बालकों का चरित्र निर्माण नहीं होता है।

(४) डाल्टन पद्धति में मौखिक कार्यों का अभाव है। फलतः भाषा का विकास भी समुचित नहीं होता है।

(५) सामूहिक शिक्षा—नाटक, संगीत, ड्रिल, परेड आदि का किसी भाँति प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है।

(६) प्रशिक्षित एवं अनुभवी शिक्षकों का अभाव रहता है।

(७) विषय एक दूसरे से सानुबन्ध नहीं होते क्योंकि शिक्षक अपने-अपने विषय में विशेषज्ञ होते हैं।

(८) विद्यार्थी कार्य करने की अपेक्षा दूसरों से करा लेते या नकल कर लेते हैं। फलतः वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता।

(९) डाल्टन पद्धति एक व्ययशील पद्धति है। प्रयोगशालाओं पर अधिक व्यय होता है।

(१०) समस्त पुस्तकों पर उपयुक्त पुस्तकों का अभाव रहता है। बिना पुस्तकों के पद्धति उचित रूप से कार्यान्वित नहीं हो सकती है। जैसा कि के० भाटिया और बी० डी० भाटिया (K. Bhatia and B. D. Bhatia) ने व्यक्त किया है :

"We cannot overlook the problem of the lack of suitable sufficient books in different subjects for use by pupils."

मीमांसा—डाल्टन पद्धति का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि बालकों को नवीन वातावरण में रखकर नवीन शिक्षित समाज की रचना की जाती है। बालक की प्रधानता है, शिक्षक की नहीं। परीक्षा का विशेष रूप व प्रगति सूचक रेखाचित्र इस पद्धति के विशेष रूप हैं। यदि इसके दोषों को दूर किया जाय तो यह एक श्रेष्ठ शिक्षा पद्धति सिद्ध हो सकती है।

प्रश्न ४४—ह्यूरिस्टिक और फ्रोबेल शिक्षा पद्धतियों में से आप किस पद्धति को अधिक अच्छा समझते हैं ? और क्यों ?

भूमिका—ह्यूरिस्टिक अथवा फ्रोबेल शिक्षा पद्धति की जब तक पूर्ण परिभाषा, उनके गुण-दोष एवं सिद्धान्तों का अध्ययन न करलें, यह कहना

कठिन है कि कौन सी पद्धति श्रेष्ठ है। अतः प्रथम दोनों पद्धतियों का अध्ययन करना है।

ह्यूरिस्टिक पद्धति का अर्थ एवं परिभाषा—इस पद्धति के संचालक प्रो० आर्मस्ट्रोंग थे। इस पद्धति का प्रचलन ही इसके नाम से ज्ञात होता है। ह्यूरिको का अर्थ है—'मैं खोजता हूँ।' अर्थ के अनुसार स्वयं ज्ञान पाना ही इस पद्धति का उद्देश्य है। बालकों में मानसिक विकास करना, अपनी तर्क शक्ति के आधार पर सत्य और असत्य के तथ्यों को खोजना ह्यूरिस्टिक पद्धति का सिद्धान्त है।

ह्यूरिस्टिक पद्धति के गुण—विद्यार्थी व शिक्षक के बीच एक उत्तम सम्बन्ध निर्मित होता है। विद्यार्थी अनेकों प्रकार की विभिन्न पुस्तकों को पढ़कर स्वयं ही उच्च शिक्षा प्राप्त करता है। फलतः उसे परिश्रम करने का अनुभव हो जाता है। शिक्षक विद्यार्थी पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देता है। विद्यार्थी को तर्क करने, क्रियान्वित करने की आदत पड़ती है। वह आत्म निर्भरता का वोध करता और सत्य की ओर अग्रसर होता है। उसमें अपना विकास स्वयं करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। समस्त गुणों का प्रादुर्भाव होता है जो एक अच्छा नागरिक वनने के लिए आवश्यक होते हैं।

ह्यूरिस्टिक पद्धति के दोष—अल्पायु में बालक को स्वयं ज्ञानार्जन करने की क्षमता नहीं होती। अतः ह्यूरिस्टिक पद्धति उन पर उपयोग करना असम्भव है। बालक शिक्षक के प्रश्न का उत्तर अपनी-अपनी योग्यतानुसार देते हैं जो भिन्न-भिन्न होते हैं। विषय पर एकरूपता न आने का यही कारण है। प्रत्येक विद्यार्थी अपने हल को उचित और दूसरों के हलों को त्रुटिपूर्ण समझता है, जो द्वेष को जन्म देता है। शिक्षकों को प्रथम अध्ययन करना पड़ता है। दूसरे इस पद्धति के अनुसार पुस्तकें भी पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं हैं। विद्यार्थी का ज्ञान अपूर्ण रह जाता है।

फ्रोवेल पद्धति का अर्थ एवं परिभाषा—फ्रोवेल महोदय ने अपनी पुस्तक मदर एण्ड प्ले सोंग्स् (Mother and Play songs) में फ्रोवेल शिक्षा का पूर्ण विवरण लिखा है। फ्रोबेल की परिभाषा के अनुसार बालक में प्रत्येक गुण जन्म से ही विद्यमान होते हैं। शिक्षा द्वारा इन गुणों का विकास किया जाता है। बालकों को स्वतन्त्रतापूर्वक खेल एवं क्रियाओं द्वारा स्वयं अपना विकास करने का अवसर प्राप्त होता है।

सिद्धान्त—जैसा कि फ्रोबेल महोदय का कथन है कि बच्चों की खेलने की प्रवृत्ति जन्म से ही होती है, उन्होंने बच्चों को शिक्षा देने का माध्यम खेल ही बताया है। खेल को शिक्षा का आधार मान शिक्षा देने से बच्चे सुगमता से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

खेलने की प्रवृत्ति के समान ही बच्चों में स्वक्रिया करने की शक्ति जन्म से ही निहित रहती है। बच्चों को ऐसा वातावरण उपलब्ध करना चाहिए कि वे

स्वक्रियाओं की स्वतन्त्रता से कर सकें। यदा-कदा उपहार व पुरस्कार देकर स्वक्रिया को विकसित करने का अवसर देना चाहिए।

स्वतन्त्र भावना जन्म से प्रत्येक मानव-प्राणी में होती है। बच्चा जब सोता, रोता, खेलता है तो उसकी किसी प्रकार की स्वतन्त्रता की भावना को रोकना नहीं चाहिए। रोकने-टोकने की भावना से बच्चों के मानसिक विकास में बाधा पहुँचती है। दूसरे उनकी आश्रित रहने की भावना प्रबल होने लगती है।

मानव सामाजिक प्राणी है। स्वस्थ सामाजिकता एवं सामूहिकता का होना बालक के लिए अति आवश्यक है। फ्रोबेल पद्धति में सामूहिकता का विकास खेल द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है। बच्चा अन्य बच्चों के साथ अपने निहित गुणों का विकास स्वयं करता है। उसे सामूहिकता का परिचय बच्चों में ही प्राप्त होता है।

मीमांसा—ह्यूरिस्टिक पद्धति एवं फ्रोबेल पद्धति के सिद्धान्त एवं गुणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि खेलने और रचनात्मक क्रियाओं में विशेष ध्यान देने से बालक में निहित गुणों का विकास होता है। अतः इन दोनों पद्धतियों में विशेष अन्तर नहीं। बालक को पढ़ाने अथवा प्रशिक्षित करने के लिए उपयुक्त पद्धति बालक की प्रवृत्ति पर ही निर्भर है।

प्रश्न ४५—योजना शिक्षा पद्धति से आप क्या समझते हैं। योजना शिक्षा पद्धति के गुण व दोष सविस्तार समझाइए ?

भूमिका—श्री डब्ल्यू० एच० किल्पैट्रिक (W.H. Kilpatrick) प्रयोजनवादी इस योजना शिक्षा पद्धति के संस्थापक माने जाते हैं। इन्होंने प्रयोजनवाद के सिद्धान्तों पर ही इसका निर्माण किया है। योजना शिक्षा पद्धति का अध्ययन करने के लिए इसकी आवश्यकता, अर्थ, परिभाषा, आधारभूत सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली, भेद तथा इसके गुण एवं दोषों पर विश्लेषण करना आवश्यक है।

आवश्यकता—श्री किल्पैट्रिक महोदय ने इस पद्धति का जन्म निम्न विचारों से व्यक्त होकर किया है, उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है :

"At present school society are sharply and widely separated. Thought and action in the two realms are discovered, in space, time and in kind. There is on the whole but little connection between what is studied in school and what is going on in the world outside school."

अर्थात्—"आधुनिक समय में शिक्षालय एवं समाज तीव्र एवं विस्तृत रूप से एक दूसरे से पृथक हो गये हैं। विचार एवं कार्य दो क्षेत्रों में स्थान, समय और भेद में असम्बन्धित हो गये हैं। शिक्षालय में जो कुछ अध्ययन किया जाता है एवं संसार में जो कुछ हो रहा है, दोनों में बहुत ही कम सम्बन्ध है।"

इस उपरोक्त कमी को दूर करने के लिए योजना पद्धति का निर्माण किया गया। इसके प्रमुख उद्देश्यों में यह ध्यान रखा गया कि शिक्षालयों में नीरस वाता-

वरण है, जहाँ बालकों को तर्क, विचार और कार्य करने का अवसर नहीं मिलता। शिक्षालयों में दी जाने वाली शिक्षा का जीवन में कोई लाभ नहीं होता। बालकों की रुचि, प्रवृत्ति एवं आवश्यकता पर ध्यान नहीं होता है। शिक्षा में सामाजिक दृष्टिकोण की उपेक्षा होती है।

योजना या प्रोजेक्ट का अर्थ एवं परिभाषा—योजना में उद्देश्यपूर्ण, स्वाभाविक, सार्थक एवं रुचिपूर्ण कार्य का आयोजन होता है। इन विचारों से पूर्ण शिक्षा देने से शिक्षालय योजना या प्रोजेक्ट पद्धति के अन्तर्गत कार्य करने वाले कहलाते हैं। यह दो प्रकार के माने गये हैं: (१) व्यक्तिगत एवं (२) सामाजिक। बालक की व्यक्तिगत आधार पर बनायी योजना व्यक्तिगत योजना कहलाती है और सामाजिकता एवं नागरिकता के आधार पर निर्मित योजनाएँ सामाजिक योजना कहलाती हैं। श्री डब्ल्यू० एच० किल्पैट्रिक (W. H. Kilpatrick) के मतानुसार परिभाषा निम्न है:

"A project is whole-hearted purposeful activity proceeding in a social environment."

अर्थात्—"प्रोजेक्ट वह सहृदय उद्देश्यपूर्ण कार्य है जो पूर्ण सफलता से सामाजिक पर्यावरण में क्रिया जाता है।"

बैलार्ड (Ballard) के मतानुसार:

"A project is a bit of real life that has been imparted into the school."

अर्थात्—"प्रोजेक्ट वास्तविक जीवन का एक भाग है जोकि शिक्षालय में प्रयोग किया जाता है।"

प्रोफेसर स्टीवेन्सन (Prof. Stevenson) के मतानुसार:

"A project is problematic act carried to completion in its natural setting."

अर्थात्—"प्रोजेक्ट एक समस्यामूलक कार्य है जोकि अपनी स्वाभाविक परि-स्थितियों के अन्तर्गत पूर्णता को प्राप्त करता है।"

योजना या प्रोजेक्ट शिक्षा पद्धति के सिद्धान्त—उपरोक्त परिभाषा के अनु-सार ही योजना पद्धति के सिद्धान्त निम्न हैं:

(१) प्रयोजन का सिद्धान्त।
(२) क्रियाशीलता का सिद्धान्त।
(३) अनुभव का सिद्धान्त।
(४) वास्तविकता का सिद्धान्त।
(५) स्वतन्त्रता का सिद्धान्त।
(६) उपयोगिता का सिद्धान्त।
(७) सानुबन्धता का सिद्धान्त।
(८) सामाजिकता या नागरिकता का सिद्धान्त।

सिद्धान्तों के अन्तर्गत बालक अपना कार्य पूर्ण संलग्नता से करता है और कार्य जल्दी तथा सुचारु रूप से सम्पन्न हो जाता है। उत्साह से कार्य सीखता है अतः उसको बुद्धि, विचार, शक्ति, प्रयोग एवं परिश्रम करने का अवसर प्राप्त होता है। बालक को अनुभव होता है। चरित्र का निर्माण होता है और व्यक्तित्व का विकास होता है। शिक्षालय एवं वास्तविक जीवन का सम्बन्ध निर्मित होता है। शिक्षकों द्वारा स्वतन्त्र वातावरण प्रदान करने से स्वाभाविक पारिस्थितियों के अन्तर्गत प्रशिक्षण दिया जाता है। दूसरे योजना पद्धति में विभिन्न विषयों की शिक्षा सम्मिलित रूप से दी जाती है। फलतः सामाजिक सम्बन्ध और नागरिकता की शिक्षा पूर्णरूप से प्राप्त होती है।

योजना या प्रोजेक्ट पद्धति की कार्य प्रणाली—प्रोजेक्ट पद्धति की विभिन्न अवस्थायें होती हैं :

(१) **परिस्थिति**—बालकों को विषय चयन करने से पहले उस परिस्थिति का बोध कराना आवश्यक है। परिस्थिति का ज्ञान होने पर बालक विषय को रुचि से सीखते हैं।

(२) **चयन**—विषयों का चयन बालकों की राय के अनुसार ही होना चाहिए। ऐसे विषय का मूल्य अधिक होता है।

(३) **कार्यक्रम बनाना**—शिक्षा का कार्यक्रम स्वाभाविक परिस्थितियों में करने योग्य हो। कार्यक्रम को कई भागों में विभक्त किया जाय और प्रत्येक बालक को योग्यतानुसार सौंपा जाय।

(४) **कार्यक्रम क्रियान्वित करना**—बालक अपने-अपने कार्य को पूरा करेंगे और शिक्षक उसका निरीक्षण करते रहें तथा आवश्यकतानुसार प्रोत्साहन एवं निर्देशन करते रहें।

(५) **मूल्यांकन**—बालक एवं शिक्षकों द्वारा कार्य के पूरा हो जाने पर बालकों के मतानुसार और कार्य के लाभ पर बालक की सफलता का मूल्यांकन किया जाता है।

(६) **कार्य-लेख**—बालक के कार्य करने की क्षमता, उसको पूरा करने का उत्तरदायित्व आदि का शिक्षक निरीक्षण करते हैं और उसका रेखाचित्र बनाते हैं।

योजना या प्रोजेक्ट के भेद—सामान्य रूप से प्रोजेक्ट के दो भेद हैं :

(१) सरल प्रोजेक्ट।

(२) बहुमुखी प्रोजेक्ट।

सरल प्रोजेक्ट—एक ही भाँति का कार्य करना सरल प्रोजेक्ट के अन्तर्गत आता है। उदाहरणार्थ—पाजामा सीना, खिलौने बनाना आदि।

बहुमुखी प्रोजेक्ट—एक साथ विभिन्न कई कार्यों का ज्ञान प्रदान करने वाला विषय अथवा एक कार्य जिसमें विभिन्न विषयों का ज्ञान हो बहुमुखी प्रोजेक्ट

कहलाता है। उदाहरणार्थ—नाटक खेलना, पिकनिक पर जाना, पार्सल भेजना आदि-आदि।

योजना या प्रोजेक्ट पद्धति के विशिष्ट भेद—

(१) साहित्य सम्बन्धी प्रोजेक्ट।
(२) विज्ञान सम्बन्धी प्रोजेक्ट।
(३) ऐतिहासिक प्रोजेक्ट।
(४) हस्तकौशल सम्बन्धी प्रोजेक्ट।
(५) औद्योगिक एवं व्यापारिक प्रोजेक्ट।

आधार के अनुसार ही नामों का उल्लेख होता है या जैसा नाम है उसी भाँति के विषयों का चयन होता है। पौराणिक पुस्तक महाभारत या रामायण आदि पर आधारित योजना साहित्य सम्बन्धी प्रोजेक्ट है। बेतार का तार, वायुयान विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर आधारित विज्ञान सम्बन्धी प्रोजेक्ट है। पूर्वकालीन महापुरुषों की जीवनी पर आधारित ऐतिहासिक प्रोजेक्ट है। जिन योजनाओं में पुस्तक कला, कृषि, दूकानदारी, बढ़ईगीरी आदि कार्य सिखाये जायँ वे हस्तकौशल सम्बन्धी प्रोजेक्ट हैं। समुद्र की लहरें, नदियों की घाटियों, पहाड़ आदि का ज्ञान भौगोलिक प्रोजेक्ट है तो औद्योगिक एवं व्यापारिक प्रोजेक्ट में पुल निर्माण, बाँध बाँधना, रेल सड़क आदि का निर्माण आदि हैं।

प्रोजेक्ट पद्धति के गुण—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रोजेक्ट पद्धति अत्यन्त लाभदायक है। इसके द्वारा बालकों को स्वभावानुसार शिक्षा प्राप्त होती है। क्रिया द्वारा रचनात्मक कार्य करने की प्रवृत्ति का विकास होता है। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा प्राप्त होती है साथ ही रुचि एवं अनुभव और स्व-शिक्षा के आधार पर शिक्षा मिलती है। बालकों के पारस्परिक तर्क-वितर्क से समस्याओं के हल करने के कारण उनका मानसिक विकास होता है। जब बालक अपनी रुचि, आवश्यकता एवं प्रयास से शिक्षा प्राप्त करता है, तो उसमें आत्म-विकास, आत्म-विश्वास एवं आत्म-निर्भरता उत्पन्न होती है। यह इस पद्धति का गुण है। इस पद्धति में प्रत्येक बालक को समान रूप से शिक्षा प्रदान की जाती है। वे स्वभाविक, प्रसन्नता का अनुभव करते हुये शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस पद्धति में आकस्मिकता का लेश-मात्र भी महत्व नहीं होता है। विभिन्न योजनाओं एवं समस्याओं को कार्यान्वित करने का प्रयास करते हैं। फलतः उनका व्यवहारिक जीवन उत्तम होता है। गृह अथवा समाज के प्राप्त अनुभवों के आधार पर बालक शिक्षालय में शिक्षा प्राप्त करते हैं। पारस्परिक सहयोग की भावना से सामाजिक भावना का विकास होता है और वे जीवन में आदर्श नागरिक बनते हैं। चरित्र का निर्माण श्रेष्ठ होता है। राष्ट्र और विश्व का कल्याण करने की भावना जाग्रत होती है।

योजना या प्रोजेक्ट पद्धति के दोष—धनाभाव का दोष प्रमुख दोष है जिस कारण पुस्तकों एवं अन्य उपकरणों की पूर्ति नहीं हो पाती। न तो सम्पूर्ण विषयों पर

पुस्तकें उपलब्ध हैं और जो हैं उनमें भी पाठ्यक्रम का अभाव-सा है। मातृ-भाषा में पुस्तकों का मिलना और भी कठिन है। जैसा कि आई० वी० वर्मा ने भी व्यक्त किया है :

"There is difficulty of suitable text books, specially in the mother tongue."

योजना पद्धति में क्रमानुसार अध्ययन नहीं हो पाता है। दूसरे लाभान्वित योजनाओं के खोजने में भी कठिनाइयाँ अनुभव होती हैं। फलतः पाठ्यक्रम अपूर्ण रहता है। निरन्तर हस्त-शिल्प का कार्य करने से मानसिक विकास समुचित रूप में नहीं हो पाता है। समस्त विषयों का ज्ञान भी उपलब्ध नहीं होता। अतः बालक की शिक्षा अपूर्ण रहती है। के० भाटिया और बी० डी० भाटिया (K. Bhatia and B. D. Bhatia) ने भी यही मत प्रकट किया है :

"A teacher generally finds it very difficult to direct the project to such a way that proper development of different subject takes place."

मीमांसा—दोषों में प्रमुख दोष अधिक धन का व्यय है। यदि समाज या राष्ट्र द्वारा धनाभाव की समस्या का उन्मूलन हो जाता है तो योजना पद्धति एक अत्यन्त उत्तम शिक्षा प्रणाली है। इसकी प्रशंसा में दोषों का वर्णन करने पर भी के० भाटिया और बी० डी० भाटिया का कथन है कि :

"The project method is a democratic way of learning. It encourages children to co-operator, to think and work together for a common purpose."

श्री आई० वी० वर्मा (I. B. Verma) के मतानुसार :

"The method imparts education according to the real condition of life."

अर्थात्—"जीवन की वास्तविक परिस्थिति के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने का साधन योजना या प्रोजेक्ट पद्धति है।"

अध्याय ६

शैक्षणिक अवधारणा का विकास

(Development of Educational Concept)

प्रश्न ४६—प्राचीन काल के वैदिक शिक्षा के विभिन्न पक्षों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

भूमिका—भारत की शैक्षणिक अवधारणा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल से आज तक भारत में शिक्षा का स्रोत निरन्तर बहता रहा है। विश्व में अराजकता और असभ्यता के छाये रहने पर भी भारत में साहित्य था। इस काल में भी अनेकों विद्वान एवं विचारक हुए थे। इस तथ्य की पुष्टि एफ. डब्ल्यू० थॉमस (F. W. Thomas) के शब्द से भी होती है :

"Education is no escotic in India. There has been no country where the love of learning had no largely on arjgin or has exercised so lasting and powerful an influence. From the simple poets of the Vedic Age to the Bengali Philosopher of the present day there has been an uninstet rupted succession of teachers and scholars."

अर्थात्—"भारत में शिक्षा विदेशी पौधा नहीं है। ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ ज्ञान के प्रति प्रेम का इतने प्राचीनकाल में प्रारम्भ हुआ हो, अथवा जिसने इतना स्थायी और शक्तिशाली समाज उत्पन्न किया हो। वैदिक युग के साधारण व्यक्तियों से लेकर आधुनिक युग के बंगाली दार्शनिक, शिक्षकों एवं छात्रों का एक अटूट क्रम रहा है।"

भारतीय शैक्षणिक अवधारणा के विकास क्रम को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं : (१) प्राचीनकालीन वैदिक शिक्षा, (२) मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा और (३) आधुनिक शिक्षा।

प्राचीनकालीन वैदिक शिक्षा—प्राचीनकाल में शिक्षा का आधार धर्म था और मानव की मुक्ति का साधन शिक्षा अर्थात् विद्या ही थी। "सा विद्या या विमुक्तये" से यही स्पष्ट होता है। बिना शिक्षा के मनुष्य पशुवत था। बुद्धि एवं

विवेक ही मानव और पशु का अन्तर स्पष्ट करती है। तत्कालीन शिक्षा का अध्ययन निम्न रूप में किया जा सकता है :

शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त—धर्म पर आधारित शिक्षा का ग्रहण करना मानव के लिए आवश्यक था। शिक्षा द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता था। शिक्षा में इन्द्रियों का संयम, ब्रह्मचर्य पालन का सिद्धान्त अनिवार्य था। शिक्षार्थी गुरु के यहाँ परिवार के सदस्य के रूप में रहता था। शिक्षा बालक की ५–८ वर्ष की आयु से प्रारम्भ करने का विधान था। अतः दैनिक दिनचर्या, शुद्ध द्वेषरहित वातावरण को महत्व दिया जाता था। शिक्षालय नगरों से दूर होते थे। बालकों को स्मरण और मनन क्रियाओं द्वारा शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा के उद्देश्य—ईश्वरीय भावना, व्यक्तित्व, चरित्र निर्माण का विकास करना, नागरिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करना, संस्कृत का संरक्षण एवं प्रसार करना तथा शिक्षार्थियों को जीविकोपार्जन योग्य शिक्षा देना प्रमुख उद्देश्य थे।

शिक्षा का संगठन—प्राचीनकाल में विद्यार्थी शिक्षक के आश्रम में रहकर विद्या अध्ययन करते थे। अतः विद्यार्थी गुरु की प्रत्येक दिनचर्या एवं जीवनचर्या का अनुकरण करते थे। विद्यार्थी की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति शिक्षक (गुरु) द्वारा ही की जाती थी।

इन आश्रमों का संचालन समाज द्वारा किया जाता था। गुरुजनों के सम्मान में प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होता था कि आश्रमों की आवश्यकताओं की पूर्ति करें।

शिक्षा के स्तर—प्राचीन काल में शिक्षा के दो ही स्तर थे : (१) प्रारम्भिक शिक्षा और (२) उच्च शिक्षा।

प्रारम्भिक शिक्षा में छात्रों को वेद मन्त्रों का उच्चारण करना और उनको कंठाग्र करना सिखाया जाता था। तदोपरान्त लिखने का अभ्यास डाला जाता था और व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी। पाठ्यक्रम में भाषा विज्ञान, व्याकरण, छन्द शास्त्र एवं प्रारम्भिक गणित सिखाया जाता था।

उच्च शिक्षा का अधिकार केवल ब्राह्मण वर्ण को ही था। उच्च शिक्षा के द्वारा आत्म-उन्नति एवं आत्म कल्याण की भावना जाग्रत होती थी। उच्च शिक्षा के अन्तर्गत निम्न विषय आते हैं :

(१) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

(२) इतिहास, पुराण, ब्रह्म विद्या, देव विद्या, ज्योतिष शास्त्र, औषधि-शास्त्र।

(३) व्याकरण, तर्क शास्त्र, दर्शन शास्त्र, नीतिशास्त्र, संगीत शास्त्र, शिल्प एवं गणित शास्त्र।

व्यावसायिक शिक्षा—उपरोक्त विषयों में कुछ विषय ऐसे हैं जो व्यावसायिक ज्ञान प्रदान करते हैं। प्रमुखतः पुरोहितीय, सैनिक, कृषि एवं वाणिज्य तथा औषधि-शास्त्र की शिक्षा द्वारा मानव अपनी जीविका उपार्जित करते थे। यह शिक्षाएँ अलग-अलग केन्द्रों में दी जाती थीं।

स्त्री-शिक्षा—प्राचीनकाल में स्त्री-शिक्षा का प्रचलन भारत में था। वैदिक काल में स्त्री-शिक्षा अत्यधिक स्तर पर थी। स्त्रियों को साहित्य, नृत्य, वाल्यकला, वाद-विवाद, दर्शन आदि शास्त्रों की शिक्षा प्रदान की जाती थी।

आधुनिक शिक्षा संस्थाओं की विभिन्नता के समान ही प्राचीनकाल में भी विभिन्न संस्थाएँ थीं। जैसे—गुरुकुल, वैदिक शिक्षालय, चारण विद्यालय, मठ, विद्यापीठ, वन विद्यालय, मन्दिर विद्यालय, विश्वविद्यालय आदि।

दीक्षान्त—छात्रों के अध्ययन के उपरान्त गुरु उनसे आवश्यक प्रश्न पूछता था और उचित उत्तर पाने पर शिष्य को उस विषय में दक्ष माना जाता था। तदनन्तर गुरुदीक्षा लेकर शिक्षा को विदा करता था। यह विदाई समारोह के रूप में होती थी। विद्यार्थी को स्नातक कहलाने का अधिकार प्राप्त होता था।

मीमांसा—प्राचीन काल में वैदिक शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालने के उपरान्त यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उस काल में शिक्षा का आधार धर्म था, परन्तु व्यक्ति एवं समाज की भौतिक उन्नति के लिए व्यावसायिक शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाता था। आजकल के समान शिक्षा प्रणाली न होने पर भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञान का विकास होता था।

प्रश्न ४७—मध्यकालीन शिक्षा पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

भूमिका—वैदिक काल के वाद भारत की आर्थिक अवस्था एवं सम्पन्नता को देखते हुए वाह्य आक्रमण होने लगे। १२वीं शताब्दी के अन्त में मुगलों ने भारत में अपना राज्य स्थापित किया। मुस्लिम शासकों के काल में शिक्षा व्यवस्था, उसके उद्देश्य प्राचीन शिक्षा उद्देश्यों से भिन्न रहे। इस काल की शिक्षा पद्धतियों में भी भिन्नता पायी जाती थी।

मुस्लिम काल की शिक्षा के उद्देश्य—यद्यपि इस युग में कई वार उद्देश्यों परिवर्तित हुए हैं फिर भी सामान्य रूप से जिन उद्देश्यों का प्रचलन रहा वे निम्न हैं :

(१) इस्लाम धर्म प्रचार।

(२) मुस्लिम सिद्धान्तों, कानूनों एवं सामाजिक प्रथाओं का प्रचार।

(३) मुस्लिम धर्मावलम्वी वनाना,

(४) भौतिक ऐश्वर्य एवं मुस्लिम श्रेष्ठ की प्राप्ति का उद्देश्य।

मुस्लिम काल में शिक्षा की व्यवस्था दो स्तरों पर विभक्त थी : प्रथम मकतब और प्रारम्भिक शिक्षा और द्वितीय मदरसा और उच्च शिक्षा।

मकतव और प्रारम्भिक शिक्षा का अर्थ—अरवी भाषा के शब्द 'कुतुव' से 'मकतव' शब्द का निर्माण हुआ है। कुतुव का अर्थ 'उसने लिखा' है। अतः वह स्थान जहाँ पर लिखना सिखाया जाता है, मकतव कहलाता है। प्रत्येक मुसलमान मकतब में शिक्षा पाना चाहता है परन्तु मकतबों की संख्या कम होने पर स्थान पाना कठिन हो जाता है। कुरान की आयतों के पढ़ने पर, मुल्ला द्वारा पढ़ने के बाद दुहराने पर या 'विस्मिल्लाह' कह देने पर ही शिक्षा के लिए मकतव में प्रवेश मिल जाता है।

पाठ्यक्रम तथा पाठ्यविधि—साधारणतया बालकों को लिखना-पढ़ना और प्रारम्भिक गणित का ज्ञान कराया जाता था। पैगम्बरों की कथायें, फकीरों की कहानियों, का ज्ञान कराना और व्यावहारिक जीवन में उनका अनुकरण करना सिखाया जाता था। सुन्दर लेखन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कलमा एवं कुरान की आयतें बालकों को रटनी पड़ती थीं। पहाड़े कंठाग्र करने पड़ते थे।

मदरसा का अर्थ—मकुतब के बाद उच्च शिक्षा के लिए मदरसा में प्रवेश लेना पड़ता था। मदरसा का अर्थ भाषण देना है अर्थात् वह स्थान जहाँ भाषण दिया जाता है मदरसा कहलाता है। मदरसा में प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग शिक्षक होते थे।

पाठ्यक्रम—प्रमुखतः दो प्रकार की शिक्षा का विधान था : (१) लौकिक शिक्षा जिसमें साहित्य, व्याकरण, इतिहास, गणित, भूगोल, दर्शनशास्त्र, नीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, कृषि एवं कानून की शिक्षा पढ़ाई जाती है। (२) धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत कुरान, इस्लामी कानून व इतिहास तथा पैगम्बरी परम्परा का अध्ययन किया जाता था।

मुस्लिम शिक्षा की विशेषतायें—भारत की प्राचीन वैदिक शिक्षा को नष्ट करके मुगलों ने मुस्लिम शिक्षा की स्थापना की। इस नई शिक्षा एवं शिक्षा-प्रणाली की कुछ अपनी विशेषतायें थीं :

(१) शिक्षा का संरक्षण।
(२) व्यापकता का अभाव।
(३) लौकिक दृष्टिकोण पर बल।
(४) प्रान्तीय अथवा स्थानीय भाषाओं की उपेक्षा।
(५) कक्षा-नामकीय पद्धति का प्रचलन।
(६) निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध।

उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त अपनी अलग विशेषतायें थीं जैसे परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही बालक को अगली कक्षा में प्रवेश मिलता था। मुस्लिम कालमें शिक्षा पूर्ण करने पर उपाधियों का वितरण किया जाता था। आलिय, फाजिल, काबिल आदि उपाधियाँ अलग-अलग विषयों के छात्रों को मिलती थीं। गुरुओं या मौलवियों का सम्मान किया जाता था। शिक्षक और शिक्षार्थी छात्रावासों में साथ-साथ रहते थे। उनका निकट सम्पर्क रहता था। फलतः आत्मीयता स्थायी होती थी। उद्दण्ड छात्रों के लिए दण्ड का विधान था। बेंत, कोड़े व घूँसे से शारीरिक दण्ड अधिक प्रचलित था। मुस्लिम काल में शिक्षकों को अनुशासन जैसी समस्या का प्रतिरोध नहीं करना पड़ता था।

मुस्लिम काल में स्त्री—मुसलमानों में स्त्री शिक्षा दी जाती थी, उनके लिए शिक्षा का प्रबन्ध मकतबों में किया जाता था। वैसे मुसलमानों में पर्दा-प्रथा थी।

निम्न वर्गों की छात्राओं को उच्च शिक्षा का अवसर कम मिलता था। बालिकाओं को नृत्य, संगीत, सीना-पिरोना, बुनना, तरकश करना आदि कलाएँ सिखायी जाती थीं। साहित्य की शिक्षा का अधिक प्रचलन था। फारसी और अरबी भाषा का ज्ञान कुलीन वर्ग की लड़कियों को अधिक था। स्त्रियों को मकतबों में क़ुरान, गुलिस्ताँ, बोस्ताँ और सदाचार सिखाया जाता था जैसा कि यूसुफ हुसेन (Yusuf Husain) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"There were Maktabs for imparting religious education to girls in private houses were elderly ladies taught the Quran Gulistan, Bostan and bookson morals."

मुस्लिम काल में व्यावसायिक शिक्षा—मुगल काल में शासन द्वारा विभिन्न व्यावसायिक शिक्षा का सुप्रबन्ध था। जीविकोपार्जन सम्बन्धी शिक्षा के अतिरिक्त सैनिक शिक्षा, चिकित्सा, सम्बन्धी शिक्षा, शिल्पकला, चित्रकला, नृत्य-कला एवं संगीत आदि का प्रशिक्षण दिया जाता था।

जीविकोपार्जन सम्बन्धी शिक्षा—डा० यूसुफ हुसेन ने तत्कालीन कारखाने के सम्बन्ध में लिखा है :

"The Karkhanahs were not only manufacturing agencies but also served as centres for technical and vocational training to young men by the system of apprenticeship. They were placed under a master crafts man (ustad) to learn the trade and in course of time became experts themselves."

अर्थात्—"कारखाने केवल उत्पादन के साधन ही नहीं थे, वरन् शिष्य-क्षमता की प्रणाली के अनुसार युवकों को प्राविधिक एवं जीविका सम्बन्धी प्रशिक्षण देने के केन्द्रों के रूप में भी कार्य करते थे। वे व्यवसाय को सीखने के लिए किसी उस्ताद के शिष्य बना दिये जाते थे और कुछ समय उपरान्त स्वयं कार्य में दक्ष हो जाते थे।"

मुहम्मद तुगलक एवं फिरोज तुगलक के शासन काल में अनेकों कारखानों की स्थापना हो चुकी थी। अकबर के काल में कारखाने 'दिवाने बुयतात' कहे जाते थे जिनमें सरकारी तौर पर दर्जी का काम, कशीदा, जूता, वस्त्र बुनना, चित्रकला, अस्त्र-शस्त्र निर्माण करने की शिक्षा दी जाती थी। सैनिक शिक्षा भी जीविका-सम्बन्धी शिक्षा मानी जाती थी। इसके अन्तर्गत हाथी पर बैठकर युद्ध करना, घुड़सवारी करना व अन्य युद्ध कलायें सिखायी जाती थीं। सैनिक विद्यालयों का संचालन राज्य के सेना के सैनिकों के संरक्षण में होता था। चिकित्सा शास्त्र एवं औषधि विज्ञान की शिक्षा अनेकों मुस्लिम संस्थाओं द्वारा दी जाती थी। मुगलकाल में औषधि प्रयोग के लिए रामपुर अत्यधिक प्रसिद्ध था। भवन-निर्माण कला, संगीत आदि की कला को अत्यन्त प्रोत्साहित किया जाता था।

मीमांसा—मुस्लिम काल में धार्मिकता की अत्यधिक प्रधानता थी, यह उपर्युक्त

अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। उस काल में हिन्दू बालकों की अपेक्षा मुस्लिम बालकों को विशेष अवसर प्रदान किया जाता था। लेकिन शिक्षा का भी शिक्षा प्रणाली में स्थान था। वर्ण भेद होने के कारण देश में अराजकता बनी रहती थी। अतः मुगल-काल अधिक समय तक शासन करने में असफल रहा।

प्रश्न ४८—मैकाले के समय से भारत की पंचवर्षीय योजना के पहले तक प्राथमिक शिक्षा का वर्णन कीजिए।

भूमिका—मुगलकाल में शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार धार्मिकता से ओत-प्रोत था जैसा कि प्रश्न ४८ में वर्णन किया जा चुका है। इस काल की विशेषताएँ थीं कि आश्रमों और मकतबों में शिक्षा दी जाती थी। एक ही गुरु या उस्ताद प्रत्येक विषय पर शिक्षा देता था। साथ ही बड़े विद्यार्थी छोटे बालकों को शिक्षा देकर शिक्षा देनें की कला भी सीखते थे। लार्ड मैकाले ने भारतीय शिक्षा संगठन के बारे में उल्लेख किया है :

लार्ड मैकाले के मतानुसार शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय या स्थानीय भाषाओं को न देकर अंग्रेजी भाषा को दिया गया। उसका विचार था कि भारतीय भाषाओं में कोई भी इस योग्य नहीं कि किसी व्यक्ति को विद्वान् बना सके। सन् १८३५ ई० में निम्न तथ्यों को स्वीकार करते हुए मैकाले के मतों का समर्थन किया गया :

(१) विद्वान् वह व्यक्ति है जो अंग्रेजी जानता हो। साहित्य का अर्थ अंग्रेजी साहित्य माना गया था।

(२) अंग्रेजी भाषा भारतीय भाषाओं से सरल है।

(३) विज्ञान की शिक्षा एकमात्र अंग्रेजी भाषा में ही दी जा सकती है, अतः भारतीय भाषायें व्यर्थ है।

(४) भारतीय भी यह मानते थे कि अंग्रेजी भाषा ही ज्ञान का भण्डार है।

(५) विद्यार्थियों का मत संस्कृति, फारसी, अरबी की अपेक्षा अंग्रेजी सीखने की ओर अधिक था।

स्वतन्त्रता के पूर्व प्रारम्भिक शिक्षा का संगठन—आधुनिक शिक्षा के अध्ययन करने के लिए इस काल को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं : स्वतन्त्रता के पूर्व एवं पश्चात्। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में शिक्षा प्रचार एवं प्रसार का कार्य ईसाई मिशनिरियाँ करती थीं। इसका प्रमुख कारण यह था कि शिक्षित जनता शिक्षा से प्रभावित होने के बाद ईसाई धर्म स्वीकार कर लेती थी। इस क्षेत्र में डच, फ्रांसीसी, पुर्तगाली एवं अंग्रेजों ने भाग लिया। अनेक स्थानों पर देश में मिशन स्कूल स्थापित हुये और उन्होंने शिक्षा प्रसार में योग दिया।

ईसाई मिशनिरियों के अतिरिक्त समाज सुधारक राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, राधाकान्त देव आदि ने शिक्षा प्रसार में योग दिया। ब्रिटिश शासन काल में १८३५ ई० से सरकार ने विशेष योग देना प्रारम्भ किया। लार्ड हार्डिञ्ज ने सन् १८४४ ई० में सरकार की शिक्षा नीति की घोषणा की।

फलतः अंग्रेजी पढ़े व्यक्तियों को सरकारी नौकरियाँ मिलने लगीं, जिससे अंग्रेजी का प्रचार बढ़ा। सरकार ने विभिन्न भागों में विभिन्न स्तर के विद्यालय निर्माण किये।

वुड का घोषणापत्र (Woods Despatch)—सन् १८५४ ई० में चार्ल्स वुड ने भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार कर एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया, जिसके द्वारा स्त्रियों के लिए शिक्षा, प्रशिक्षण एवं व्यावसायिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया। पत्र में प्रत्येक राज्य के लिये 'जन शिक्षा विभाग' (Department of Public Instruction) की स्थापना का आदेश था।

भारतीय शिक्षा आयोग (१८८२-८३)—हन्टर महोदय ने प्राथमिक शिक्षा के विचार के लिए आयोग की नियुक्ति की। इसमें माध्यमिक, उच्च शिक्षा, स्त्री शिक्षा और शिक्षक प्रशिक्षण के अनेकों प्रस्ताव विचार किये गये। आयोग के उपरान्त देश में प्राथमिक स्कूलों की वृद्धि हुई।

स्वदेशी आन्दोलन एवं शिक्षा का प्रसार—१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय समाज सुधारकों द्वारा अनेकों शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की गई। इनमें हिन्दू कालेज बनारस, फर्ग्युसन कालेज पूना, दयानन्द वैदिक कालेज लाहौर प्रमुख थे। इस आन्दोलन में थियोसोफिकल सोसाइटी, आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि संस्थाओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया। आन्दोलन के फलस्वरूप शिक्षा प्रचार में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य हुये।

भारतीय विश्वविद्यालय आयोग—लार्ड कर्जन ने भारत में शिक्षा क्षेत्र में विशेष परिवर्तन किये। शिक्षा सुधार के लिए शिमला में एक सम्मेलन किया गया और भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति हुई। प्रचार की नीति को बढ़ावा देने के लिये गैर-सरकारी संस्थाओं को अनुदान देने की प्रथा का श्रीगणेश हुआ। इस काल में प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा का अत्यधिक विस्तार हुआ।

गोखले विधेयक—सन् १९११-१३ में गोखले द्वारा एक विधेयक केन्द्रिय धारा सभा में प्रस्तुत किया गया जिसका प्रमुख उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा-प्रणाली में आवश्यक सिद्धान्त प्रतिपादित करना था। सरकार ने शिक्षा नीति सम्बन्धी प्रस्ताव द्वारा प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा पर विशेष बल दिया और अनेक विश्वविद्यालय स्थापित करने का समर्थन किया। फलतः १९१७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और सन् १९१८ में उस्मानियाँ विश्वविद्यालय की स्थापना की गई थी।

सैडलर कमीशन (१९१७-१९)—डा० माइकेल सैडलर (Dr. Michael Sadler) की अध्यक्षता में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना हुई जिसकी प्रमुख उद्देश्य कलकत्ता विश्वविद्यालय सम्बन्धी आवश्यकताओं और रचनात्मक कार्यों के समाधान का निर्णय करना था। इस आयोग द्वारा अन्तर्विद्यालय परिषद्

की स्थापना का सुझाव दिया गया जिसके फलस्वरूप आज का विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग विकसित हुआ।

हर्टांग समिति (१९२९)—साइमन कमीशन द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन के अन्तर्गत भारतीय शिक्षा के निरीक्षण के लिए एक सहायक समिति की स्थापना की गई। समिति के अध्यक्ष सर फिलिप हर्टांग थे। समिति द्वारा विभिन्न शिक्षा अंगों पर महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये गये। समिति ने सरकार एवं शिक्षा विभाग के अधिकारियों को प्राथमिक शिक्षा में निहित अपव्यय एवं अवरोधन को दूर करने के कई सुझाव दिये थे।

व्यावसायिक शिक्षा (१९३६-३७)—भारत सरकार ने प्रथम महायुद्ध में यह अनुभव किया कि औद्योगिक शिक्षा का प्रसार एवं प्रचार करना भारत में अति आवश्यक है। फलतः केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड के परामर्श पर श्री ए० ऐबट तथा एस० एच० वुड (A. Abbot and S. H. Wood) की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर भारत में व्यावसायिक शिक्षा के प्रसार एवं प्रचार के महत्त्वपूर्ण कार्य हुये जो देश की परिस्थिति एवं वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति करते थे। इन उद्देश्यों का व्यावहारिक मूल्य अत्यधिक था।

वर्धा की बेसिक शिक्षा योजना—१९३७ ई० में महात्मा गांधी ने वर्धा में शिक्षा पर विचार-विनिमय के लिए एक परिषद् का आयोजन किया, जिसके प्रधान स्व० जाकिर हुसेन थे। इस परिषद् ने निम्न आधारभूत सिद्धान्तों की सिफारिश की :

(१) ७ वर्ष से १४ वर्ष तक की आयु के प्रत्येक बालक को अनिवार्य एवं निशुल्क शिक्षा प्राप्त हो।

(२) शिक्षा का माध्यम कोई हस्तकला होनी चाहिए।

(३) शिक्षा आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो।

(४) शिक्षा में नागरिकता की शिक्षा का समावेश हो।

(५) बालकों को मातृ भाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाय।

(६) शिक्षा का वास्तविक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध हो।

(७) शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य सत्य व अहिंसा का सिद्धान्त हो।

आचार्य नरेन्द्रदेव के परामर्श—१९३९ ई० में कांग्रेस मंडल के द्वारा बुलाई गई कमेटी के अध्यक्ष पद से आचार्य नरेन्द्रदेव ने कुछ परामर्श प्रस्तुत किये थे परन्तु यह निम्न परामर्श कमेटी के द्वारा त्याग-पत्र देने के कारण कार्यान्वित न हो सके :

(१) शिक्षा का अनिवार्य काल ७ से १४ वर्ष का हो।

(२) शिक्षा में हस्त कला सिखाने का काल कुल समय का एक-तिहाई रखा जाय।

(३) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही हो।

(४) हस्तकला में कताई-बुनाई, गृह शिक्षा, मूर्तिकला, पुस्तक कला आदि अन्य कलायें भी सिखाई जायें।

(५) अंग्रेजी व मिडिल स्कूलों के अन्तर को समाप्त किया जाय।

सार्जेण्ट योजना (१९४४)—भारतीय शिक्षा सलाहकार सर जान सार्जेन्ट (Sir gohn Sargent) को तत्कालीन वाइसराय ने शिक्षा का एक सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का आदेश दिया। इस योजना में प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा, औद्योगिक, प्रौढ़, प्रशिक्षण शिक्षा आदि पर विभिन्न रूपों से विचार किया गया था।

मीमांसा—उपरोक्त समय-समय पर होने वाले स्वतन्त्रता के पूर्व के शिक्षा सुधारों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की जनता के लिए ब्रिटिश शासन काल में शिक्षा की पद्धति शनैः शनैः परिवर्तित होती गई। जहाँ पहले जाति के आधार पर शिक्षा दी जाती थी वहाँ मुगल काल में भी धार्मिक प्रधानता के कारण कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ बल्कि कट्टरता की वृद्धि ही हुई। अंग्रेजी शासन काल में साहित्य की परिभाषा अंग्रेजी भाषा से की गयी। फलतः अंग्रेजी को प्रोत्साहन मिला। सरकारी नौकरियों के लोभ में पढ़ कर भारतीयों ने अंग्रेजी सीखी और अपने ज्ञान की वृद्धि की। अंग्रेजी के माध्यम से ही टैकनीकल व औद्योगिक शिक्षा का प्रचलन किया गया। इसका ही यह परिणाम है कि आज कुछ अंग्रेजी के हिमायती भारत की राष्ट्र भाषा अंग्रेजी रखना श्रेयकर समझते हैं।

प्रश्न ४९—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में क्या-क्या विकास हुए? सविस्तार समझाइये।

भूमिका—सन् १९४७ से स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने शिक्षा को तीन स्तरों पर ही विभक्त रखा जैसा कि अंग्रेजों के शासन काल में था। सरकार ने अलग-अलग तीनों स्तरों पर समय-समय पर विकास के लिए संगठन, आयोग आदि बनाये तथा प्रसार एवं प्रचार के लिए विभिन्न रूपों में कार्य किये।

प्रारम्भिक शिक्षा—सरकार ने पंचवर्षीय योजनायें बनाकर प्रारम्भिक शिक्षा में विस्तार किया। अनेकों पाठशालायें खोलीं। अध्यापकों का प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया। पाठशालाओं की इमारतों का निर्माण किया। शिक्षालयों का प्रबन्ध सरकार की ओर से किया गया।

शिक्षकों को प्रशिक्षण देने के लिए प्रत्येक जिले में नार्मल स्कूल खोले गये। क्योंकि शिक्षकों का सांस्कृतिक स्तर उठाना प्रारम्भिक शिक्षालयों के लिए अति आवश्यक था। गांवों में जो प्राइमरी स्कूल खोले गये उनके लिए शिक्षक उपलब्ध करने में कठिनाई का अनुभव हुआ। अतः सरकार ने शिक्षकों को ट्रेनिंग देने का कार्य चल शिक्षक दल (Mobile training squad) के सुपुर्द किया। इस दल के तीन कार्य थे:

(१) प्रशिक्षण देना।
(२) सांस्कृतिक कार्यक्रम करना।
(३) रिफ्रेशर कोर्स की व्यवस्था करना।

इस दल में एक ट्रेंड ग्रेजुएट, दो एच० टी० सी० अध्यापक तथा अन्य कर्मचारी होते हैं। प्रत्येक दो जिलों के लिए एक दल की व्यवस्था गई। पर्वतीय जिलों के लिये तीन जिलों पर एक दल रखा गया।

माध्यमिक शिक्षा—शिक्षा का पुनर्गठन करके माध्यमिक शिक्षा की चार कक्षाएँ बनाई गई। जूनियर हाईस्कूल उत्तीर्ण छात्र प्रवेश करने का विधान था। माध्यमिक शिक्षालयों के प्रधान प्रिंसिपल बने।

शिक्षा को चार वर्गों में विभक्त किया—(१) साहित्यिक, (२) वैज्ञानिक, (३) कलात्मक और (४) रचनात्मक। बालक को अपनी रुचि के अनुसार विषय वर्ग लेने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई।

सरकार ने मनोवैज्ञानिक शिक्षा केन्द्र खोले जहाँ यह पता लग सके कि बालक को किस विषय का चयन करना है। आठवीं कक्षा के छात्रों की मनोवैज्ञानिक परीक्षा द्वारा यह पता लगाया जा सके कि बालक किस विषय में विशेष रुचि रखता है।

आचार्य नरेन्द्रदेव के सुझाव—उ० प्र० सरकार ने १९५२ ई० में एक कमेटी बनाई थी जिसमें कई सुझाव रखे गये जिनका वर्णन अगले प्रश्न में करेंगे।

विश्वविद्यालयों की शिक्षा—अंग्रेजी शासन की पद्धति के अनुसार ही भारत ने स्वतन्त्रता के बाद इस शिक्षा स्तर की ओर उन्नति की। यद्यपि अंग्रेजी काल में अनेकों विश्वविद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी जैसे—१९१६ ई० में बनारस एवं मैसूर, १९२० ई० में अलीगढ़ एवं लखनऊ, १९२१ ई० में ढाका (पाकिस्तान), १९२२ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय, १९२३ ई० में नागपुर, १९२६ ई० में आन्ध्र विश्वविद्यालय, १९२७ में आगरा, १९२९ में अनामताई, १९३७ ई० में ट्रावनकोर, १९४७ में सागर, उत्कल, सौराष्ट्र, पटना विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। साथ ही १९४७ ई० में गोरखपुर एवं रुड़की में इन्जीनियरिंग विश्वविद्यालय की स्थापना भी हुई।

राधाकृष्णन रिपोर्ट—१९४७ ई० में डा० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय कमीशन बना, जिसने १९४९ ई० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में निम्न सुझाव थे:

(१) शिक्षकों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जाय: प्रोफेसर, रीडर, लेक्चरार और इन्सट्रक्टर। साथ ही पदों के परस्पर अनुपातों को भी निर्धारित किया।

(२) कमीशन द्वारा निश्चय किया गया कि सामान्य ज्ञान के लिए क्या

पाठ्यक्रम रखा जाय और विश्वविद्यालय एवं माध्यमिक स्कूलों के साधारण सिद्धान्त क्या हों। इस पाठ्यक्रम को डिग्री कोर्स में शामिल किया गया।

(३) योग्य विद्यार्थियों को वृत्तियाँ देने का प्रस्ताव रखा गया। एम० ए० व एम० एस-सी० की पढ़ाई के योग्य विद्यार्थी चुनने की व्यवस्था की गई। पढ़ाई के उपरान्त अनुसंधान करने की भी व्यवस्था का उल्लेख किया गया।

(४) इण्टर व हायर सेकेन्ड्री कक्षाओं का स्तर उच्च किया गया ताकि विश्वविद्यालयों का स्तर और ऊँचा करके शिक्षा स्तर बढ़ाया जा सके।

(५) मानव धर्म के आधार पर प्रत्येक कॉलेज में महान् पुरुषों व धार्मिक उपदेशों की शिक्षा का पढ़ाया जाना अनिवार्य किया गया।

(६) इन्जीनियरिंग कॉलेजों की स्थापना का प्रस्ताव किया। कृषि कॉलेजों की ओर ध्यान देने पर बल दिया। शिक्षण कार्य में उच्च शिक्षा देने के लिए अनुभव का आधार माना गया।

(७) त्रि-भाषा फार्मूला लागू किया गया। प्रत्येक बालक के लिए तीन भाषा पढ़ना अनिवार्य माना गया। अंग्रेजी, हिन्दी व प्रादेशिक भाषा पढ़ना अनिवार्य है। विश्वविद्यालयों में प्रादेशिक भाषा में शिक्षा देना उपयुक्त ठहराया गया।

(८) नवीन परीक्षा प्रणाली पर ध्यान दिया और निबन्धात्मक परीक्षा के उचित समन्वय पर ध्यान दिया।

मुदालियर शिक्षा आयोग (१९५२-५३)—नवीन राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था से प्रभावित होकर माध्यमिक शिक्षा का पुनर्निर्माण किया गया। इस आयोग द्वारा माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये। शिक्षा के दोष, उद्देश्य, नवीन संगठन, पाठ्यक्रम, पाठ्यक्रम के विषय, पाठ्य पुस्तकें, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा, परीक्षा एवं शैक्षणिक मूल्यांकन तथा अध्यापकों की उन्नति आदि विषयों पर नवीन रूप देकर परिवर्तन करने के प्रस्ताव थे।

कोठारी कमीशन (१९६४-६६)—विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करने के बाद प्रोफेसर डी० एस० कोठारी (D. S. Kothari) की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग की समिति बनाई गई। इस आयोग ने शिक्षा के उद्देश्य, संरचना, स्थिति, अध्यापकों का प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम, उच्च शिक्षा, कृषि शिक्षा आदि के सुझाव प्रस्तुत किये और उन पर अमल किया।

मीमांसा—यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में समय-समय पर विभिन्न आयोगों की स्थापना होती रही और शिक्षा के विकास एवं उच्च स्तर के लिए प्रयास होते रहे। बहुमुखी उन्नति के लिए वर्तमान में पंचवर्षीय योजनाओं को माध्यम बनाया गया है। अन्य क्षेत्रों के समान ही शिक्षा क्षेत्र में भी उन्नति के अवसर विद्यमान हैं। देश में तीन पंचवर्षीय योजनायें पूरी हो चुकी हैं। चतुर्थ योजना के अन्तर्गत शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति के अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखे गये हैं।

विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के शिक्षक रहे। उन्होंने शिकागो विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के साथ ही साथ शिक्षाशास्त्र भी पढ़ाया। उसी समय से उनकी रुचि शिक्षा के प्रति हो गई। उन्होंने शिकागो में एक 'प्रोग्रेसिव स्कूल (Progressive School) नाम का शिक्षालय स्थापित किया जिसमें कि 'करके सीखने का सिद्धान्त' (Traning by Doing) का प्रयोग किया। इस स्कूल में शिक्षा सम्बन्धी नाना प्रकार के प्रयोग करते हुए उन्होंने प्रयोजनवादी सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। सन् १९०४ में वे शिकागो को छोड़कर 'कोलम्बिया यूनीवर्सिटी' (Columbia University) में गये। यहाँ पर उन्होंने दर्शनशास्त्र एवं शिक्षाशास्त्र का अध्यापन कार्य किया। साथ ही साथ शिक्षा में अनेक दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया और उसकी व्याख्या की। १९४० में उन्होंने अवकाश प्राप्त कर लिया। कुछ दिनों के उपरान्त वे शिक्षा पर व्याख्या देने के लिए पेकिंग विश्वविद्यालय में आमन्त्रित किये गये। उन्होंने वहाँ दो वर्ष तक निवास किया। शिक्षा की रिपोर्ट बनाने के लिए उनको तुर्की की सरकार ने भी आमन्त्रित किया। इस प्रकार अवकाश प्राप्ति के पश्चात् उनको अनेक देशों की सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक संस्थाओं ने आमन्त्रित किया। जॉन डीवी को विश्व में एक महान् दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री के रूप में महान ख्याति प्राप्ति हुई। डीवी के ६ बच्चे थे। उनकी जीवनी के लेखक का कथन है कि "डीवी ने अपने बच्चों के साथ खेलते हुए अपनी समस्त शैक्षणिक एवं दार्शनिक समस्याओं को हल किया।" डीवी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों ने न केवल अमेरिका की शिक्षा को प्रभावित किया वरन् विश्व के अनेक देशों की शिक्षा पर इनके विचारों का प्रभाव पड़ा। रूस, टर्की, चाइना आदि देशों ने इनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों के अनुसार अपनी अपनी शिक्षा व्यवस्था में सुधार किया। विश्व के महान् दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी का १९५२ में स्वर्गवास हो गया। आज वे यद्यपि हम लोगों के बीच के नहीं हैं परन्तु उसके विचार विश्व के प्रत्येक देश में कार्यान्वित किये जा रहे हैं।

[ब] डीवी की रचनाएँ (Works of Dewey)

(१) 'इण्टरेस्ट एण्ड एफर्ट ऐज रिलेटिड टू विल (Interest and Effort as Related to Will)

(२) 'दि स्कूल एण्ड दि सोसाइटी' (The School and the Society)

(३) 'दि स्कूल एण्ड दि चाइल्ड' (The School and the Child)

(४) 'स्कूल आफ टूमारो' (School of The Tomorrow)

(५) 'दि चाइल्ड एण्ड दि करीक्यूलम' (The Child and the Curriculum)

(६) 'हाऊ वी थिंक' (How We Think)

(७) 'इन्टरेस्ट एण्ड एफर्ट इन एजूकेशन' (Interest and Effort in Education)

पाठ्यक्रम रखा जाय और विश्वविद्यालय एवं माध्यमिक स्कूलों के साधारण सिद्धान्त क्या हों। इस पाठ्यक्रम को डिग्री कोर्स में शामिल किया गया।

(३) योग्य विद्यार्थियों को वृत्तियाँ देने का प्रस्ताव रखा गया। एम० ए० व एम० एस-सी० की पढ़ाई के योग्य विद्यार्थी चुनने की व्यवस्था की गई। पढ़ाई के उपरान्त अनुसंधान करने की भी व्यवस्था का उल्लेख किया गया।

(४) इण्टर व हायर सेकेन्ड्री कक्षाओं का स्तर उच्च किया गया ताकि विश्वविद्यालयों का स्तर और ऊँचा करके शिक्षा स्तर बढ़ाया जा सके।

(५) मानव धर्म के आधार पर प्रत्येक कॉलेज में महान् पुरुषों व धार्मिक उपदेशों की शिक्षा का पढ़ाया जाना अनिवार्य किया गया।

(६) इन्जीनियरिंग कॉलेजों की स्थापना का प्रस्ताव किया। कृषि कॉलेजों की ओर ध्यान देने पर बल दिया। शिक्षण कार्य में उच्च शिक्षा देने के लिए अनुभव का आधार माना गया।

(७) त्रि-भाषा फार्मूला लागू किया गया। प्रत्येक बालक के लिए तीन भाषा पढ़ना अनिवार्य माना गया। अंग्रेजी, हिन्दी व प्रादेशिक भाषा पढ़ना अनिवार्य है। विश्वविद्यालयों में प्रादेशिक भाषा में शिक्षा देना उपयुक्त ठहराया गया।

(८) नवीन परीक्षा प्रणाली पर ध्यान दिया और निबन्धात्मक परीक्षा के उचित समन्वय पर ध्यान दिया।

मुदालियर शिक्षा आयोग (१९५२-५३)—नवीन राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था से प्रभावित होकर माध्यमिक शिक्षा का पुनर्निर्माण किया गया। इस आयोग द्वारा माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये। शिक्षा के दोष, उद्देश्य, नवीन संगठन, पाठ्यक्रम, पाठ्यक्रम के विषय, पाठ्य पुस्तकें, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा, परीक्षा एवं शैक्षणिक मूल्यांकन तथा अध्यापकों की उन्नति आदि विषयों पर नवीन रूप देकर परिवर्तन करने के प्रस्ताव थे।

कोठारी कमीशन (१९६४-६६)—विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करने के बाद प्रोफेसर डी० एस० कोठारी (D. S. Kothari) की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग की समिति बनाई गई। इस आयोग ने शिक्षा के उद्देश्य, संरचना, स्थिति, अध्यापकों का प्रशिक्षण, पाठ्यक्रम, उच्च शिक्षा, कृषि शिक्षा आदि के सुझाव प्रस्तुत किये और उन पर अमल किया।

मीमांसा—यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में समय-समय पर विभिन्न आयोगों की स्थापना होती रही और शिक्षा के विकास एवं उच्च स्तर के लिए प्रयास होते रहे। बहुमुखी उन्नति के लिए वर्तमान में पंचवर्षीय योजनाओं को माध्यम बनाया गया है। अन्य क्षेत्रों के समान ही शिक्षा क्षेत्र में भी उन्नति के अवसर विद्यमान हैं। देश में तीन पंचवर्षीय योजनायें पूरी हो चुकी हैं। चतुर्थ योजना के अन्तर्गत शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति के अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखे गये हैं।

प्रश्न ५०—प्रौढ़ शिक्षा पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।

(उ० प्र० १९५९, ६०, ६१, ६३ व ६४)

भूमिका—भारत निर्धन और कृषि-प्रधान देश है । अतः अधिकांश बालकों को पढ़ना नसीब ही नहीं होता है । १२ वर्ष की आयु से ही परिस्थितियाँ उन्हें जीविका के लिए बाध्य करती हैं । ऐसी अवस्था में अखबार आदि पढ़ कर समाज की बातें जानना तो दूर सम्बन्धियों से पत्र-व्यवहार भी नहीं कर पाते हैं । अंग्रेजों ने इस ओर कदापि ध्यान नहीं दिया । अंग्रेजों के जाने के बाद स्वतन्त्र भारत में यह समस्या एक विकराल रूप से सामने आयी । क्योंकि जनतन्त्र शासन प्रणाली में जनता का सहयोग आवश्यक होता है । सरकार की बहु उद्देशीय योजनाओं में शिक्षा क्षेत्र को स्थान देकर उन्नति का मार्ग चुना गया । सरकार ने यह समझ लिया कि बिना प्रौढ़ों को शिक्षित किये शासन का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता । अतः १२ वर्ष की आयु के पश्चात् प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था की गयी । इसके अन्तर्गत वह जीविका के साथ-साथ अपनी पढ़ाई भी जारी रख सकें ।

प्रौढ़ शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य—अँग्रेजी काल में कांग्रेस की मांग पर शासन द्वारा कुछ करना था । उन्होंने अनपढ़ व्यक्ति को अँगूठा लगाने के स्थान पर अपना नाम लिखना सिखा कर प्रौढ़ शिक्षा का श्रीगणेश किया । वह इतना ही सन्तोषप्रद समझते थे । परन्तु आजकल प्रौढ़ शिक्षा वह है कि व्यक्ति पढ़-लिख कर पत्र-व्यवहार कर ले तथा अखबार पढ़ कर अपना ज्ञान बढ़ावे ।

प्रौढ़ व्यक्ति यदि पढ़ने के बाद देश की भलाई के बारे में नहीं सोचता तो पढ़ना व्यर्थ माना जाता है । उसे आदर्श नागरिक बनना है और व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ सामाजिक हित की बातें भी करनी हैं ।

प्रौढ़ व्यक्ति में पारस्परिक सहयोग द्वारा ही उन्नति हो सकती है । अतः उनमें सहकारिता की भावना पैदा करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना गया ।

स्वतन्त्र देश में सामाजिक एकता आवश्यक होती है । दूसरे व्यक्तियों की बुराई देखना, हीन समझना, छुआछूत करना आदि बातें सामाजिक एकता के लिए बाधक होती हैं अतः प्रौढ़ शिक्षा में इनसे बचने की शिक्षा पर ध्यान दिया गया । बिना प्रौढ़ शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के राष्ट्रीय साधनों की सुरक्षा और देश की उन्नति असम्भव है ।

सामाजिक शिक्षा के लिए निम्न विषय आवश्यक माने गये :

भाषा का पढ़ना-लिखना, साधारण गणित, स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान, प्रारम्भिक चिकित्सा, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र एवं हस्त कला का ज्ञान आवश्यक विषय हैं । व्यक्ति के लिए मानव धर्म का जानना भी अति आवश्यक है ।

प्रौढ़ शिक्षा के साधन—प्रौढ़ शिक्षा के लिए निम्न साधन आवश्यक माने गये हैं :

(१) सामाजिक शिक्षा केन्द्र ।
(२) जनता कालेज ।
(३) धार्मिक व सामाजिक-मेले, पैंठ आदि ।
(४) पुस्तकालय ।

सामाजिक शिक्षा में प्रौढ़ व्यक्ति को भाषण, वार्तालाप और वाद-विवाद, नाटक, प्रदर्शन आदि शिक्षा देने के प्रमुख साधन हैं। व्यक्तियों में रुचि उत्पन्न करना, खेल-कूद का आयोजन करना, नियमानुसार बोलना, उठना-बैठना सीखना तथा किसी हस्तकला का ज्ञान देना अति लाभदायक होता है। कालेजों में उन व्यक्तियों की आवश्यकता रहती है जो ग्रामीणों को नेतृत्व में रख सकें अतः यह असुविधा-जनक है। पंचवर्षीय योजनाओं में सामूहिक भावना पर विशेष ध्यान दिया जाता है ताकि नागरिकता के अच्छे गुणों का विस्तार हो सके। सफाई और स्वास्थ्य का ज्ञान प्रदान कर सहकारिता की भावना सिखा कर प्रौढ़ व्यक्तियों को देशभक्ति व सच्ची नागरिकता की शिक्षा दी जा सकती है। चलते-फिरते पुस्तकालयों का प्रबन्ध कर प्रौढ़ व्यक्ति में मनोरंजन, धार्मिक साहित्य, कृषि, दस्तकारी आदि ज्ञान दिया जा सकता है। रेडियो द्वारा प्रचार व प्रसार करके प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इस कार्य में सरकार भी अनेकों साधनों से सहयोग दे सकती है।

प्रौढ़ शिक्षा की समस्याएँ—सर्वप्रथम प्रौढ़ छात्रों को पढ़ाने के लिए योग्य शिक्षकों का अभाव रहता है। इसके लिए उत्साही, सांस्कृतिक ज्ञान प्राप्त और ग्रामीण समाज के विचार समझने वाले नौजवान शिक्षकों की आवश्यकता पड़ती है जो तत्परता से कार्य प्रतिपादित कर सकें।

प्रौढ़ व्यक्ति के पास जीविकोपार्जन की समस्या के कारण शिक्षा प्राप्त करने के लिए अवकाश कम होता है। इसके अतिरिक्त कुछ बुरी आदतों में वे अपना समय बरबाद करते हैं। जैसे शराब पीना, जुआ खेलना आदि। कभी-कभी बीमारी के कारण भी प्रौढ़ व्यक्ति शिक्षा से वंचित रहते हैं।

ग्रामीण जनता मेहनत करने के बाद शिक्षा की अपेक्षा आराम करना अधिक पसन्द करती है। कभी-कभी घर की अशान्ति उनके विचारों को दूषित कर देती है। ऐसी अवस्था में प्रौढ़ शिक्षा का कार्य कठिन होता है।

कम पढ़े-लिखे प्रौढ़ व्यक्तियों को उच्च साहित्य का पुस्तकें या साधन उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। निर्धनता उनका पीछा नहीं छोड़ती। मन में उन्नति करने का इच्छा होते हुए भी प्रौढ़ शिक्षा के सांस्कृतिक कार्यों में रुचि नहीं ले पाते हैं।

स्त्रियों में भी साहित्य की कमी, विद्यालयों की कमी प्रौढ़ स्त्री शिक्षा के लिए रुकावट बनती हैं। प्रशिक्षित स्त्री शिक्षकों का अभाव है। साथ ही पर्दे व रूढ़िवादी विचारों का शिकार होने के कारण उन्हें शिक्षा देना कठिन कार्य है।

भारत में छुआछूत के कारण प्रौढ़ शिक्षा में रुकावट आती है क्योंकि विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों को एक साथ शिक्षा देना असम्भव हो जाता है। धन की कमी के कारण यह भी सम्भव नहीं होता कि प्रत्येक गाँव के लिए सीमित धनराशि व्यय की जाय। व्यक्तिगत जीवन में उदासीन रहने से भी प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहन नहीं मिलता है।

प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार—समस्याओं को देखते हुए प्रौढ़ शिक्षा के लिए निम्न प्रयास अति आवश्यक हैं :

(१) प्रौढ़ पाठशालाएँ स्थापित करना।
(२) चल-चित्र प्रदर्शन कार्य करना।
(३) पुस्तकालय तथा वाचनालय खोलना।
(४) व्यवसायिक शिक्षा व्यवस्था करना।
(५) साहित्य की व्यवस्था करना।
(६) भाषणों का प्रबन्ध करना।
(७) श्रमदान की भावना उत्पन्न करना।
(८) पंचायतों द्वारा प्रसार में सहयोग प्राप्त करना।

मीमांसा—यदि स्वतन्त्र भारत में एक बार प्रौढ़ शिक्षा की समस्या हल हो जाय और प्रत्येक नागरिक साक्षार बन जाय तो देश का कल्याण हो जाय। इसके लिए सरकार द्वारा साक्षरता दिवस मनाया जाता है। प्रौढ़ों को निरक्षरता से हानियाँ, देश के निर्माण में भाग लेने के लाभ आदि बताना सरकार का प्रमुख कार्य है। यह कार्य पोस्टर, भाषण आदि के द्वारा ही सम्भव होता है। ट्रेनिंग कालेज के विद्यार्थियों की सहायता द्वारा प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार सुगमता से सम्पन्न किया जा सकता है।

✓प्रश्न ५१—भारत में स्त्री शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालिए।
(उ० प्र० १९५४ व ६५)

भूमिका—पुरुषों अथवा बालकों के समान ही बालिकाओं (स्त्रियों) को शिक्षा का अध्ययन करना आवश्यक है। सामाजिक दृष्टि से स्त्री-पुरुष मिलकर ही देश के उत्थान में सहायक होते हैं। स्त्री शिक्षा के कारण ही देश की भावी सन्तान शिक्षित, कार्यशील वीर, प्रतापी व साहसी होती है।

प्राचीन काल में भारत में स्त्री शिक्षा का अत्यधिक प्रचलन था। वैदिक काल में स्त्री शिक्षा अति आवश्यक थी। उन्हें बालकों के समान ही शिक्षा प्रदान की जाती थी। बालकों के समान ही उपनयन संस्कार करके शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। स्त्रियों को साहित्य, नृत्य, वाद-विवाद, दर्शन शास्त्र, नीति शास्त्र आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। गार्गी मैत्रयी, अनुसुइया, प्रियम्वदा, द्रौपदी, सावित्री,

सीता वैदिक काल के शिक्षा प्रसार के ज्वलन्त उदाहरण हैं। बालिकाओं की विवाह आयु १२ वर्ष करने से उनकी शिक्षा पर बड़ा आघात हुआ।

मुस्लिम काल में पर्दा-प्रथा का प्रचलन होते हुए भी स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन मिलता था। डा० यूसुफ हुसेन ने लिखा है—"निजी घरों में बालिकाओं को धार्मिक शिक्षा देने के लिये मकतब थे, जहाँ अधिक आयु की स्त्रियाँ इनको कुरान, गुलिस्ताँ, बोस्तां और सदाचार की पुस्तकें पढ़ाती थीं। बालिकाओं को संगीत, नृत्य, सीना, पिरोना, बुनना, कशीदा आदि अनेकों दस्तकारी सिखाई जाती थीं। इस काल में जहांआरा, नूरजहाँ, मुमताजमहल, चाँदबीबी अदि अनेकों पढ़ी-लिखी विदुषियाँ हुई हैं।

ब्रिटिश काल में शिक्षा की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। इसके प्रमुख रूप से दो कारण थे—पहला तो स्वयं इंगलैंड में स्त्रियों की शिक्षा की दशा अच्छी न थी, दूसरे अंग्रेज भारतीयों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझते थे। ब्रिटिश काल में मुस्लिम शासन से प्रभावित होकर हिन्दू लोग स्त्री शिक्षा देना उचित नहीं समझते थे।

तदनन्तर केरे साहब ने चर्च मिशिनरियों के सहयोग से अनेकों पाठशालाएँ खोलीं। मिस कुक ने भी भारत में लड़कियों की दशा सुधारने के लिए पाठशालाओं का निर्माण कराया था। उत्साह की वृद्धि हुई और स्त्री शिक्षकों को भी शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया।

वुड डिस्पेच का प्रभाव भी स्त्री शिक्षा पर पड़ा वे शिक्षा में रुचि लेने लगीं। सरकार ने रूढ़िवादिता पर्दा-प्रथा और बालविवाह जैसी समस्याओं को हल करते हुए देश में शिक्षा का प्रचार दो उपायों से किया। प्रथम तो व्यक्तिगत संस्थाओं को अनुदान देकर (स्त्री) बालिका पाठशालायें खुलवाईं और दूसरे स्वयं सरकारी पाठशालायें खोलीं। फलतः स्त्री शिक्षा को प्रसार का साधन मिल गया।

हंटर कमीशन ने भी स्त्रियों की शिक्षा में योग दिया। इस कमीशन के क्रियान्वित करने से बालक और बालिकाओं के स्कूलों का प्रबन्ध व निरीक्षण अलग-अलग कर दिया गया। मैट्रिक व विश्वविद्यालय में लड़कियों को प्रवेश मिलने लगा। व्यवसायिक कालेजों में भी लड़कियाँ प्रवेश पाने लगीं। सर्व प्रथम डाक्टरी में लड़कियों को प्रवेश दिया गया।

स्त्री-शिक्षा की प्रमुख समस्यायें—

(१) सामाजिक कुप्रथायें एवं अन्ध विश्वास।
(२) शिक्षा के महत्त्व से अनभिज्ञ।
(३) निर्धनता की अधिकता।
(४) बालिका विद्यालयों एवं योग्य शिक्षकों का अभाव।
(५) अनुचित दृष्टिकोण।
(६) अनुपयुक्त पाठ्यक्रम।
(७) अपव्यय।

(८) राज्य की उदासीनता ।
(९) दोषयुक्त शैक्षिक प्रशासन ।
(१०) संकीर्ण भावना ।

लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध सरकार ने अधिक कर दिया परन्तु श्रीमती एनीबेसेन्ट और एनड्रूज के अकथ प्रयासों के फलस्वरूप कलकत्ता, मद्रास, बनारस, दिल्ली में लड़कियों के स्कूलों व कालेजों की प्रगति बढ़ गई । दिल्ली में लेडी हार्डिंग कालेज खुला । इसके अतिरिक्त कालेजों में मिश्रित शिक्षा का भी प्रवन्ध किया गया । फलतः वर्तमान काल में लड़कियों को प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च, व्यवसायिक शिक्षा पूर्ण रूप से मिल रही है ।

समस्यानिवृत्ति के लिए संक्षिप्त समाधान—

(१) सामाजिक कुप्रथाओं एवं अन्धविश्वासों का अन्त ।
(२) प्रौढ़-शिक्षा प्रसार ।
(३) आर्थिक समस्या का निदान ।
(४) बालिका-विद्यालयों एवं प्रशिक्षित शिक्षकों का प्रवन्ध ।
(५) उचित दृष्टिकोण का निर्माण ।
(६) रुचि, आवश्यकता एवं सामर्थ्यानुकूल पाठ्यक्रम-निर्माण ।
(७) अपव्यय से निवृत्ति ।
(८) प्रसार एवं प्रचार के प्रयास ।
(९) शैक्षिक प्रशासन में वास्तविक सुधार ।
(१०) समाज की भावना का परिवर्तन ।

मीमांसा—भारत में स्त्रियों की शिक्षा विश्व के अन्य देशों की तुलना में कम नहीं है । भारत में डाक्टर, वकील, इन्जीनियर, कवियत्री, जज आदि कई उच्च पदों पर स्त्रियाँ सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं । प्रजातन्त्र सरकार में तो देश में राजनैतिक दलों में भी हिस्सा ले रही हैं । यहाँ तक कि श्री विजयलक्ष्मी पंडित तो यू० एन० ओ० में सक्रिय पद पर कार्य कर चुकी हैं । महादेवी वर्मा (कवियत्री), सरोजनी नायडू (साहित्य, राजनैतिक), इन्दिरा गाँधी (राजनैतिक), सुचेता कृपलानी, अरुणा आसफ अली आदि अनेकों महिलायें देश की इज्जत बढ़ा रही हैं ।

प्रश्न ५२—भारतीय शिक्षा की नवीन प्रवृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं ? संक्षेप में उल्लेख कीजिए ।

भूमिका—भारत ने स्वतन्त्र होते ही देश में शिक्षा के क्षेत्र में तीव्र प्रगति की है । हमारी सरकार ने शिक्षा का पुनर्गठन एवं नवीनीकरण किया । अनेकों आयोगों की स्थापना कर राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारणों का निराकरण किया । इस प्रकार कुछ नवीन प्रवृत्तियों का निर्माण हुआ । ये प्रवृत्तियाँ निम्न हैं :

(१) अखिल भारतीय शैक्षिक सेवा।
(२) राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली।
(३) जनतन्त्र एवं समाजवाद से सम्बन्धित शिक्षा।
(४) वैज्ञानिक शिक्षा
(५) शिक्षा का संवर्ती रूप।
(६) भावात्मक एवं राष्ट्रीय एकीकरण की स्थापना।
(७) सैनिक शिक्षा।
(८) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग।
(९) पाठ्य-पुस्तकों का नवीनीकरण।
(१०) अध्यापकों का प्रशिक्षण।
(११) राष्ट्रीय महत्त्व के संस्थान।
(१२) नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना।

अखिल भारतीय शैक्षिक सेवा—भारत जैसे विशाल देश में वास्तविक उन्नति एकरूपता स्थापित होने पर ही हो सकती है। अतः सरकार ने अखिल भारतीय सेवा करने का निश्चय किया। यह सेवा केन्द्रीय सरकार की प्रशासकीय सेवा के बराबर है। अधिकतर राज्य इसके समर्थन में हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली—भारत सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को विकसित करने का सफल प्रयास किया। उसने "आयोग, राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली एवं प्रत्येक स्तर व क्षेत्र में शिक्षा प्रगति के सौभाग्य सिद्धान्त एवं नीति के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना" का प्रस्ताव पारित किया।

जनतन्त्र एवं समाजवाद से सम्बन्धित शिक्षा—अंग्रेजों की दासता से मुक्ति पाने के पश्चात् स्वतन्त्र भारत में जनतन्त्र की भावना जगना अति आवश्यक हुआ। अतः सरकार इस कार्य के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयोग का कार्य—"राष्ट्रीय विकास के नवीन युग के साथ निरपेक्ष प्रजातन्त्र पर निर्धारित स्वाधीनता केवल प्रशासन की प्रणाली मात्र नहीं है, वल्कि जीवन की एक प्रणालो है। लोगों को वांछनीय जीवन स्तर प्रदान करना एवं निर्धनता को दूर करना ही इसका संकल्प है।" शिक्षा विशेष रूप से विज्ञान एवं औद्योगिक, सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति का महत्त्वपूर्ण उपकरण है जो नवीन समाज व्यवस्था को निर्मित करने का योग देती है।

वैज्ञानिक शिक्षा—देश में वैज्ञानिक उन्नति बिना विज्ञान की शिक्षा प्रसार के असम्भव है अतः इस क्षति पूर्ति के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं शिक्षा मन्त्रालय द्वारा वैज्ञानिक शिक्षा के प्रसार एवं प्रचार के लिए एक आयोग निर्माण किया और देश का लक्ष्य पूरा करने के लिए शिक्षा पर विशेष रूप से ध्यान दिया।

शिक्षा का संवर्ती रूप— देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक समान प्रणाली अति आवश्यक है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उच्च शिक्षा को एक

संवर्ती विषय बनाया गया। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को अधिक शक्तिशाली बनाकर उच्च शिक्षा के स्तर में आवश्यक सुधार किये गये। परन्तु यह ध्यान रखा गया कि भारतीयता का किसी मूल्य पर ह्रास न हो।

भावात्मक एवं राष्ट्रीय एकीकरण—भावात्मक एवं राष्ट्रीय एकीकेरण राष्ट्र की समृद्धि, सुरक्षा एवं प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं। अतः हमारी शिक्षा के लक्ष्य में अपने पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों का समावेश किया जिनसे भावात्मक एवं राष्ट्रीय एकीकरण में योग मिले।

सैनिक शिक्षा—बाह्य आक्रमणों और जन सुरक्षा के लिए सैनिक अति आवश्यक अंग होता है। देश के स्तर पर सैनिक प्रशिक्षण देना और वैज्ञानिक आधार पर नवीन उपकरणों का महत्त्वपूर्ण योग देना अन्य संगठित कार्यों के समान ही आवश्यक है। पाठ्यक्रमों में सैन्य शिक्षा व सैन्य विज्ञान का समावेश करके शिक्षा में महत्त्वपूर्ण योग दिया गया है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग—श्री राधाकृष्णनन् कमीशन के परिणाम-स्वरूप विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना कर प्रशासकीय एवं वित्तीय शक्तियों की वृद्धि की गई। इसके माध्यम से केन्द्रीय सरकार उच्च शिक्षा के लिए वित्तीय सहायता देती है एवं उच्च शिक्षा की व्यवस्था करती है। इस दिशा में सबसे पहले उत्तर प्रदेश विश्वविद्यालय अनुदान-समिति का निर्माण किया गया जो सरकार को उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श करती एवं संगठन को प्रभावित करती है।

पाठ्य पुस्तकों का नवीनीकरण—शिक्षा के प्रसार एवं प्रचार के लिये विगत वर्षों में सरकार ने महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। जैसे सस्ती एवं उच्च स्तर पर पुस्तकों का उपलब्ध होना। माध्यमिक शिक्षा परिषद ने पाठ्यक्रम के अनुसार पुस्तकों का सफल सम्पादन किया है।

अध्यापकों का प्रशिक्षण—हमारी वर्तमान सरकार ने अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण संस्थाएँ स्थापित की हैं। उनकी भी उचित प्रगति के लिए शोध संस्थाएँ स्थापित की हैं।

राष्ट्रीय महत्त्व के संस्थान—राष्ट्रीय संस्थान की प्रगति के लिए कुछ नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। जैसे—काशी विद्यापीठ की स्थापना नवयुवकों को भारतीय शिक्षा देने के लिए, दक्षिण में राष्ट्र भाषा प्रचार समिति हिन्दी के प्रचार के लिये विश्वभारती, वनस्थली, आदि की स्थापना राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रखकर ही की गई है। सरकार ने इन संस्थाओं को समुचित आर्थिक सहायता एवं मान्यता प्रदान की है।

नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना—पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भारत में विश्वविद्यालयों की संख्या २० थी परन्तु अब यह संख्या ७० तक पहुँच गई है।

मीमांसा—आधुनिक शिक्षा के विकास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट निष्कर्ष प्राप्त होता है कि अंग्रेजों ने एक मात्र अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ही शिक्षा क्षेत्र में कार्य किये थे। परन्तु भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा प्रणाली को वैज्ञानिक रूप देकर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बहुउद्देशीय विद्यालयों के लिए शिक्षकों को व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक विषय तैयार करने को अजमेर, भुवनेश्वर, भोपाल एवं मैसूर में रीजनल कालेज स्थापित किये, जिनका प्रमुख कार्य ही शिक्षण प्रणाली में प्रगति एवं सुधार करने की दिशा में अग्रसर होना है। इन नवीन प्रवृत्तियों का विकास हो चुका है और भविष्य में कुछ और होना है।

प्रश्न ५३—कोठारी कमीशन के सुझाव एवं सिफारिशों का उल्लेख कीजिए।

भूमिका—विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जो भारत सरकार ने १४ जुलाई सन् १९६४ ई० में स्थापित किया था के अध्यक्ष प्रोफेसर डी० एस० कोठारी (D. S. Kothari) थे। इस अवसर पर राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णनन् ने व्यक्त किया था :

"मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि कमीशन शिक्षा के समस्त पहलुओं—प्राथमिक, विश्वविद्यालय एवं टेकनीकल की जाँच करे और ऐसे सुझाव प्रस्तुत करे जिनसे हमारी शिक्षा व्यवस्था को अपने सभी स्तरों पर उन्नति करने में सहायता मिले।"

आयोग ने अपनी रिपोर्ट तीन भागों में विभक्त की। प्रथम भाग में शिक्षा के समस्त स्तरों पर पुनर्गठन के सामान्य पहलुओं पर प्रकाश डाला। द्वितीय भाग में विवेचना की और तृतीय भाग में क्रियान्वित करने की समस्याओं पर विचार प्रकट किये।

आयोग के विचार एवं सुझाव—आयोग ने निम्न विचार व उनसे सम्बन्धित सुझाव प्रस्तुत किये थे :

(१) शिक्षा एवं राष्ट्रीय लक्ष्य—
- (अ) उत्पादन में वृद्धि,
- (ब) सामाजिक राष्ट्रीय एकता का विकास,
- (स) प्रजातन्त्र की सुदृढ़ता,
- (द) आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में तीव्रता,
- (य) सामाजिक नैतिक एवं आध्यात्मिक मान्यताओं का विकास तथा
- (र) चरित्र निर्माण।

(२) विद्यालय शिक्षा की संरचना—
- (अ) पूर्व प्राथमिक शिक्षा,
- (ब) प्राथमिक शिक्षा,
- (स) माध्यमिक शिक्षा तथा
- (द) उच्च शिक्षा।

(३) कृषि शिक्षा—
- (अ) कृषि विश्वविद्यालय,

(ब) कृषि कालेज,
(स) कृषि पालिटेकनीक और
(द) विद्यालयों में कृषि शिक्षा ।

(४) शिक्षक की स्थिति ।
(५) अध्यापक शिक्षा—
(अ) शिक्षक-शिक्षा की प्रथकता का अन्त,
(ब) व्यावसायिक शिक्षा में सुधार,
(स) प्रशिक्षण काल,
(द) प्रशिक्षण संस्थाओं में सुधार,
(य) प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार, तथा
(र) उच्च शिक्षा के शिक्षकों की व्यावसायिक तैयारी ।

(६) शैक्षिक अवसरों की समानता ।
(७) विद्यालय प्रशासन एवं निरीक्षण ।
(८) शिक्षा विधियाँ, मार्ग प्रदर्शन एवं मूल्यांकन ।
(९) त्रिभाषी फार्मूला—
(अ) मातृ-भाषा या प्रादेशिक भाषा,
(ब) संघ की भाषा या राज्य भाषा, और
(स) एक आधुनिक या यूरोपीय भाषा ।

(१०) हिन्दी का स्थान व विभिन्न भारतीय भाषाओं का स्थान ।
(११) आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास ।
(१२) अंग्रेजी का स्थान ।

सुझाव—(१) व्यक्तियों का जीवन आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं से सम्बन्वित होना आवश्यक है, अतः उनका आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक विकास राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए होना चाहिए ।

(२) प्रचलित शिक्षा को ध्यान में रखते हुए १० वर्ष की सामान्य शिक्षा की नवीन संरचना प्रस्तुत की थी । व्यक्तिगत प्रबन्धकों को पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना एवं संचालन के लिए प्रोत्साहित किया जाय और राज्य एवं जिला स्तरों पर खेल केन्द्रों की स्थापना की जाय प्राथमिक विद्यालय में होने वाले अपव्यय एवं अवरोधन को समाप्त किया जाय । माध्यमिक शिक्षा को व्यावसायिक बनाया जाय और राज्यों द्वारा विशेष अनुदान दिये जाय । उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय शिक्षा का प्रथम डिग्री कोर्स ३ वर्ष का होना चाहिए और द्वितीय डिग्री कोर्स या स्नातकोत्तर कोर्स २ वर्ष का होना चाहिए । कम से कम ६ विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर अनुसन्धान कार्य अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड के अनुसार होना चाहिए टेकनिकल एवं कृषि विश्वविद्यालय खोले जायँ ।

(३) समस्त प्राथमिक विद्यालयों में कृषि सन्बन्धी सामान्य शिक्षा अनिवार्य

करी जाय। शिक्षक शिक्षा के कार्यक्रमों में कृषि एवं ग्रामीण समस्याओं से सम्बन्धित विषयों का समावेश किया जाय।

(४) आयोग ने सुझाव दिया कि सरकारी, अर्द्ध सरकारी एवं गैर सरकारी सभी विद्यालयों के शिक्षकों के वेतन क्रम समान सिद्धान्त पर प्रतिपादित हों। तथा शिक्षकों के कार्य एवं सेवा सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये।

(५) अध्यापकों की व्यावसायिक शिक्षा में सुधार एवं उन्नति के भी सुझाव दिये।

(६) प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तर के सरकारी एवं गैर सरकारी समस्त विद्यालयों में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करने का सुझाव दिया। समस्त स्तरों पर छात्रवृत्तियों के कार्यक्रम को संगठित करने का सुझाव दिया। छात्रों के अध्ययन काल में धनोपार्जन की सुविधाएँ प्रदान करने का प्रस्ताव दिया ताकि वे अपना व्यय-भार वहन कर सकें।

(७) प्रशासन की निरीक्षण पद्धतियों के दोषों का निराकरण करने के लिए 'सार्वजनिक शिक्षा की सामान्य विद्यालय पद्धति' का सुझाव दिया। प्रत्येक राज्य में राज्य विद्यालय शिक्षा परिषद् एवं शिक्षा न्यायालय तथा राष्ट्रीय विद्यालय शिक्षा-परिषद् की स्थापना करने का प्रस्ताव किया।

(८) शिक्षणविधियों में लचीलापन तथा गतिशीलता का प्रस्ताव किया जिसके लिए पहल कदमी, परीक्षण तथा सृजनात्मकता के गुणों का विकास आवश्यक है। प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तरों पर मार्ग प्रदर्शन के प्रस्ताव प्रस्तुत किये, जो एक परामर्शदाता द्वारा सम्भव हो सकते हैं। मूल्यांकन के नवीन दृष्टिकोण द्वारा लिखित परीक्षाओं को सुधारने का प्रयास करने का प्रस्ताव किया। आन्तरिक परीक्षा को व्यापक बनाने का तथा वाह्य परीक्षा प्रश्न-पत्रों में वस्तुनिष्ठ का समावेश करने का प्रस्ताव किया।

(९) आयोग का प्रमुख प्रस्ताव तीन भाषाओं को पढ़ाना अनिवार्य करने का था।

(१०) बौद्धिक आदान-प्रदान की भाषा और भारतीय जनता के लिए विनिमय की भाषा हिन्दी ही बन सकती है अतः हिन्दी के प्रसार का प्रस्ताव किया गया। फलतः मातृ भाषा को स्कूल एवं उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव किया। लक्ष्य पूर्ति के लिए १० वर्ष का समय निश्चित किया गया।

(११) स्कूलों एव कालेजों में भारतीय भाषाओं को पढ़ाने की व्यवस्था करने का प्रस्ताव तथा साथ-साथ आधुनिक भाषाओं को पढ़ाने का भी प्रस्ताव किया।

(११) अखिल भारतीय शिक्षा संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम बनाये रखने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया था। कम से कम ६ महत्वपूर्ण विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखने का समर्थन किया था।

मीमांसा—कोठारी आयोग के विचारों एवं सुझावों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय शिक्षा क्षेत्र के विकास, प्रसार एवं प्रचार के समस्त स्तरों पर बल दिया गया है और आशा की जाती है कि भारत इन प्रस्तावों को मान्यता देकर अपनी उन्नति की ओर अग्रसर होगा।

प्रश्न ५४—स्वतन्त्र भारत में व्यावसायिक शिक्षा के लिए क्या-क्या प्रयास किये गये ? संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

भूमिका—सन् १९३७ में महात्मा गांधी ने देश के शिक्षाशास्त्रियों के समक्ष एक प्रस्ताव रखा कि भारत में किताबी शिक्षा की अपेक्षा व्यावसायिक शिक्षा की अति आवश्यकता है। इससे स्वतन्त्रता से पूर्व ही देश के व्यक्ति आत्म-निर्भर होंगे और उन्हें व्यवसाय मिलेगा। स्वतन्त्रता के पूर्व इस दिशा में कोई विशेष कार्य नहीं हुआ, परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कुछ सन्तोषप्रद कार्य हुए। यहाँ उन कार्यों के बारे में कुछ वर्णन करना आवश्यक है।

डाक्टरी शिक्षा—बंगाल, मद्रास और बम्बई के राज्यों में सर्वप्रथम डाक्टरी शिक्षा का कार्य शुरू हुआ। कलकत्ता व मद्रास के कालेजों में भारतीय व अंग्रेजी दोनों विधियों में डाक्टरी शिक्षा दी जाती थी। भारत की जनता विदेशी चिकित्सा नहीं चाहती थी अतः इसके चिकित्सालय बन्द करने पड़े थे। समय-समय पर नये डाक्टरी पाठशालायें या कालेज खोले गये और इस ओर प्रगति हुई :

(१) सन् १८३५ में मद्रास में एक पाठशाला खोली गयी जो १८५१ में कालेज के रूप में डाक्टरी शिक्षा देनी लगी।

(२) बम्बई में पहले देशी विद्यालय खोला गया और १८५४ में एक डाक्टरी कालेज खुला।

(३) सन् १८६० में लाहौर में एक मेडीकल कालेज खुला।

(४) सन् १९०१-२ में कुल २२ मेडीकल स्कूल खुले जिनमें ११ सरकारी, १ म्यूनिसिपल कमेटी और १० व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा खोले गये थे।

(५) सन् १९१६ में दिल्ली में एक डाक्टरी कालेज खुला, जिसमें केवल स्त्रियों को ही शिक्षा दी जाती थी, जिसका नाम लेडी हार्डिंग मेडीकल कालेज था।

(६) सन् १९२१-२२ में स्कूल आफ ट्रापिकल मेडीसन के नाम से कलकत्ता में खोला गया। इस कालेज में उष्ण कटिबन्धीय जलवायु में होने वाली बीमारियों की शिक्षा दी जाती थी।

(७) सन् १९३२ में 'अखिल भारतीय स्वास्थ्य रक्षा' और 'जन-स्वास्थ्य संस्था' कलकत्ता में खोली गयीं, जिनका कार्य जन स्वास्थ्य की समस्याओं के विषय में रिसर्च करना एवं उच्चा शिक्षा देना था।

(८) सन् १९३६-३७ तक भारत में दस विश्वविद्यालयों में डाक्टरी शिक्षा दी जाने लगी :

(६) इनके अतिरिक्त बनारस, दिल्ली, हरिद्वार में आयुर्वेदिक कालेज तथा कई यूनानी कालेज खुले जहाँ भारतीय विधि के अनुसार शिक्षा दी जाने लगी।

मेडीकल कौंसिल एक्ट सन् १९३३ के अनुसार दो कार्य हुए : १. भारत में डाक्टरी कालेज द्वारा प्रदान डिग्रियों को अन्य देशों के विश्वविद्यालयों में मान्यता मिली। और २. भारत में विश्वविद्यालय द्वारा दी गयी डाक्टरी शिक्षा के कोर्स को मान्यता प्राप्त हुई।

सन् १९४८ में डा० राधाकृष्णनन् कमीशन ने निम्न परामर्श देकर डाक्टरी शिक्षा में सहयोग प्रदान किया :

(१) प्रत्येक मेडीकल कालेज में १०० से अधिक छात्र प्रवेश न लें क्योंकि अधिक छात्रों के कारण शिक्षा का स्तर ऊँचा नहीं रखा जा सकता।

(२) विदेशी डाक्टरी के साथ भारतीय चिकित्सा का इतिहास भी पढ़ना आवश्यक हो।

(३) कालेजों में पर्याप्त सामान व शिक्षक होने पर ही ऊँची शिक्षा दी जाय।

(४) प्रत्येक विद्यार्थी के पीछे १० पलंग हों।

(५) नर्सिंग की ओर भी ध्यान दिया जाय।

(६) ग्रामीण केन्द्रों में साधारण डाक्टरी शिक्षा दी जाय।

(७) जन स्वास्थ्य सम्बन्धी चिकित्सा की शिक्षा पढ़ाई जाय।

(८) भारतीय चिकित्सा पद्धति में सुधार आवश्यक हैं।

कानून—भारत में कानून की शिक्षा सर्वप्रथम बनारस के संस्कृत कालेज में और मद्रास के स्कूलों में दी गयी। क्योंकि सरकार यह जानना चाहती थी कि हिन्दू धर्म में कानून का क्या रूप है और उसकी विवेचना किस भाँति की जाय ताकि भारतीय विवादों में अंग्रेजी पद्धति के अनुसार कोई कठिनाई न हो। यही समस्या मुसलिम धर्म के साथ थी। तदनन्तर कानूनी शिक्षा के लिए कालेज स्थापित हुए। कलकत्ता, मद्रास व पंजाब में कानून की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ। सन्ध्या काल में कानून की शिक्षा देने का भी कुछ कालेजों में प्रबन्ध किया गया।

सन् १९०१-२ तक कानून के ज्ञाताओं की संख्या अत्याधिक हो गयी क्योंकि आर्थिक दृष्टि से यह पेशा अधिक लाभदायक था।

१९२६-२७ तक इन कालेजों में शिक्षार्थियों की संख्या ९ हजार तक हो गयी। सन् १९३७ तक दो दर्जन से भी अधिक कालेजों में कानून की शिक्षा दी जाती थी, डा० राधाकृष्णानन् कमीशन ने कानूनी शिक्षा देने वाले कालेजों के सुधार के लिए सन् १९४८ में निम्न सुझाव प्रस्तुत किये :

(१) आवश्यक शिक्षा स्तर ऊँचा करने के लिए कानून की कक्षा से पूर्व १ वर्ष का कानून सम्बन्धी पाठ्यक्रम होना चाहिए।

(२) कालेजों का पुनर्गठन होना चाहिए।

(३) कालेजों में शिक्षा का समय निर्धारित होना चाहिए।

(४) कानून के शिक्षकों का विश्वविद्यालय से सम्पर्क होना चाहिए।

(५) परीक्षा प्रणाली प्रभावशाली होनी चाहिए।

(६) कानून-अध्ययन के साथ अन्य विषय भी पढ़ना आवश्यक हो। इसका विरोध किया गया।

(७) शिक्षार्थी में कानून समझने का गुण उत्पन्न करने की विधियों का प्रयोग किया जाय।

कृषि—प्राचीन काल से ही भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। परन्तु कृषि शिक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं रहा। प्रायः पीढ़ी दर पीढ़ी ही शिक्षा सम्बन्धी ज्ञान मिलता रहा। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ५ कालेज स्थापित किये गये। जो पूना, सिंगापुर, मद्रास, कानपुर और लखनऊ में कालेज थे तथा बम्बई में एक विश्वविद्यालय था जहाँ कृषि शिक्षा का डिग्री कोर्स पढ़ाया जाता था।

लार्ड कर्जन ने इस क्षेत्र में प्रगति करने के लिए एक रिसर्च संस्था पूसा में खोली थी जो अब दिल्ली में स्थानान्तर हो गई है। दूसरे 'इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ एनीमल हसबैंडरी एण्ड डेयरिंग' की स्थापना बंगलौर में की थी।

सन् १९३७ तक प्रत्येक राज्य में एक कृषि कालेज खोलने का प्रस्ताव किया गया तथा प्रत्येक स्कूल में कृषि कक्षाएँ चालू की गई।

वर्तमान स्वतन्त्र भारत में २० से अधिक कृषि कालेज स्थापित हो चुके हैं। उत्तर प्रदेश में आगरा, बनारस, इलाहाबाद के कृषि कालेज श्रेष्ठ माने जाते हैं और तीन हजार से अधिक स्कूलों में कृषि कक्षाएँ होती हैं जहाँ शिक्षार्थियों को साधारण ज्ञान अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाता है।

इन्जीनियरिंग—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व ब्रिटिश सरकार ने इन्जीनियरिंग शिक्षा क्षेत्र में निम्न कार्य किये थे :

(१) सरकार को कुछ कर्मचारियों की आवश्यकता थी, तो सन् १७९३ में सर्वे विभाग के लिए मद्रास में एक सर्वे स्कूल की स्थापना की थी।

(२) सन् १८४४ में एलफिसटन संस्था में एक इन्जीनियरिंग कॉलेज की स्थापना हुई।

(३) सन् १८४७ में उत्तर प्रदेश के गवर्नर के नाम पर टामसन इन्जीनियरिंग कॉलेज रुड़की में स्थापित हुआ।

(४) पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेन्ट के लिए छोटे अफसरों की पूर्ति के लिए पूना में सन् १८५४ में एक इन्जीनियरिंग कालेज की स्थापना की गई।

(५) सन् १८५६ में एक इन्जीनियरिंग कालेज कलकत्ता में स्थापित हुआ।

(६) तत्कालीन जनताइन्जी नियरिंग शिक्षा के प्रति आकर्षित हुई क्योंकि सरकार को इन्जीनियरों की आवश्यकता रहती थी। पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेण्ट और रेलवे का विकास हो रहा था। तीसरे म्यूनिसिपल कमेटियों का कार्य भी वृद्धि पर

था। इन सबके अतिरिक्त जूट, कपड़ा और स्टीमर कम्पनियों को भी इन्जीनियरों की आवश्यकता अनुभव होती थी। फलत: पूर्व स्थापित कालेजों की उन्नति की गई और एक नया कालेज सिवपुर बंगाल में स्थापित हुआ।

(७) बनारस विश्वविद्यालय में सन् १९१७ में इन्जीनियरिंग कालेज की स्थापना की गई। तदनन्तर लाहौर, करांची और पटना में कालेज खोले गये।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्—स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय सरकार ने पंचवर्षीय योजना द्वारा इन्जीनियरिंग शिक्षा क्षेत्र में आवश्यकता की पूर्ति के लिए बड़ी संख्या में उन्नति की। सन् १९५३ तक टेकनीकल स्कूलों में शिक्षार्थियों की संख्या १३ हजार के लगभग हो गई थी। अब यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि प्रत्येक औद्योगिक नगर में एक इन्जीनियरिंग कालेज स्थापित हो चुका है।

वर्तमान समय में देश के अन्दर १२ अनुसंधानशालाएँ स्थापित की जा चुकी हैं :

(१) सेन्ट्रल साल्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भावनगर।
(२) सेन्ट्रल ग्रमिक्स इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता।
(३) इण्डियन रोड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, दिल्ली।
(४) नेशनल फिजीकल लेबोरेटेरीज ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली।
(५) सेन्ट्रल फ्यूअल इन्स्टीट्यूट, जीलगोरा।
(६) नेशनल मेटालरजीकल इन्स्टीट्यूट, जमशेदपुर।
(७) सेन्ट्रल इलैक्ट्रो-कैमीकल इन्स्टीट्यूट, कराईकुड्डी।
(८) सेन्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीट्यूट, लखनऊ।
(९) नेशनल फूड टेक्नोलोजिकल लेबोरेटेरीज, मैसूर।
(१०) सेन्ट्रल लैदर इन्स्ट्रीट्यूट, मद्रास।
(११) नेशनल कैमीकल लेबोरेटेरीज ऑफ इण्डिया, पूना।
(१२) सेन्ट्रल हाऊस बिल्डिंग इन्स्टीट्यूट, रुड़की।

इन्जीनियरिंग विभाग की आवश्यकताओं की पूर्ति कालेजों की वृद्धि से अवश्य पूरी होगी, इस आशा पर ही यह प्रयास किया गया। अब यह समस्या भी बनती जा रही है कि इन्जीनियर बने शिक्षार्थी अपनी जीविका के लिए प्रयत्नशील रहने लगे हैं और स्थान नहीं पा रहे हैं।

मीमांसा—व्यावसायिक क्षेत्रों में भारत ने पूर्णरूपेण उन्नति कर ली है और अभी इसी प्रयास में लगा है कि किसी भी क्षेत्र में असफल न हो। अत: हम विद्यार्थियों का भी कर्तव्य है कि देश हित को ध्यान में रखकर ही अपनी शिक्षा का लाभ उठावें।

अध्याय १०

शैक्षिक प्रशासन, संगठन एवं प्रमुख भारतीय शिक्षाशास्त्री

(Educational Machinery, Organisation and Important Indian Educationists)

प्रश्न ५५—उत्तर प्रदेश के शैक्षिक प्रशासन एवं संगठन का उल्लेख कीजिए।
(उ० प्र० १९५४, ६०, ६४, ६५ व ६७)

भूमिका—उत्तर प्रदेश की भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताएँ अलग हैं। राज्य की भाषा हिन्दी है और भी अन्य भाषायें—उर्दू, पंजाबी, बंगला आदि पढ़ने की सुविधा उपलब्ध है। जाति-भेद एवं धार्मिक रूढ़ियों के कारण अनेक शिक्षा संस्थाएँ उत्तर प्रदेश से आज भी प्रेरणा ग्रहण करती हैं। अतः यहाँ की शिक्षा व्यवस्था एवं संगठन पर अध्ययन करेंगे।

शिक्षा का प्रशासन—शिक्षा विभाग के प्रमुख पदाधिकारी क्रमानुसार निम्न हैं :

(१) जिला विद्यालय निरीक्षक—उत्तर प्रदेश के ५३ जिलों में प्रत्येक जिले का एक जिला विद्यालय निरीक्षक होता है। यह जिले का सबसे बड़ा शिक्षा विभाग का अधिकारी है। इसकी सहायता के लिए ८ प्रमुख जिलों में एक एसोसियेट इन्सपेक्टर हैं। उप-जिला विद्यालय निरीक्षक, सहायक उप-जिला विद्यालय निरीक्षक, उप-विद्यालय निरीक्षक तथा अन्य विभागीय निरीक्षक होते हैं।

(२) क्षेत्रीय उप-शिक्षा संचालक—उत्तर प्रदेश को ८ क्षेत्रीय भागों में विभाजित करके प्रत्येक क्षेत्र की शिक्षा सम्बन्धी बातों के निरीक्षण के लिए एक-एक क्षेत्रीय उप-शिक्षा संचालक नियुक्त है।

(३) संयुक्त शिक्षा संचालक—शिक्षा संचालक के अन्तर्गत रह कर पूरे प्रान्त का संचालन, कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति व स्थानान्तरण करने का कार्य संयुक्त शिक्षा संचालक का होता है।

(४) शिक्षा संचालक—शिक्षा सम्बन्धी विषयों का प्रत्येक कार्य सम्पूर्ण प्रान्त में इसी पद के परामर्श से होता है। इसके अन्तर्गत चार उप-शिक्षा संचालक और

होते हैं—(१) सर्विसेज विभाग का उप-शिक्षा संचालक, (२) अर्थ-विभाग का उप-शिक्षा संचालक, (३) सामान्य विभाग का उप-शिक्षा संचालक तथा (४) महिलाओं के लिए अलग से उप-शिक्षा संचालक होते हैं।

उप-शिक्षा संचालकों की सहायतार्थ अन्य विशेष पदाधिकारी निम्न हैं :

(अ) माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी विशेष पदाधिकारी।

(ब) पुनर्व्यवस्था विभाग का विशेष पदाधिकारी।

(स) प्राइमरी शिक्षा का विशेष पदाधिकारी।

(द) पाठ्य-पुस्तक सम्बन्धी विशेष पदाधिकारी।

(य) त्रैमासिक पत्रिका सम्बन्धी विशेष पदाधिकारी।

(फ) सहायक उप-शिक्षा संचालक।

(५) शिक्षा मन्त्री एवं उसके सहायक—प्रान्त के शिक्षा मन्त्री का चुनाव मुख्य मन्त्री द्वारा होता है, जिसकी सहायता के लिए उप-शिक्षा मन्त्री, शिक्षा सचिव, सह सचिव, उप-सचिव, अनुसचिव तथा सचिवालय के अन्य कर्मचारी होते हैं। परामर्श के लिए एक समिति होती है। शिक्षा सम्बन्धी नवीन योजना और समस्याओं पर यह समिति विचार-विमर्श करती है।

शिक्षा संगठन—शिक्षा संगठन को निम्न चार भागों में विभक्त किया गया है :

(१) पूर्व प्राथमिक शिक्षा—(१½ वर्ष से ५ वर्ष तक आयु) उत्तर प्रदेश में इस भाग पर प्राइमरी टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल, नर्सरी ट्रेनिंग स्कूल खोले गये जहाँ शिक्षकों की शिक्षा का प्रबन्ध होता है। सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में करीब २५ नर्सरी स्कूल हैं तथा ५ आदर्श नर्सरी स्कूल हैं। ११ राजकीय कन्या नार्मल स्कूल स्थापित हो चुके हैं।

(२) प्राथमिक शिक्षा—प्राथमिक शिक्षा केन्द्रों को प्रबन्धात्मक दृष्टि से निम्न भागों में विभक्त किया है :

जिला बोर्ड द्वारा संचालित स्कूल।

म्यूनिसिपल बोर्ड द्वारा संचालित स्कूल।

नोटीफाइड अथवा टाउन एरिया द्वारा संचालित स्कूल।

कैन्टोनमेण्ट द्वारा संचालित स्कूल।

धार्मिक संस्थाओं द्वारा संचालित स्कूल।

गाँव सभा द्वारा संचालित स्कूल।

सामूहिक अथवा एक व्यक्ति द्वारा संचालित स्कूल।

प्राथमिक शिक्षा ६ वर्ष से १२ वर्ष तक बालकों को निःशुल्क एवं अनिवार्य दी जाती है। उत्तर प्रदेश में २६ जिलों को अभी तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जा चुकी है। राज्य में ११५ म्यूनिसिपल बोर्डों द्वारा संचालित स्कूलों में व ६ स्कूलों में बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था है।

असुविधाएँ—गरीबी के कारण जनता पढ़ाई की ओर ध्यान नहीं दे पाती है। क्योंकि सर्वप्रथम जीविकोपार्जन की समस्या है। दूसरे प्राथमिक स्कूलों और उनके अध्यापकों को दोहरे नियन्त्रण में अनुशासित रहना पड़ता है, फलतः कार्य पद्धति को बदलना आवश्यक है।

(३) माध्यमिक शिक्षा—(१२ वर्ष से १८ वर्ष तक) पाठ्यक्रमानुसार तीन श्रेणी में विभक्त हैं। १. जूनियर हाई स्कूल या सीनियर वेसिक स्कूल, २. हाई स्कूल और ३. हायर सेकेण्डरी स्कूल या इन्टरमीडियेट कालेज।

जूनियर हाई स्कूलों का प्रबन्ध राज्य, स्थानीय बोर्ड अथवा जनता द्वारा संचालित होता है। हाई स्कूल राज्य या जनता द्वारा संचालित किये जाते हैं और हायर सेकेण्डरी स्कूल भी हाई स्कूल के समान ही हैं।

उत्तर प्रदेश में सवातीन हजार जूनियर हाई स्कूलों में निशुल्क शिक्षा के आधार पर राज्य द्वारा शिक्षा व्यवस्था कर दी गयी है। जूनियर हाई स्कूलों में सह-शिक्षा का प्रचलन नहीं है। ७२५ हाई स्कूल बालकों को शिक्षा देते हैं, जिनमें १०० के लगभग राजकीय स्कूल हैं, शेष स्कूल जनता द्वारा संचालित होते हैं। बालकों के स्कूलों की संख्या लगभग ६२० है और बालिकाओं के लिए हाई स्कूलों की संख्या १०५ के करीब है। हायर सेकेण्डरी स्कूल ८५२ हैं जिनमें ७३१ बालकों के एवं १२१ बालिकाओं के लिए हैं।

जूनियर हाई स्कूलों का पाठ्यक्रम—१. राष्ट्रभाषा हिन्दी, २. गणित, ३. सामान्य विज्ञान, ४. सामाजिक विषय, ५. शारीरिक शिक्षा, ६. शिल्प, ७ व ८ अंग्रेजी एवं एक अन्य भाषा (आधुनिक भाषा, प्राचीन भाषा, संगीत, कामर्स तथा आर्ट)। आठवीं कक्षा की विभागीय परीक्षा होती है जिसे पास करने के उपरान्त प्रमाण-पत्र दिये जाते हैं। बालिकाओं के लिए गृह-शिल्प की शिक्षा देने का विशेष प्रबन्ध होता है।

हाई स्कूल का पाठ्यक्रम—हाई स्कूल एवं इण्टरमीडियेट एजूकेशन बोर्ड द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम होता है। इस बोर्ड के सदस्य यूनिवर्सिटी के प्रधानाचार्यों, निरीक्षकों एवं विधान मण्डल के सदस्यों के प्रतिनिधि होते हैं। यह गैर सरकारी बोर्ड होता है। दसवीं एवं बारहवीं कक्षा की परीक्षा की व्यवस्था बोर्ड द्वारा ही होती है। राज्य का शिक्षा संचालक बोर्ड का अध्यक्ष होता है, राज्य सरकार द्वारा सेक्रेटरी एवं अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति होती है। विषयों का वर्गीकरण किया जाता है और बालक अपनी रुचि अनुसार एक वर्ग को चुनता है। १. साहित्यिक, २. वैज्ञानिक, ३. वाणिज्य, ४. पूर्व औद्योगिक, ५. रचनात्मक, और ६. कलात्मक।

हाई स्कूल के लिए ३ अनिवार्य २ वैकल्पिक विषय हैं तथा इन्टरमीडियेट के लिए ३ विषय अनिवार्य तथा २ वैकल्पिक होते हैं। उत्तर प्रदेश द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अनुसार पाठ्यक्रम में ५ विषय ललित कला सम्बन्धी, १५ वाणिज्य, १०

होते हैं—(१) सर्विसेज विभाग का उप-शिक्षा संचालक, (२) अर्थ-विभाग का उप-शिक्षा संचालक, (३) सामान्य विभाग का उप-शिक्षा संचालक तथा (४) महिलाओं के लिए अलग से उप-शिक्षा संचालक होते हैं।

उप-शिक्षा संचालकों की सहायतार्थ अन्य विशेष पदाधिकारी निम्न हैं :

(अ) माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी विशेष पदाधिकारी।

(ब) पुनर्व्यवस्था विभाग का विशेष पदाधिकारी।

(स) प्राइमरी शिक्षा का विशेष पदाधिकारी।

(द) पाठ्य-पुस्तक सम्बन्धी विशेष पदाधिकारी।

(य) त्रैमासिक पत्रिका सम्बन्धी विशेष पदाधिकारी।

(फ) सहायक उप-शिक्षा संचालक।

(५) शिक्षा मन्त्री एवं उसके सहायक—प्रान्त के शिक्षा मन्त्री का चुनाव मुख्य मन्त्री द्वारा होता है, जिसकी सहायता के लिए उप-शिक्षा मन्त्री, शिक्षा सचिव, सह सचिव, उप-सचिव, अनुसचिव तथा सचिवालय के अन्य कर्मचारी होते हैं। परामर्श के लिए एक समिति होती है। शिक्षा सम्बन्धी नवीन योजना और समस्याओं पर यह समिति विचार-विमर्श करती है।

शिक्षा संगठन—शिक्षा संगठन को निम्न चार भागों में विभक्त किया गया है :

(१) पूर्व प्राथमिक शिक्षा—(१½ वर्ष से ५ वर्ष तक आयु) उत्तर प्रदेश में इस भाग पर प्राइमरी टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल, नर्सरी ट्रेनिंग स्कूल खोले गये जहाँ शिक्षकों की शिक्षा का प्रवन्ध होता है। सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में करीब २५ नर्सरी स्कूल हैं तथा ५ आदर्श नर्सरी स्कूल हैं। ११ राजकीय कन्या नार्मल स्कूल स्थापित हो चुके हैं।

(२) प्राथमिक शिक्षा—प्राथमिक शिक्षा केन्द्रों को प्रबन्धात्मक दृष्टि से निम्न भागों में विभक्त किया है :

जिला बोर्ड द्वारा संचालित स्कूल।

म्यूनिसिपल बोर्ड द्वारा संचालित स्कूल।

नोटीफाइड अथवा टाउन एरिया द्वारा संचालित स्कूल।

कैन्टोनमेण्ट द्वारा संचालित स्कूल।

धार्मिक संस्थाओं द्वारा संचालित स्कूल।

गाँव सभा द्वारा संचालित स्कूल।

सामूहिक अथवा एक व्यक्ति द्वारा संचालित स्कूल।

प्राथमिक शिक्षा ६ वर्ष से १२ वर्ष तक बालकों को निःशुल्क एवं अनिवार्य दी जाती है। उत्तर प्रदेश में २६ जिलों को अभी तक निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जा चुकी है। राज्य में ११५ म्यूनिसिपल बोर्डों द्वारा संचालित स्कूलों में व ६ स्कूलों में बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था है।

असुविधाएँ—गरीबी के कारण जनता पढ़ाई की ओर ध्यान नहीं दे पाती है। क्योंकि सर्वप्रथम जीविकोपार्जन की समस्या है। दूसरे प्राथमिक स्कूलों और उनके अध्यापकों को दोहरे नियन्त्रण में अनुशासित रहना पड़ता है, फलतः कार्य पद्धति को बदलना आवश्यक है।

(३) माध्यमिक शिक्षा—(१२ वर्ष से १८ वर्ष तक) पाठ्यक्रमानुसार तीन श्रेणी में विभक्त हैं। १. जूनियर हाई स्कूल या सीनियर वेसिक स्कूल, २. हाई स्कूल और ३. हायर सेकेण्डरी स्कूल या इन्टरमीडियेट कालेज।

जूनियर हाई स्कूलों का प्रबन्ध राज्य, स्थानीय बोर्ड अथवा जनता द्वारा संचालित होता है। हाई स्कूल राज्य या जनता द्वारा संचालित किये जाते हैं और हायर सेकेण्डरी स्कूल भी हाई स्कूल के समान ही हैं।

उत्तर प्रदेश में सवातीन हजार जूनियर हाई स्कूलों में निशुल्क शिक्षा के आधार पर राज्य द्वारा शिक्षा व्यवस्था कर दी गयी है। जूनियर हाई स्कूलों में सह-शिक्षा का प्रचलन नहीं है। ७२५ हाई स्कूल बालकों को शिक्षा देते हैं, जिनमें १०० के लगभग राजकीय स्कूल हैं, शेष स्कूल जनता द्वारा संचालित होते हैं। बालकों के स्कूलों की संख्या लगभग ६२० है और बालिकाओं के लिए हाई स्कूलों की संख्या १०५ के करीब है। हायर सेकेण्डरी स्कूल ८५२ हैं जिनमें ७३१ बालकों के एवं १२१ वालिकाओं के लिए हैं।

जूनियर हाई स्कूलों का पाठ्यक्रम—१. राष्ट्रभाषा हिन्दी, २. गणित, ३. सामान्य विज्ञान, ४. सामाजिक विषय, ५. शारीरिक शिक्षा, ६. शिल्प, ७ व ८ अंग्रेजी एवं एक अन्य भाषा (आधुनिक भाषा, प्राचीन भाषा, संगीत, कामर्स तथा आर्ट)। आठवीं कक्षा की विभागीय परीक्षा होती है जिसे पास करने के उपरान्त प्रमाण-पत्र दिये जाते हैं। बालिकाओं के लिए गृह-शिल्प की शिक्षा देने का विशेष प्रबन्ध होता है।

हाई स्कूल का पाठ्यक्रम—हाई स्कूल एवं इण्टरमीडियेट एजूकेशन बोर्ड द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम होता है। इस बोर्ड के सदस्य यूनिवर्सिटी के प्रधानाचार्यों, निरीक्षकों एवं विधान मण्डल के सदस्यों के प्रतिनिधि होते हैं। यह गैर सरकारी बोर्ड होता है। दसवीं एवं बारहवीं कक्षा की परीक्षा की व्यवस्था बोर्ड द्वारा ही होती है। राज्य का शिक्षा संचालक बोर्ड का अध्यक्ष होता है, राज्य सरकार द्वारा सेक्रेटरी एवं अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति होती है। विषयों का वर्गीकरण किया जाता है और बालक अपनी रुचि अनुसार एक वर्ग को चुनता है। १. साहित्यिक, २. वैज्ञानिक, ३. वाणिज्य, ४. पूर्व औद्योगिक, ५. रचनात्मक, और ६. कलात्मक।

हाई स्कूल के लिए ३ अनिवार्य २ वैकल्पिक विषय हैं तथा इन्टरमीडियेट के लिए ३ विषय अनिवार्य तथा २ वैकल्पिक होते हैं। उत्तर प्रदेश द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अनुसार पाठ्यक्रम में ५ विषय ललित कला सम्बन्धी, १५ वाणिज्य, १०

गृह-विज्ञान सम्बन्धी, १० कृषि सम्बन्धी, १० औद्योगिक तथा ६ वैज्ञानिक कुल ५६ नवीन विषयों का समावेश किया गया है।

हायर सेकेन्डरी अथवा इन्टरमीडियेट के पाठ्यक्रम की रूपरेखा हाई स्कूल के ही समान है।

माध्यमिक शिक्षा की कठिनाइयाँ—कुशल अध्यापकों का अभाव रहता हैं क्योंकि समुचित वेतन नहीं मिलता है। उनके जीविकोपार्जन का कोई निश्चित रूप नहीं है। शिक्षार्थियों की संख्या बढ़ती जाती है और देखभाल की व्यवस्था उचित नहीं हो पाती। क्योंकि आर्थिक समस्या की अनेकों कठिनाइयाँ उपस्थित रहती हैं। देश की गरीबी इतनी अधिक है कि अभिभावक पढ़ाई का भार उठाने में असमर्थ हैं।

विश्वविद्यालय की शिक्षा—(१८ वर्ष से अधिक) भारत के विश्वविद्यालयों की रूपरेखा आदि का पूर्ण वर्णन अध्याय ६ में किया जा चुका है। उत्तर प्रदेश में इस समय ११ विश्वविद्यालय हैं :

(१) आगरा, (२) कानपुर, (३) अलीगढ़, (४) मेरठ, (५) लखनऊ, (६) गोरखपुर, (७) इलाहाबाद, (८) बनारस, (९) इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय रुड़की, (१०) संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी एवं (११) कृषि विश्वविद्यालय पंत नगर।

विश्वविद्यालयों के दो रूप हैं : एक तो वे जहाँ अध्ययन एवं अध्यापन का कार्य होता है, जैसे—लखनऊ, बनारस, रुड़की, गोरखपुर, इलाहाबाद, अलीगढ़। दूसरे वे विश्वविद्यालय जो केवल अन्य कालेजों का पाठ्यक्रम निर्धारित करते हैं और परीक्षा लेते हैं। उदाहरणार्थ आगरा का विश्वविद्यालय जिसके अन्तर्गत अनेकों डिग्री कालेज होते हैं।

उत्तर प्रदेश में ६५ डिग्री कालेज हैं जिनमें ५७ छात्रों के हैं। शेष छात्राओं के इन विश्वविद्यालयों का प्रबन्ध राज्य के राज्यपाल द्वारा होता है। केवल अलीगढ़ एवं बनारस के विश्वविद्यालय केन्द्र द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

प्रत्येक विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम ४ वर्ष का होता है। पोस्ट ग्रेजुएट होने पश्चात् पी० एच-डी०, डी० फिल आदि डिग्रियाँ प्राप्त करने के लिए रिसर्च की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

असुविधाएँ—विद्वान पाठन कार्य आर्थिक पूर्ति न होने पर नहीं करते। यदि करते हैं तो अन्य कार्य भी साथ-साथ करते हैं, फलतः अध्यापन कार्य उचित ढंग से नहीं होता है। भवन समस्या तथा विज्ञान सम्बन्धी सामग्री का अभाव रहता है। सरकार द्वारा विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता का अपहरण होने लगा है। विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता बढ़ रही है। माध्यमिक स्तर निम्न होने से विश्वविद्यालयों में प्रवेश नहीं मिलता या शिक्षा का स्तर निम्नतर होता जा रहा है।

विशिष्ट शैक्षणिक संस्थाएँ—

(१) गवर्नमेंट नर्सरी ट्रेनिंग कालेज पूर्व बेसिक स्कूलों के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित करता है।

(२) नार्मल स्कूल जहाँ प्राइमरी स्कूल के लिए शिक्षक प्रशिक्षित होते हैं। इन्हें उत्तीर्ण होने पर एच० टी० सी० का प्रमाण-पत्र दिया जाता है।

(३) जूनियर ट्रेनिंग कालेज में जूनियर हाई स्कूल के लिए शिक्षक प्रशिक्षित होते हैं, जिन्हें जे० टी० सी० का प्रमाण-पत्र दिया जाता है। परन्तु जे० टी० सी० एवं एच० टी० सी० की ट्रेनिंग समाप्त करके वी० टी० सी० की ट्रेनिंग प्रारम्भ कर दी है।

(४) राज्य अथवा विश्वविद्यालयों द्वारा माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ाने योग्य शिक्षक प्रशिक्षित होते हैं, जिन्हें एल० टी० का डिप्लोमा एवं बी० टी० की डिग्री प्रदान की जाती है।

(५) वेसिक ट्रेनिंग कालेज द्वारा बुनियादी शिक्षा के लिए शिक्षक प्रशिक्षित होते हैं।

(६) कन्स्ट्रक्टिव ट्रेनिंग कालेज द्वारा उत्तर बुनियादी शिक्षा के लिए शिक्षक प्रशिक्षित होते हैं।

(७) ट्रेनिंग प्राप्त करने के पश्चात् यदि शिक्षक रिसर्च करना चाहता है तो विश्वविद्यालयों द्वारा व्यवस्था उपलब्ध की जाती है।

(८) राज्य द्वारा संचालित सैन्ट्रल पेडगाजिकल इन्स्टीट्यूट में शिक्षा सम्बन्धी अनुसन्धान किया जाता है।

(९) ब्यूरो आफ साइकोलॉजी इलाहाबाद का संचालन विद्यार्थियों को पाठ्य विषयों के चुनाव में सहायता देने के लिए एवं साधनों तथा सामग्री को उपलब्ध करने के लिए राज्य द्वारा होता है।

(१०) शिक्षार्थियों को हस्तकौशल की शिक्षा देने के लिए इन्डस्ट्रीज डिपार्टमेन्ट की राज्य द्वारा स्थापना की गयी है।

(११) प्रयाग संगीत समिति एवं मैरिस कालेज लखनऊ द्वारा संगीत की शिक्षा प्रदान की जाती है।

(१२) कालेज ऑफ आर्टस् एण्ड क्राफ्ट लखनऊ द्वारा ललित कला की शिक्षा दी जाती है।

मीमांसा—स्वतन्त्र भारत के उत्तर प्रदेश राज्य में शिक्षा का संगठन यदि सन्तोषप्रद नहीं है तो भी अन्य राज्यों की अपेक्षा हीन भी नहीं है। आर्थिक अभाव के कारण उन्नति में बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। फलतः शिक्षा की अयोग्यता भी सिद्ध होती है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत राज्य का प्रमुख कर्तव्य है कि योग्य प्रशिक्षण एवं प्रशासन द्वारा वालक एवं बालिकाओं की शिक्षा की व्यवस्था करे।

प्रश्न ५६—निम्न भारतीय शिक्षाशास्त्रियों के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण-पद्धति आदि का विश्लेषण करते हुए उनके शिक्षा-दर्शन का मूल्यांकन कीजिए :

(१) डा० एनीबेसेन्ट, (२) पण्डित मदनमोहन मालवीय, (३) मोहनदास करमचन्द गांधी एवं (४) रवीन्द्रनाथ टैगोर।

डा० एनीवेसेन्ट का जीवन—हिन्दू धर्म एवं भारतीय संस्कृति की पोषक डा० एनीवेसेन्ट का जन्म सन् १८४७ में लन्दन के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। वह बचपन से पुस्तक अध्ययन, चिन्तन एवं कल्पना में अत्यधिक रुचि रखती थीं। उनके जीवन की परिस्थितियों के कारण उनकी रुचि धर्म की ओर अग्रसर होती गयी। सन् १८९३ में थियोसोफिकल सोसाइटी की सदस्य बनकर भारत आईं, भारत में रहकर हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का अध्ययन किया। भगवद्गीता का अंग्रेजी में रूपान्तर किया तथा वैदिक एवं उपनिषद् सिद्धान्तों का अत्यधिक प्रचार किया। शिक्षा क्षेत्र में बनारस में सेन्ट्रल हाई स्कूल की स्थापना तदनन्तर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में योगदान करने से शुरू होता है।

एनीवेसेन्ट के शिक्षा सम्बन्धी विचार निम्न रूप से व्यक्त किये जा सकते हैं :

(१) वर्तमान शिक्षा (तत्कालीन) एकांगी थी।

(२) शिक्षा का अभिप्राय वालक का सर्वांगीण विकास करना होना चाहिए।

(३) शिक्षा व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास का साधन है।

(४) ज्ञान व्यक्ति में सुप्त शक्तियों की जाग्रति होने से अन्दर से प्राप्त होता है।

शिक्षा एवं संस्कृति में सम्बन्ध—

(१) शिक्षा एक रूप से सांस्कृतिक विधि या क्रिया होती है।

(२) शिक्षा का आदर्श संस्कृति से विभूषित व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

शिक्षा के उद्देश्य—डा० एनीवेसेण्ट के मतानुसार शिक्षा के निम्न उद्देश्य होने चाहिए :

(१) शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य वालकों के शारीरिक विकास का होना चाहिए।

(२) शारीरिक विकास के साथ मानसिक विकास भी अति आवश्यक है।

(३) समुचित संवेगों को प्रशिक्षित करना होना चाहिए।

(४) शिक्षा का उद्देश्य वालकों का नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास करने वाला होना चाहिए।

शिक्षा का विभाजन—डा० एनीबेसेण्ट के मतानुसार शिक्षा के प्रमुख रूप से तीन विभाजन होने चाहिए :

(१) प्रथम विभाजन के अनुसार शारीरिक, भावात्मक, वौद्धिक एवं आध्यात्मिक चार अंग हैं। विद्यार्थी के शैक्षिक जीवन के ५ स्तर विभाजित किये जा सकते हैं :

(क) जन्म से ५ वर्ष की आयु तक।
(ख) ५ वर्ष से ७ वर्ष की आयु तक।
(ग) ७ वर्ष से १० वर्ष की आयु तक।
(घ) १० वर्ष से १४ वर्ष की आयु तक।
(ङ) १४ वर्ष से २१ वर्ष की आयु तक।

(२) द्वितीय विभाजन में प्रमुख रूप से दो अंग होने चाहिए: (१) सामान्य एवं (२) विशिष्ट। सामान्य शिक्षा का अध्ययन काल १४ वर्ष की आयु तक और विशिष्ट शिक्षा का अध्ययन काल १४ वर्ष से २१ वर्ष की आयु तक होना चाहिए।

(३) तृतीय विभाजन के अनुसार शिक्षा के स्तर के आधार पर चार भागों में विभाजित किया है—(१) जन्म से ५ वर्ष तक शिशु शिक्षा, (२) ५ वर्ष से १० वर्ष की आयु तक प्राथमिक शिक्षा, (३) १० वर्ष से १४ वर्ष की आयु तक माध्यमिक शिक्षा एवं (४) १४ वर्ष से २१ वर्ष की आयु तक विशिष्ट शिक्षा दी जानी चाहिए।

शिक्षा के विभिन्न भेद—शिक्षा योजना में शिक्षा के निम्न भेद उल्लेखनीय हैं:

(क) जन साधारण की शिक्षा।
(ख) प्रौढ़ शिक्षा।
(ग) पिछड़े वर्गों की शिक्षा।
(घ) धर्म की शिक्षा।
(ङ) ग्रामीण शिक्षा।
(च) स्त्री शिक्षा।

इसके अतिरिक्त बालक-बालिकाओं के लिए नैतिक शिक्षा, शारीरिक शिक्षा, कलात्मक शिक्षा, साहित्यिक शिक्षा एवं वैज्ञानिक शिक्षा भी अत्यन्त आवश्यक हैं।

पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचार—डा० एनीबेसेण्ट के मतानुसार बालक की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार पाठ्यक्रम होना चाहिए।

जन्म से ५ वर्ष की आयु तक का पाठ्क्रम—इस शिक्षा में बालक का चलना-फिरना, उठना-बैठना, बोलना, आदि शारीरिक क्रिया, खेलकूद, गणित, भाषा, गीत आदि का समावेश होना चाहिए।

५ वर्ष से ७ वर्ष की आयु तक का पाठ्यक्रम—इसमें बालक के चरित्र का विकास करने के लिए महापुरुषों आदि अनुकरणीय पुरुषों का अनुकरण कर प्रेम, दया, सेवा, श्रद्धा आदि गुणों का विकास होना चाहिए।

७ वर्ष से १० वर्ष की आयु का पाठ्यक्रम—इस अवस्था में पाठ्यक्रम के अन्तर्गत मातृभाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, शारीरिक व्यायाम तथा अन्य भाषाओं का समावेश होना चाहिए।

१० वर्ष से १४ वर्ष की आयु का पाठ्यक्रम—इस अवस्था में पाठ्यक्रम के अन्तर्गत पूर्व विषयों के अतिरिक्त कौशल तथा शिल्प का समावेश हो जाना चाहिए।

१४ वर्ष से १६ वर्ष की आयु का पाठ्यक्रम—इसमें नवीन विषयों के रूप में विश्व का इतिहास एवं भूगोल, वैज्ञानिक शास्त्र (रसायन शास्त्र एवं भौतिकशास्त्र), बीजगणित, रेखागणित, मनोविज्ञान, शारीरिक शिक्षा, शिक्षण अभ्यास, प्रकृति-विज्ञान एवं गृह विज्ञान (बालिकाओं के लिए), व्यावसायिक रूप से यन्त्र विद्या, विद्युत ज्ञान, प्रारम्भिक इन्जीनियरी, वाणिज्य रूप से व्यापार एवं व्यवहार, हिसाब-किताब, व्यापारिक कानून, टंकण (टाइप), शॉर्ट हैण्ड तथा कृषि के दृष्टिकोण से कृषि सम्बन्धी प्रयोगात्मक, रासायनिक एवं भौतिक विज्ञान तथा भूमि की नाप-तोल करना एवं हिसाब-किताब रखना अनिवार्य विषय होने चाहिए।

१६ वर्ष से २१ वर्ष की आयु का पाठ्यक्रम—इस अवस्था का पाठ्यक्रम दो भागों में विभक्त किया जाना चाहिए : (१) स्नातकीय एवं (२) स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम इसके समस्त विषय पूर्व अवस्थानुसार ही होने चाहिए।

शिक्षण पद्धति सम्बन्धी विचार—एनीबेसेण्ट रटने की विधि का विरोध करती थीं। वे विभिन्न विषयों का ज्ञान बिना किसी कठिनाई के देने वाली शिक्षण पद्धति अपनाना चाहती थीं अतः उन्होंने शिक्षा को निम्न विधियों पर आधारित करने पर विशेष बल दिया था :

(१) निरीक्षण विधि।
(२) अनुकरण विधि।
(३) क्रिया विधि।
(४) निर्देशन विधि।
(५) व्याख्यान विधि।

डा० एनीबेसेण्ट अनुशासन स्थापित करने के लिए बालक से प्रेम, सहानुभूति, सद्व्यवहार, आत्मप्रेरणा, इच्छाशक्ति आदि से कार्य होने पर बल देती थीं और बालकों को ब्रह्मचर्य पालन, मनन, चिन्तन, व्यवहारिक ज्ञान, विज्ञान, उद्योग, तकनीक, व्यावसायिक शिक्षा, गृह विज्ञान, पाकशास्त्र, कला कौशल आदि ज्ञान देने की आवश्यकता पर बल देती थीं। वे न तो दमनात्मक अनुशासन को महत्त्व देती थीं और न स्वतन्त्रतात्मक अनुशासन की अनुगामिनी थीं।

शिक्षा के लिए उन्होंने भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया। उसका अन्य भाषाओं में अनुवाद कर प्रचार एवं प्रसार किया। उनकी दृष्टि में शिक्षा एवं धर्म में घनिष्ट सम्बन्ध है तथा वे शिक्षा एवं संस्कृति में निकट का सम्बन्ध मानती थीं। उन्होंने सदैव शिक्षा एवं यथार्थ जीवन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। वे शिक्षा को सार्वभौमिक बनाने के लिए प्रयत्नशील रहीं।

मीमांसा—उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि डा० एनीबेसेण्ट शिक्षा का अभिप्राय बालक के सर्वांगीण विकास को मानती थीं। उन्होंने व्यक्तित्व का निर्माण आदर्श संस्कृति से करना सिखाया। उनके मतानुसार देश का हित प्रत्येक नागरिक के शिक्षित होने में निहित है।

पं० मदनमोहन मालवीय

मालवीय जी का जीवन—उत्तर प्रदेश के प्रमुख शिक्षा केन्द्र इलाहाबाद में पण्डित मदनमोहन मालवीय जी का जन्म सन् १८६१ ई० में हुआ था और मृत्यु १२ नवम्बर सन् १६४६ को हुई थी। उनके जीवन की स्मरणीय तारीखें निम्न हैं :

(१) उन्होंने बी० ए० की परीक्षा सन् १८८४ ई० में उत्तीर्ण की थी।

(२) कांग्रेस में सन् १८८६ ई० में सम्मिलित हुए और जीवनपर्यन्त कांग्रेस के सदस्य रहे।

(३) सन् १६०६ व सन् १६१८ में अखिल भारतीय कांग्रेस के सभापति पद को सुशोभित किया।

(४) केन्द्रीय विधान सभा के सदस्य १६१०-२० तक रहे। इस अवधि में गोपालकृष्ण गोखले के 'प्रारम्भिक शिक्षा विधेयक' का पूर्ण समर्थन किया और रोलट एक्ट का विरोध करते हुए सन् १६१६ में ऐतिहासिक भाषण दिया।

(५) स्वतन्त्र कांग्रेसी के रूप में पुनः १६२४ में केन्द्रीय विधान सभा के सदस्य चुने गये।

(६) राष्ट्रीय दल के केन्द्रीय विधान सभा के प्रधान सन् १६२७ में चुने गये।

(७) द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए सन् १६३१ में लन्दन गये।

(८) सन् १६३२ में अखिल भारतीय एकता सम्मेलन के अध्यक्ष बने जो इलाहाबाद हुआ था।

(९) श्री एम० एस० आणे के सहयोग से सन् १६३४ में रेम्जे मेक्डोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध किया।

(१०) फरवरी सन् १६१८ को बनारस विश्वविद्यालय की स्थापना की।

मालवीय जी हिन्दी के प्रबल समर्थक थे। वे हिन्दुस्तान, इण्डियन यूनियन, अभ्युदय आदि के सम्पादक पद भी रहे। महान् शिक्षाशास्त्री के रूप में उन्होंने भारत के लिए जो कुछ किया उसका अध्ययन करना आवश्यक है।

शिक्षा की अवधारणा—मालवीय जी के मतानुसार शिक्षा का अभिप्राय व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं धार्मिक संस्कारों को विकसित करना है। अर्थात् उस प्रक्रिया से है जो बालक में सर्वोन्मुखी विकास करें।

शिक्षा के उद्देश्य—शारीरिक विकास को शिक्षा का परम उद्देश्य मानते हुए उनके शिक्षा के उद्देश्य निम्न हैं :

(१) धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना ।
(२) धन की प्राप्ति करना ।
(३) आनन्द का उपभोग करना ।
(४) मोक्ष को प्राप्त करना ।

शिक्षा के प्रति मालवीय जी के विचार—व्यक्ति का विकास बुद्धि एवं चरित्र के विकास पर आधारित है । उनके विचारानुसार व्यक्ति को वेद-वेदांग, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, पुराण आदि के मूल विषयों की शिक्षा प्रदान करनी चाहिए ताकि जीवन में किसी असुविधा का सामना न करना पड़े । विज्ञान एवं कौशल की दृष्टि से चिकित्सा शास्त्र, शारीरिक विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रासायनिक विज्ञान, गणित, ज्योतिष शास्त्र आदि विषयों की शिक्षा व्यक्ति को अवश्य मिलनी चाहिए । देश की उन्नति विभिन्न विज्ञान एवं कौशल पर ही निर्भर है । स्वतन्त्र भारत में अन्न संकट की समस्या का समाधान कृषि शिक्षा पर निर्भर है अतः वे नवयुवकों को अन्वेषण एवं शोध कार्य पर विशेष ध्यान देने पर बल देते थे । शिक्षार्थी के लिए चरित्र निर्माण की शिक्षा अति आवश्यक मानते थे । क्योंकि व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास चरित्र पर ही आधारित होता है । वे भारतीय संघ में चित्रकला, वास्तुकला, अभिनय आदि ललित कलाओं को संस्कृत के विकास एवं निर्माण के लिए आवश्यक मानते थे । सन् १६०४ में विश्वविद्यालय की जिस योजना का निर्माण किया था उसमें प्राइमरी, तथा सेकेण्डरी की शिक्षा व्यवस्था न थी । कालान्तर में उन्होंने प्राइमरी, सेकेण्डरी की शिक्षा की व्यवस्था और की थी ।

पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में विचार—मालवीय जी पाठ्यक्रम के आधार रूप में व्यक्ति, समाज एवं देश की आवश्यकता, संस्कृति एवं जीवन दर्शन के समर्थक थे । अतः उन्होंने सामाजिक विषयों—इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि का पाठ्यक्रम में समर्थन किया है । हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रारम्भ में वैदिक आयुर्वेदिक, विज्ञान, कला-कौशल एवं कृषि शिक्षा के विभागों की स्थापना की थी । पाठ्यक्रम में निम्न विषयों का समावेश किया गया था :

(१) धर्म, (२) दर्शन, (३) ज्योतिष, (४) रसायन, (५) भौतिक एवं वनस्पति विज्ञान, (६) चिकित्सा शास्त्र, (७) टेक्नोलाजी, (८) उद्योग, (६) कृषि, (१०) इतिहास, (११) भूगोल, (१२) अर्थशास्त्र, (१३) समाजशास्त्र, (१४) राजनीतिशास्त्र, (१५) वाणिज्य, (१६) भाषा विज्ञान, (१७) कला एवं संगीत ।

शिक्षा का माध्यम—मालवीय जी हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे । उनका हिन्दी, हिन्दू एवं हिन्दुस्तान का नारा था अतः शिक्षा को एक सूत्र में बाँधने के लिए एक सामान्य भाषा के लिए हिन्दी का चयन किया । किन्तु विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा में हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने से असुविधाएँ उपस्थित होने के कारण अंग्रेजी को भी उन्होंने माध्यम बनाने के लिए महत्व दिया । यह विचार व्यवहारिकता एवं उपयोगिता की दृष्टि से अति

आवश्यक था क्योंकि प्रमुखतः भारतीय भाषाओं में विज्ञान एवं अन्य विषयों की पाठ्य-पुस्तकों एवं ग्रन्थों का अभाव था और अन्य प्रान्तों से आने वाले छात्र हिन्दी के माध्यम से पढ़ने में असुविधा का अनुभव करते थे।

शिक्षा में योगदान—मालवीय जी के सामाजिक कार्यों के करने के कारण देश में हिन्दू धर्म के पुनर्स्थापन में योग मिला क्योंकि उसकी शिक्षा प्रणाली पूर्णरूपेण धर्म पर आधारित थी। उन्होंने विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति एवं धर्म की शिक्षा के साथ-साथ विज्ञान, टेक्नोलॉजी, कृषि, उद्योग, वाणिज्य आदि की शिक्षा-व्यवस्था करके प्राचीन एवं आधुनिक शिक्षा प्रणालियों में अद्वितीय समन्वय किया था। देश की तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए मातृभाषा, राष्ट्रभाषा, संस्कृति एवं अंग्रेजी के प्रयोग एवं अध्ययन का समर्थन किया था। फलतः भारत के प्रत्येक विभाग में राज्य के कार्य की एकरूपता निर्माण करने में सहयोग प्राप्त हुआ।

मीमांसा—उपर्युक्त विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि पं० मदनमोहन मालवीय द्वारा प्रस्तुत शैक्षणिक विचार भारतीय धर्म एवं संस्कृति की पुनर्स्थापना करते हैं और देश की प्रगति के लिए शिक्षा प्रणाली में वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का समावेश प्रस्तुत करते हैं। उनका यह समन्वय अति सुन्दर और भारतीय जनता के लिए लाभदायक है।

मोहनदास करमचन्द गाँधी

गाँधी जी का जीवन—महात्मा गाँधी का जन्म भारत में गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत पोरबन्दर में २ अक्टूबर सन् १८६९ को हुआ था और ३० जनवरी सन् १९४८ को गोलियों का शिकार होने के कारण उनका महा निर्वाण हुआ। उनके जीवन की निम्न तिथियाँ स्मरणीय हैं :

(१) सन् १८८३ ई० में आपका विवाह कस्तूरबा बाई के साथ हुआ।

(२) सन् १८८५ ई० में दो वर्ष बाद पिताजी का देहावसान हो गया।

(३) सन् १८८७ ई० में मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

(४) सन् १८८८ ई० में बैरिस्ट्री पढ़ने के लिए इंगलैण्ड रवाना हुए।

(५) सन् १८९३ में मुकद्दमे के सिलसिले में दक्षिणी अफ्रीका गये।

(६) सन १९१५ ई० में पुनः भारत आये और रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा महात्मा की उपाधि से सम्बोधित किये गये। क्योंकि दक्षिणी अफ्रीका में अंग्रेजों द्वारा भारतीयों के प्रति अत्याचार और अन्याय किये जाने के विरुद्ध आपने अहिंसा की लड़ाई लड़ी और उसमें सफलता प्राप्त की।

(७) जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड और दक्षिणी अफ्रीका के अनुभवों ने महात्मा गाँधी को ब्रिटिश शासन का कट्टर विरोधी बना दिया। अतः सन् १९२१ में सरकारी संस्थाओं और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कर गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया।

(८) सन् १९२७ में साबरमती आश्रम स्थापित किया और हरिजन उद्धार, मद्यनिषेध और रचनात्मक कार्यक्रम शुरू किये।

(९) सन् १९३० में काँग्रेस द्वारा स्वतन्त्रता सम्बन्धी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। गाँधीइरविन समझौते के अन्तर्गत आन्दोलन समाप्त हुआ।

(१०) अँग्रेजी शासन की दमन नीति में परिवर्तन लाने के लिए सन् १९४२ में पुनः उनके विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ किया गया। अन्त में उन्हें सफलता प्राप्त हुई।

गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने से पूर्व उनके जीवन दर्शन तथा शिक्षा दर्शन का अवलोकन करना आवश्यक है।

गाँधी जी का शिक्षा दर्शन—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और अध्यात्मिक प्रगति का एक मात्र आधार शिक्षा ही है, अतः गाँधी जी ने ऐसे शिक्षा-दर्शन को जन्म दिया जो उनके जीवन-दर्शन के गतिशील पक्ष के रूप में कार्य करता था। डा० एम० एस० पटेल (Dr. M. S. Patel) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"Gandhiji has secured a unique place in the galaxy of the great teachers and preachers who have brought fresh light in the field of education, Green remarked that Pestolozzi was the starting point of the modern educational theory and practice. This may be true so far as Western education is concerned. An impartial study of Gandhiji's educational teachings will reveal that he is starting point of modern educational theory and practice in the East."

अर्थात्—"गाँधी जी ने उन महान् शिक्षकों एवं उपदेशकों की गौरवपूर्ण मण्डली में अनोखा स्थान प्राप्त किया है जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र को नव-ज्योति दी है। ग्रीन (Green) का कहना था कि पेस्टालाजी (Pestalozzi) आधुनिक शिक्षा-सिद्धान्त और व्यवहार का प्रारम्भिक बिन्दु था। जहाँ तक पाश्चात्य शिक्षा का सम्बन्ध है, यह बात सिद्ध हो सकती है। गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का निष्पक्ष अध्ययन सिद्ध करता है कि वे पूर्व में सिद्धान्त और व्यवहार के प्रारम्भिक बिन्दु हैं।"

शिक्षा-दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त—

(१) शिक्षा द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगपूर्ण विकास होना आवश्यक है।

(२) शिक्षा उपयोगी नागरिकों का निर्माण करने वाली होनी चाहिए।

(३) शिक्षा बालकों की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों को प्रोत्साहित करे।

(४) शिक्षा द्वारा बालकों के निहित गुणों का विकास होना चाहिए।

(५) शिक्षा देने का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए।

(६) अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने की राष्ट्र द्वारा व्यवस्था होनी चाहिए।

(७) साक्षरता स्वयं शिक्षा नहीं होती।

(८) हस्तकला अर्थात् वेसिक शिक्षा को प्रमुख विषय मानकर शिक्षा देनी चाहिए।

(९) शिक्षा का साधन हस्तकला हो और वह शिक्षा को आत्म-निर्भर बनाये।

(१०) हस्तकला वह हो जो बालक में अनुभव एवं क्रिया उत्पन्न करे।

(११) शिक्षा एवं वास्तविक जीवन का सम्बन्ध होना चाहिए।

(१२) शिक्षा अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित हो।

(१३) शिक्षालय निष्क्रिय की अपेक्षा सक्रिय रूप से ज्ञान प्राप्त करने का स्थान हो।

(१४) शिक्षालय का प्रयोग कार्य तथा अन्वेषण स्थान के रूप में किया जाना चाहिए।

(१५) शिक्षा का रूप सामाजिक वातावरण के अनुकूल हो जिसे बालक सरलता से समझे और व्यवहारिक जीवन में प्रयोग करे।

(१६) शिक्षा बालक को एक आदर्श नागरिक बनाने वाली हो।

(१७) शिक्षा का प्रयोग बालक को उत्तम नियन्त्रण में रखने लिए किया जाय।

(१८) बालक का प्रशिक्षण प्रारम्भ से ही उत्पादन करने योग्य होना चाहिए।

(१९) बालकों द्वारा निर्मित वस्तुओं को सरकार द्वारा क्रय करने का विधान हो।

(२०) शिक्षा का वह रूप हो जिससे बालकों को बेरोजगारी की समस्या न उठानी पड़े।

(२१) अँग्रेजी भाषा का ज्ञान भी मैट्रिक तक देने का प्राविधान होना चाहिए।

शिक्षा का अर्थ—शिक्षा का अभिप्राय न तो साक्षरता है और न ज्ञान ही। गांधी जी साक्षरता को ज्ञान का माध्यम नहीं मानते थे। उनका कथन था :

"Literacy is not the end of education nor ever the beginning. It is only of the means whereby man and woman can be educated."

अर्थात्—"साक्षरता न तो शिक्षा का अन्त है और न शिक्षा का प्रारम्भ। वह केवल एक साधन है, जिसके द्वारा पुरुष एवं स्त्री को शिक्षित किया जा सकता है।"

गांधी जी के अनुसार शिक्षा को बालक एवं बालिका के समस्त मानव गुणों का विकास करना चाहिए, ताकि वे पूर्ण मनुष्य और उपयोगी नागरिक बन सकें।

अर्थात् बालक के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों तथा शरीर, मस्तिष्क आदि का सर्वांगीण विकास होना चाहिए। उनके शब्दों में :

"True education is that which drams out and stimulates the spiritual, intellectual and physical faculties of the children."

अर्थात्—"सच्ची शिक्षा वही है, जो बालकों की आध्यात्मिक, मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों को व्यक्त और प्रोत्साहित करे।"

उनका शिक्षा से तात्पर्य निम्न था :

"By education Imean all round drawing-out of the best in child and man body, and spirit."

अर्थात्—"शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक एवं मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क एव आत्मा में निहित सर्वोत्तम गुणों का चतुर्मुखी विकास से है।"

शिक्षा के उद्देश्य—गांधी जी द्वारा शिक्षा के उद्देश्यों को दो भागों में विभाजित किया गया है : (१) तत्कालिक एवं (२) सर्वोच्च। क्योंकि वे जीवन के मूल्यों एवं आदर्शों का लोक तथा परलोक दोनों से सम्बन्ध मानते थे।

तत्कालिक उद्देश्यों में उन्हों जीविकोपार्जन के उद्देश्य पर विशेष बल दिया है। उनके कथनानुसार :

"Education ought to be for children a kind of insurance against unemployment. The child at the age of 14, that is, after finishing a seven year course should be discharged as an earning unit."

अर्थात्—"शिक्षा को बालकों को बेरोजगारी के विरुद्ध एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिए। सात वर्ष का कोर्स पूर्ण करने के उपरान्त १४ वर्ष की आयु में बालक को आर्थिक पूर्ति करने योग्य होने पर शिक्षालय से बाहर भेजा जाना चाहिए।"

दूसरा प्रमुख उद्देश्य शिक्षा द्वारा बालक के व्यक्तित्व का सामंजस्यपूर्ण विकास करना है। गाँधी जी ने इस उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया है :

"A propet and harmonious combination of all the three body, mind and spirit is required for making the whole man and constitutes the true economy of education."

अर्थात्—"शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा का उचित और सामंजस्यपूर्ण सम्मिश्रण सम्पूर्ण व्यक्ति की रचना करता है और यही शिक्षा की सच्ची मितव्ययता का निर्माण करता है।"

डा० पटेल ने गाँधी जी द्वारा प्रस्तुत उद्देश्य की आलोचना में व्यक्त किया है :

"Unless the development of the body and mind goes hand in hand, Gandhij believes with a corresponding awakening of the soul,

the former alone would prove to be a to psided affair. A proper and harmonious combination of all the three is required for the making of the whole man."

अर्थात्—"गांधी जी का विश्वास है कि जब तक मस्तिष्क और शरीर का विकास आत्मा का जाग्रति के साथ-साथ नहीं होगा, तब तक पहिले प्रकार का विकास एकाकी सिद्ध होगा। पूर्ण व्यक्ति का निर्माण करने के लिए तीनों का उचित एवं सामंजस्यपूर्ण सम्मिश्रण आवश्यक है।"

गांधीजी ने शिक्षा के सांस्कृतिक उद्देश्य पर भी बल दिया है। उनका कथन था कि संस्कृति मानसिक कार्य का परिणाम न होकर आत्मा का गुण है जो कि मनुष्य के व्यवहार के समस्त पहलू में प्रकट होता है। उनके शब्दों में :

"Culture is the foundation, the primary thing. It must show itself the smallest detail dof your conduct."

अर्थात्—"संस्कृति नींव है प्रारम्भिक वस्तु है। तुम्हारे सूक्ष्म व्यवहार में इसे प्रकट होना चाहिए।"

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबर्ट (Herbart) के मतानुसार :

"The whole problem of education may be comprised in a single concept morality."

अर्थात्—"शिक्षा की समस्त समस्या केवल एक शब्द 'नैतिकता' के अन्तर्गत लायी जा सकती है।"

अतः गांधीजी ने शिक्षा को चरित्र निर्माण का प्रमुख उद्देश्य व्यक्त करते हुए लिखा है :

"I have always given the first place to the culture of the heart or the building of character."

अर्थात्—"मैंने हृदय की संस्कृति या चरित्र निर्माण को सदैव प्रथम स्थान दिया है

गांधी जी सदैव साक्षरता की अपेक्षा चरित्र निर्माण को महत्त्व प्रदान करते थे। ज्ञान की उपयोगिता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने व्यक्त किया है :

"The end of all knowledges must be the building of character. Personal purity is to form the basis for all character-building. Education without character and character devoid of purity would be no good."

अर्थात्—"समस्त ज्ञान का उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना होना चाहिए। चरित्र के बिना शिक्षा और पवित्रता के बिना चरित्र व्यर्थ है।"

गांधीजी ने अन्य प्रमुख उद्देश्य के रूप में शिक्षा के द्वारा आत्मा की सांसारिक बन्धनों से मुक्ति कहा है। उन्होंने व्यक्ति की मुक्ति की दो अर्थ व्यक्त किये हैं :

(१) मुक्ति का अर्थ वर्तमान जीवन में समस्त रूप की दासता से स्वतन्त्रता है।

(२) 'सा विद्या या विमुक्तये'—अर्थात् विद्या वही है जो मुक्ति प्रदान करे।

बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि प्रत्येक दासता से मुक्त होकर ही व्यक्ति प्रगति कर सकता है और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता या भौतिक स्वतन्त्रता का आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में स्थान होता है, अतः शिक्षालयों में प्राप्त किये जाने वाले ज्ञान को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का मार्ग प्रदर्शित करना चाहिए।

सर्वोच्च शिक्षा का उद्देश्य अन्तिम वास्तविकता का अनुभव ईश्वर एवं आत्मानुभूति का ज्ञान बतलाते हुए गाँधी जी ने मनुष्य का नैतिक तथा चारित्रिक विकास आवश्यक बतलाया है। अपनी 'आत्मकथा' में गांधी जी ने व्यक्त किया है :

"Long before I under took the education of the youngster of the Tolstoy Farm, I had realized that the training of the spirit was a thing by itself. To develop the spirit is to build character and to enable to work towards a knowledge of God and self realization."

अर्थात्—"टालस्टाय फार्म पर बालकों को शिक्षा देने का कार्य करने से बहुत पहिले मुझे इस बात का ज्ञान हो गया था कि आत्मा का प्रशिक्षण स्वयं एक महान् कार्य है। आत्मा का विकास करना, चरित्र का निर्माण करना है एवं व्यक्ति को ईश्वर तथा आत्मानुभूति के लिए कार्य करने के योग्य बनाता है।"

शिक्षा के वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्यों के समर्थन में डा० पटेल (Dr. Patel) ने स्पष्ट व्यक्त किया है :

"The essence of Gandhiji's Philosophy is that individuality develops only in a social atmosphere where it can feed on common interests and common activities. He, therefore, wishes that we should transform our schools into communities where individuality is not damped down, but developed through social contracts and opportunities of service."

अर्थात्—"गांधी जी के दर्शन का सार यह है कि वैयक्तिकता का विकास सामाजिक वातावरण में ही हो सकता है, जहाँ यह समान रुचियों और समान क्रियाओं पर पोषित हो सकता है। इसलिए वे चाहते थे कि हम अपने विद्यालयों को समुदायों में बदल दें क्योंकि समुदाय में वैयक्तिकता को कुचला नहीं जाता है, वरन् सामाजिक सम्पर्कों और सेवा के अवसरों से विकसित किया जाता है।"

पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचार—गांधी जी ने अपनी बेसिक शिक्षा के आधार पर निम्न विषयों का शिक्षा में समावेश किया है जिसके अनुसार पढ़ाने की व्यवस्था की :

(१) बेसिक क्राफ्ट, (२) मातृ भाषा, (३) गणित, (४) सामाजिक विषय, (५) स्वास्थ्य विज्ञान, (६) सामान्य विज्ञान, (७)-(८) ड्राइंग एवं संगीत।

शिक्षा पद्धति—निम्न आधारभूत सिद्धान्तों एवं विधियों को मान्यता देते हुए गाँधी जी ने शिक्षा पद्धति में क्रिया, पहलकदमी तथा व्यक्ति के उत्तरदायित्व पर विशेष बल दिया है :

(१) शारीरिक अंगों का विवेकपूर्ण प्रयोग करके शिक्षा अध्ययन करना एक प्राकृतिक विधि का प्रयोग है जिससे अपने विकास के लिए अच्छे अवसर प्राप्त होते हैं। गाँधी जी के शब्दों में :

"I hold that true education of the intellect can only come through a proper exercise and training of the bodily organs feet, eyes, ears, nose, etc. In other words an intelligent use of the bodily organs in a child provides the best and the quickest way of developing of intellect."

अर्थात्—"मेरा विश्वास है कि मस्तिष्क की सच्ची शिक्षा शारीरिक अंगों हाथ, आंख, नाक, कान आदि के उचित अभ्यास और प्रशिक्षण से प्राप्त की जा सकती है। दूसरे शब्दों में बालक के शारीरिक अंगों का विवेकपूर्ण प्रयोग उसके मस्तिष्क का विकास करने के लिए सबसे उत्तम और सरल ढंग है।"

(२) गाँधीजी ने अपनी शिक्षण-पद्धति में क्रिया द्वारा सीखने को भी महत्त्व दिया है जिसके द्वारा बालक को सीखने का अत्यधिक अवसर प्राप्त होता है।

(३) बालक अनुभव के आधार पर स्वयं शिक्षा ग्रहण करता है और ज्ञान का व्यवहारिक जीवन में सफलतापूर्वक चित्रण कर सकता है। ऐसा गाँधी जी का विचार था।

(४) गाँधी जी ने शिक्षा प्राप्त करने की प्रक्रिया में विभिन्न विषयों में एक दूसरे से समन्वय स्थापित करने का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार बेसिक शिक्षा में बेसिक हस्तकला और विभिन्न विषयों के अध्यापन की व्यवस्था अति आवश्यक है।

(५) भारतीय शिक्षण-पद्धति के श्रवण, मनन और याद करना इन तीनों स्तरों को वाचन, मनन और कर्म द्वारा सीखने के रूप में ग्रहण किया है। जिस भाँति त्रिभुज की तीनों भुजाओं की मान्यता है, उसी भाँति शिक्षा-पद्धति के लिए ये तीनों भी अति आवश्यक हैं।

शिक्षक का स्थान—गाँधी जी के मतानुसार शिक्षक का स्थान बालकों के मित्र, पथ-प्रदर्शक, सहायक के रूप में होना चाहिए और उसमें सम्पूर्ण आवश्यकतानुसार विशेषतायें होनी चाहिए। आर० एन० रंगा (R. N. Ránga) ने शिक्षक की परिभाषा देते हुए उसकी योग्यता पर प्रकाश डाला है :

"The role that a teacher can play is to be lamp post, a sign-board, a reference book, a dictionary, a dissolvent, a compound processor."

अर्थात्—"जो कार्य शिक्षक कर सकता है वह है प्रकाश-स्तम्भ, संकेत-बोर्ड, सन्दर्भ-पुस्तक, शब्द कोष, द्रावक और शिक्षा की जटिल प्रक्रिया को गति देने का कार्य।"

शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन—गाँधी जी के शिक्षा दर्शन में आदर्शवाद, प्रकृतिवाद तथा प्रयोजनवाद तीनों विचारधाराएँ निहित हैं। आदर्शवाद तो आधार रूप में है, प्रकृतिवाद बालकों की प्रकृति और उनकी स्वतन्त्रता का ध्यान रखता है तथा प्रयोजनवाद शिक्षण पद्धति में कार्य, प्रयोग तथा अन्वेषण को प्रमुख स्थान देता है। डा० एम० एस० पटेल ने अपने शब्दों में समर्थन किया है :

"His philosophy of education is naturalistic in its setting, idealistic in its aim and pragmatic in its method and programme of work."

अर्थात्—"उनका शिक्षा-दर्शन अपनी योजना में प्रकृतिवादी है, अपने उद्देश्य में आदर्शवादी है और अपनी पद्धति और कार्यक्रम में प्रयोजनवादी है।"

यह तीनों विचारधाराएँ एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं, बल्कि पूरक हैं। यही शब्द डा० एम० एस० पटेल (Dr. M. S. Patel) ने भी व्यक्त किये हैं :

"Naturalism, idealism and pregmatism are complementary rather than contradictory in his philosophy of education."

अर्थात्—गाँधी जी के दर्शन प्रकृतिवाद, आदर्शवाद एवं प्रयोजनवाद एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं।"

मीमांसा—उपरोक्त शिक्षा की पद्धति, कार्यक्रम आदि के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि गाँधी जी के शिक्षा-दर्शन में विभिन्न विचारधाराओं का समन्वय स्थापित है। उनका शिक्षा-दर्शन वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल है और मानव-जीवन की सर्वोच्च आकांक्षाओं की पूर्ति करने में समर्थ है। प्रमुख रूप से शिक्षक बालकों के मित्र, पत्र-प्रदर्शक तथा सहायक हैं। हुमायूँ कबीर (Humayun Kabir) ने गांधी शिक्षा-दर्शन के प्रति व्यक्त किया है :

"Of Gandhiji's man gifts to the nation, the experiment of New Education is the greatest. It seeks to prepare citizens for a new society by teaching young people to live together as a community on the basis of co-operation, love and truth."

अर्थात्—"गांधी जी की राष्ट्र को बहुत-सी देनों में से नवीन शिक्षा के प्रयोग की देन सर्वोत्तम है। वह युवकों को एक समुदाय के रूप में सहयोग, प्रेम और सत्य के आधार पर एक साथ रहना सिखाकर एक नवीन समाज के लिए तैयार करने का प्रयास करता है।"

रवीन्द्रनाथ टैगोर

टैगोर का जीवन—रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म कलकत्ता में ६ मई सन् १८६१ ई० को हुआ था। उनके जीवन पर पिता श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर का जो महान् दार्शनिक तथा समाज सुधारक थे अत्यन्त प्रभाव पड़ा था। बन्धनयुक्त शिक्षालय की पढ़ाई न पढ़ कर उन्होंने अपने घर पर ही बंगला, संस्कृति, कविता, चित्रकला एवं संगीत आदि की शिक्षा प्राप्त की। उनकी स्मरणीय तिथियाँ निम्न हैं :

(१) सन् १८७८ में इंगलैंड शिक्षा प्राप्त करने गये परन्तु मन न लगने के कारण सन् १८८० में लौट आये।

(२) सन् १९०५ में वंग-भंग के समय राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया।

(३) वोलपुर में 'शान्ति-निकेतन' विद्यालय की स्थापना की जो अब 'विश्व भारती विद्यालय' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी काल में 'गीताञ्जलि' की रचना की। इस रचना पर नोबुल-पुरस्कार मिला। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि दी। ब्रिटिश सरकार ने 'नाइट' की उपाधि दी। कई-बार विश्व भ्रमण किया। कई विश्वविद्यालयों ने व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया।

(४) सन् १९४० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि मिली। महात्मा गांधी ने टैगोर को 'गुरुदेव' की उपाधि दी।

(५) ७ अगस्त सन् १९४१ को मृत्यु को प्राप्त हुए।

शिक्षा-शास्त्री के रूप में टैगोर का निम्न रूप से अध्ययन किया जा सकता है :

टैगोर का शिक्षा-दर्शन—टैगोर के शिक्षा-दर्शन के निर्माण में उनके परिवार का प्रभाव पड़ा था क्योंकि सभी पारिवारिक सदस्य सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों में हिस्सा लेते थे। टैगोर के जीवन दर्शन के विकास में जिन तत्वों का प्रभाव था उन्हीं तत्वों का प्रभाव उनके शिक्षा-दर्शन के विकास में पड़ा था। शिक्षा-दर्शन के निर्माण में तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के दोषों को भी टैगोर ने ध्यान में रखा है। अतः टैगोर के शिक्षा-दर्शन के विकास में अनेकों महत्त्वपूर्ण तत्व निहित हैं।

शिक्षा-दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों या तत्वों का निम्न रूप में अध्ययन कर सकते हैं :

(१) शिक्षा का महान् उद्देश्य बालक की जन्मजात शक्तियों का विकास करना होना चाहिए ताकि वह अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सके।

(२) शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि बालक जीवन में अनुभव की पूर्णता द्वारा पूर्ण व्यक्ति के रूप में विकसित हो। वह केवल क्लर्क, किसान या शिल्पी ही न बन कर रह जाय।

(३) प्रकृति के घनिष्ट सम्पर्क में रह कर शिक्षा प्रदान करनी चाहिए जिससे बालक को प्रकृति के साथ सम्पर्क करने में आनन्द का अनुभव हो।

(४) शिक्षालय का स्थान शहरों की अनैतिकता, भीड़ आदि से दूर प्रकृति के शान्त, एकान्त वातावरण में होना चाहिए।

(५) भारतीय दर्शन के प्रमुख विचारों का शिक्षा में समावेश हो। राष्ट्रीय शिक्षा हो और देश के भूत एवं भविष्य का अवलोकन कराया जाय। बालक की सामाजिक अवस्था का स्पष्ट रूप समझाना शिक्षा का उद्देश्य हो।

(६) संगीत, चित्रकला और अभिनय की योग्यता का प्रशिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम से होना चाहिए। सच्ची शिक्षा का प्राप्त होना बालकों के स्वतन्त्र प्रयासों पर ही आधारित रहता है। अतः पुस्तकों की अपेक्षा प्रत्यक्ष स्रोतों से ज्ञान प्राप्त करने का अवसर देना चाहिए।

(७) शिक्षा-पद्धति का आधार जीवन के वास्तविक तथ्य तथा प्रकृति होनी चाहिए।

(८) बालक का जन्म प्रकृति और समाज के बीच होता है अतः समाज के प्रति उसका आकर्षण बनाये रखना आवश्यक है। उसे सामाजिक आदर्शों, परम्पराओं, प्रथाओं तथा रीतिरिवाजों का पाठ पढ़ाना आवश्यक है। साथ ही शिक्षा में अध्यात्मवाद की ओर अग्रसर होने का भी अवसर दिया जाय।

(९) बालक को उच्चकोटि की धार्मिक भावना की शिक्षा, मानव कल्याण करने की क्षमता, पर दुःखकातरता, परोपकारिता, सहिष्णुता आदि गुणों का विकास करने वाला अवसर प्राप्त होना चाहिए।

(१०) मूल रूप में सत्यं शिवं सुन्दरं का साक्षात्कार बालक को शिक्षा देने का उद्देश्य होना चाहिए।

(११) टैगोर के मतानुसार भारत में कोई विदेशी सिद्धान्तों पर आधारित शिक्षा प्रणाली सच्ची तथा लाभप्रद राष्ट्रीय प्रणाली नहीं हो सकती है। क्योंकि राष्ट्रीय प्रणाली का राष्ट्र के जीवन से घनिष्ट सम्पर्क रहता है जो देश के नागरिकों के संचित प्रयासों, परम्पराओं, प्रथाओं तथा प्रिय आदर्शों के द्वारा स्वाभाविक रूप से विकसित होती है। अतः शिक्षा का आधार गतिशील एवं सजीव हो और समाज के जीवन से सम्बन्धित हो।

शिक्षा के उद्देश्य—टैगोर की शिक्षा के उद्देश्य उनके लेखों, साहित्यिक रचनाओं एवं भाषणों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। इन्हीं के आधार पर निम्न उद्देश्य हैं :

शारीरिक विकास—पेड़ों पर चढ़ने, तालाबों के डुबकियाँ लगाने-फूलों को तोड़ने और बिखेरने और प्रकृति-माता के साथ नाना प्रकार की शैतानियाँ करने से बालकों को शरीर का विकास, मस्तिष्क का आनन्द और बचपन के स्वाभाविक आवेगों की

सन्तुष्टि प्राप्त होती है। "उनका यह कथन है कि अध्ययन का त्याग करना शारीरिक विकास के लिए अनुचित न होगा। अतः बालकों को सुखद प्राकृतिक वातावरण में स्वतन्त्रतापूर्वक क्रिया करने का अवसर मिलना चाहिए।"

मानसिक या बौद्धिक विकास—"पुस्तकों की अपेक्षा प्रत्यक्ष रूप से जीवित व्यक्तियों को जानने का प्रयास करना शिक्षा है; इससे न केवल कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, बल्कि इससे जानने की शक्ति का विकास होता है। जितना कक्षा में सुने जाने वाले व्याख्यानों से होना असम्भव है। यदि हमारे मस्तिष्क को संवेगों और कल्पना को वास्तविकता से पृथक कर दिया जाता है, तो वे निर्बल तथा विकृत हो जाते हैं।" वे पुस्तकों से विचार ग्रहण करने को एक मात्र मानसिक विकास का सूक्ष्म अंश मानते थे। उन्होंने तो प्रकृति एवं जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त करने पर विशेष बल दिया है।

संवेगात्मक विकास—संगीत, नृत्यकला, चित्रकला आदि द्वारा बालकों को संवेगात्मक प्रशिक्षण देना चाहिए जिससे उनमें सौन्दर्य, प्रेम, सहानुभूति आदि गुणों का समुचित विकास हो सके क्योंकि शारीरिक एवं मानसिक विकास के साथ संवेगात्मक विकास भी अति आवश्यक है।

सामंजस्य-क्षमता का विकास—टैगोर के मतानुसार :

"The first and foremost problem deserving atetntion at the present moment is the problem of creating harmony between our education and our life."

अर्थात्—"इस समय हमारा ध्यान चाहने वाली प्रथम और महत्त्वपूर्ण समस्या है। हमारी शिक्षा और हमारे जीवन में सामञ्जस्य स्थापित करने की समस्या है।"

अतः बालकों को विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों तथा पर्यावरणों की व्याख्या सिखायी जाना आवश्यक है।

सामाजिक विकास—यद्यपि टैगोर ने प्राकृतिक शिक्षा पर विशेष ध्यान देना उचित ठहराया है फिर भी समाज का बहिष्कार नहीं किया। सामाजिक गुणों का विकास करना शिक्षा का ही कार्य है ताकि स्वयं तथा समाज की प्रगति कर सकें।

नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास—अनुशासन की दृष्टि से टैगोर शिक्षा द्वारा बालकों में आत्म-अनुशासन का विकास करना मानते हैं। शान्ति और धैर्य से अनुशासन का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त होता है। आन्तरिक विकास की दृष्टि में आन्तरिक स्वतन्त्रता एवं आन्तरिक शक्ति तथा ज्ञान का श्रेय माना है। डा० एच० बी० मुखर्जी (Dr. H. B. Mukherjee) ने टैगोर के समर्थन में व्यक्त किया है :

"This ideal inner freedom may be expressed as the liberation of the self from all kinds of slavery. It aims at emancipation of the intellect from the domination of bookish knowledge."

अर्थात्—"आन्तरिक स्वतन्त्रता के इस आदर्श की सब प्रकार की दासता से मुक्ति के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। इसका उद्देश्य मस्तिष्क को पुस्तकीय ज्ञान के आधिपत्य से स्वतन्त्र करता है।"

प्रकृतिवादी शिक्षा की अवधारणा—टैगोर ने अपनी प्रकृतिवादी शिक्षा के अन्तर्गत कहा है कि आदर्श विद्यालयों की स्थापना मानव निवास से दूर प्राकृतिक वातावरण में होनी चाहिए। और हमारा जीवन अधिक से अधिक प्राकृतिक वातावरण में व्यतीत होना चाहिए। सांसारिक वास्तविकताओं से सामंजस्य स्थापित करते हुए टैगोर (Tagore) ने व्यक्त किया है :

"So before being engulfed in wordly affairs, let children receive the upbrining of Nature during their formative period. The trees and plants, the clear expense of the sky, the pure free air, the clean cool tank and the wide aspect of Nature are not less necessary than benches and black-boards, books and examination."

अर्थात्—"सांसारिक झंझटों में फँसने के पूर्व बालकों को अपने निर्माण काल में प्रकृति का प्रशिक्षण प्राप्त करने दिया जाना चाहिए। बैंचों, ब्लैकबोर्डों, पुस्तकों एवं परीक्षाओं की अपेक्षा वृक्ष और पौधे, आकाश का स्वच्छ विस्तार, शुद्ध तथा स्वच्छन्द वायु तालाब का स्वच्छ एवं शीतल जल और प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र कम आवश्यक नहीं है।"

पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचार—मानव जीवन के विभिन्न पक्षों जैसे शारीरिक मानसिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं भावात्मक विकास से ही पूर्व विकास के लिए स्थान दिया है। भारतीय विद्यालयों से टैगोर को दो प्रकार के कटु अनुभव थे। पहला तो यह है कि विद्यालयों के पाठ्यक्रम में मस्तिष्क के विकास के लिए सैद्धान्तिक ज्ञान को स्थान न था और दूसरा यह कि तत्कालिन पाठ्यक्रम का एक मात्र उद्देश्य बालकों को जीविकोपार्जन के लिए शिक्षा देना था। फलतः बालक पाठ्यक्रम का गम्भीर अध्ययन नहीं करते थे, जिससे उनका उत्तम विकास नहीं हो पाता था।

टैगोर ने अति व्यापक पाठ्यक्रम का निर्माण किया। बालकों के पूर्ण विकास के लिए पाठान्तर क्रियाओं को भी स्थान दिया। विषय, क्रियायें और पाठान्तर क्रियायें निम्न हैं :

विषय—इतिहास, भूगोल, विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, साहित्य, नागरिक शास्त्र, समाज शास्त्र, रासायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, नीति शास्त्र आदि।

क्रियायें—भ्रमण, बागवानी, अभिनय, ड्राइंग, प्रयोगशाला कार्य, संकलन क्रिया आदि।

पाठान्तर क्रियायें—समाज-सेवा, छात्र-स्वशासन, खेल-कूद आदि।

उनका पाठ्यक्रम विषय-प्रधान नहीं है वल्कि क्रिया-प्रधान है जैसा कि डॉ० एच० बी० मुखर्जी ने समर्थन किया है—

"From this point of view, the curriculum introduced in Tagore institutions has been activity curriculum."

अर्थात्—"इस दृष्टि से टैगोर की शिक्षा संस्थाओं में प्रतिपादित किया जाने वाला पाठ्यक्रम क्रिया प्रधान-पाठ्यक्रम रहा है।"

शिक्षण-पद्धति सम्बन्धी विचार—टैगोर के मतानुसार शिक्षण पद्धति में निम्न सिद्धान्त या तत्व पाये जाना आवश्यक है :

(१) शिक्षण-विधि वास्तविकताओं पर आधारित होनी चाहिए।

(२) शिक्षण-विधि जीवन से पूर्ण होनी चाहिये।

(३) स्व-प्रयास एवं स्व-चिन्तन द्वारा शिक्षा प्रदान की जानी चाहिये।

(४) शिक्षा क्रियाओं द्वारा देनी चाहिये।

(५) शिक्षा में भ्रमण द्वारा सिखाने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

(६) वाद-विवाद एवं प्रश्नोत्तर विधि को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिये।

अनुशासन सम्बन्धी विचार—टैगोर ने अनुशासन का अर्थ व्यक्त करते हुए लिखा है :

"Real discipline means protection of law, natural impulses from unhealthy excitement and growth in undesirable directions. To remain in this state of natural discipline is happy for young children. It helps their full development."

अर्थात्—"वास्तविक अनुशासन का अर्थ है, अपरिपक्व एवं स्वाभाविक आवेगों की अनुचित उत्तेजना और अनुचित दिशाओं में विकास से सुरक्षा। स्वाभाविक अनुशासन की इस स्थिति में रहना छोटे बच्चों के लिए सुखदायक है। यह उनके पूर्ण विकास में सहायक होता है।"

स्वाभाविक अनुशासन को शिक्षा-योजना में अत्यधिक महत्व देने से व्यक्ति में कारण या कार्य के लिए ही भक्ति उत्पन्न होती है। उनके मतानुसार अनुशासन का प्रत्यक्ष उदाहरण जापान के निवासियों की आश्चर्यजनक प्रगति है।

शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन—टैगोर ने कविता, संगीत की सूक्ष्म बातें एवं कलायें, उच्च कोटि के दर्शन आदि में रुचि प्रकट की है। यह विषय पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री डीवी (Dewey) में न थी। टैगोर ने प्रकृति की शक्ति तथा गुणों पर विश्वास कर प्रकृतिवादी शिक्षा का विचार प्रस्तुत किया, जिसके कारण उसके प्रभावों को कहीं अधिक समझा जा सकता है, परन्तु यह विचार रूसो (Rousseau) तथा फ्रोबेल (Froebel) के न थे। रूसो को तो समाज से घृणा थी परन्तु टैगोर सामा-

जिक भावना के समर्थक थे। उनके मतानुसार जीवन के लिए एवं कार्य करने के लिए मानव समुदाय का सम्बन्ध अति आवश्यक है।

पेस्तालॉजी (Pestolozzi) और फ्रोवेल (Froebel) के कार्यों में जो कमियां थीं वह टैगोर ने पूरी की हैं। टैगोर के अनुसार किण्डरगार्टन पद्धति सफलतापूर्वक कार्य उसी समय कर सकती है जब वालकों को जीवन की कठोर परिस्थितियों से दूर सुन्दर प्राकृतिक वातावरण में रखा जाय। जीवन और संसार के रहस्यों को शिक्षा के सभी स्तरों पर कार्य का आधार बताया है।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय शिक्षाशास्त्रियों में टैगोर का प्रथम स्थान है। जैसा कि डॉ० एच. बी. मुखर्जी (Dr. H. B. Mukherji) ने व्यक्त किया है :

"टैगोर के शिक्षा सम्बन्धी विचार एवं प्रयोग विल्कुल नवीन एवं मौलिक जान पड़ते हैं, यद्यपि उनमें से अधिकांश को प्राचीन समय के शिक्षाशास्त्रियों ने किसी न किसी रूप में विकसित कर दिया था और तत्कालीन शिक्षाशास्त्री कम या अधिक मात्रा में उनका प्रयोग कर रहे थे। किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग के भारतीय शिक्षाशास्त्रियों में टैगोर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।"

और भी कहा है :

"Tagore was the greatest prophet of educational rencissance in Modern India. He waged a classless battle to uphold the highest educational experiments at his own institutions which made them living symbol of what an ideal should be. Shantiniketan in 1901 had few parallela as a progressive school not only in India but also in the whole world."

अर्थात्—"टैगोर आधुनिक भारत में शैक्षणिक पुनरुत्थान के सबसे बड़े पैगम्बर थे। उन्होंने अपने देश के सामने शिक्षा के सर्वोच्च आदर्शों को स्थापित करने के लिए निरन्तर संघर्ष किया। उन्होंने अपनी शिक्षा संस्थाओं में शैक्षणिक प्रयोग सम्पादित किये, जिसके कारण वे आदर्श का सजीव प्रतीक बन गये। १९०१ में प्रगतिशील विद्यालय के रूप में "शान्तिनिकेतन" के समान न केवल भारत में, बल्कि सम्पूर्ण विश्व में, भी बहुत कम विद्यालय थे।"

मीमांसा—टैगोर ने जो शिक्षण पद्धति, पाठ्यक्रम व उद्देश्य हमारे सामने प्रस्तुत किये हैं और अनुशासन का तात्पर्य स्वाभाविक अनुशासन से लगाया है। अतः वे वास्तव में वर्तमान भारत के महान पैगम्बर ही थे। उनका यह कार्य उसी प्रकार है जिस प्रकार पुनरुत्थान काल में ऐरासमस (Erasmus) ने मानवतावादी शिक्षा के आन्दोलन का नेतृत्व किया। सुधार आन्दोलन का मार्टिन लूथर (Martin Luther) ने, सामाजिक यथार्थवाद का मांटेग्यू (Montaigue) ने, इन्द्रिय यथार्थवाद का बेकन (Becon) तथा कमेनियस (Comenius) ने तथा प्रकृतिवाद का नेतृत्व रूसो

(Rousseau) ने किया था। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद (Dr. (Rajendra Prasad) ने इसका समर्थन निम्न शब्दों में किया है :

"Dr. R. N. Tagore was not only the poet and artist of moder India but also a great sentinel of India whose high moral principles stood out uncompromisingly on all occasions. For fifty years and more he was great teacher the Gurudeva as he was lovingly called of India."

अर्थात्—'टैगोर केवल कवि या कलाकार ही नहीं थे, वे आधुनिक भारत के महान् पथ-प्रदर्शक भी थे। उनके उच्चादर्श के उद्देश्य प्रत्येक अवस्था में स्थिर रहते हैं। अर्धशताब्दी से अधिक काल तक भारत में महान् शिक्षक थे। जनता उन्हें गुरुदेव के नाम से सम्बोधित करती थी।"

अध्याय ११

शिक्षा-मनोविज्ञान का सम्बन्ध तथा उसके लाभ

(Relation between Education & Psychology and its utility)

प्रश्न ५७—शिक्षा मनोविज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पारस्परिक सम्बन्ध बताइये। शिक्षक की वे कौन-कौन सी समस्याएँ हैं जिनका हल मनोविज्ञान के अध्ययन से किया जा सकता है?

(उ० प्र० १९४२, ४५, ४६, ४८, ५०, ५२, ५७, ५९)

भूमिका—शिक्षा शास्त्र के साथ-साथ विद्यार्थी को मनोविज्ञान का भी सूक्ष्म अध्ययन करना आवश्यक है। यदि मनोविज्ञान का अध्ययन न किया जाय तो शिक्षक प्रशिक्षण का कार्य सुचारु रूप से नहीं कर पाता है। शिक्षा का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका अध्ययन करने से पहले शिक्षा मनोविज्ञान का स्वरूप एवं अर्थ व परिभाषा जान लेना अति आवश्यक है।

परिभाषा एवं अर्थ—शिक्षा मनोविज्ञान दो शब्दों के योग से बना है, जिसमें शिक्षा से तात्पर्य उस क्रिया की अर्जित आदतों का संगठन होता है जो व्यक्ति को उसके सामाजिक एवं भौतिक वातावरण के योग्य बनाती है। प्रो० जेम्स के शब्दों में:

"Education is the organization of equired habits of action such as will fit. The individual to his physical and social environment."

थाऊलैस (Thouless) के मतानुसार मनोविज्ञान की परिभाषा:

"Psychology is the positive science of human experience and behaviour."

अर्थात्—"मनोविज्ञान मानव अनुभव एवं व्यवहार का यथार्थ विज्ञान है।"

स्किनर (Skinner) महोदय ने शिक्षा-मनोविज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया है:

"Educational Psychology deals with the behaviour of human beings in educational situation, This means that educational psychology is concerned with the study of human behaviour or the human

personality, its growth, development and guidance under the social process of education."

अर्थात्—"शिक्षा मनोविज्ञान मानवीय व्यवहार का शैक्षणिक परिस्थितियों में अध्ययन करता है। शिक्षा मनोविज्ञान का सम्बन्ध उन मानवीय व्यवहारों और व्यक्ति के अध्ययन से है जिनका उत्थान, विकास और निर्देशन शिक्षा की सामाजिक प्रक्रिया के कारण होता है।"

शिक्षा व मनोविज्ञान में सम्बन्ध—एक समय था जब शिक्षा का आधार शिक्षक होता था न कि मनोविज्ञान। उस समय शिक्षा में मनोविज्ञान का कोई अस्तित्व न था। शिक्षा का अर्थ भाषा-विज्ञान का ज्ञान ही एकमात्र आवश्यक माना जाता था। शिक्षा के पाँच तत्व थे : उद्देश्य, विधि, शिक्षक, विषय और बालक। इनमें बालक का स्तर निम्न था जो शिक्षा प्राप्त करता था। उसकी अवस्था, विचार, बुद्धि आदि का कोई महत्व न था, अतः उसे हर सम्भव साधन द्वारा शिक्षा का भार बलपूर्वक वहन करना पड़ता था। फलतः उसकी इच्छाएँ एवं कार्यरत ग्रन्थियाँ परिवर्तित हो जाती थीं और मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता था।

सर्वप्रथम पैस्तालॉजी (Pestolozzi) ने शिक्षा में मनोविज्ञान के स्थान की महत्ता पर ध्यान दिया। उन्होंने शिक्षा मनोविज्ञान की नींव डाली। रूसो (Rousseau) ने बालक को एक ऐसी पुस्तक कहा है जिसे शिक्षक को आदि से अन्त तक मनन करना होता है। जॉन एडम्स (John Adams) ने शिक्षक के लिए दो बातों की जानकारी आवश्यक बतायी है : (१) पाठ्य-विषय और (२) बालक की प्रवृत्तियों और योग्यताओं की। इसका फल यह हुआ कि वर्तमान काल में जितनी भी शिक्षा पद्धतियाँ प्रचलित हैं उन सभी का आधार मनोविज्ञान है।

शिक्षा का आधार मनोविज्ञान है। इसका विश्लेषण करने के लिए शिक्षा का अस्तित्व जानना आवश्यक है। विलियम जेम्स ने शिक्षा की परिभाषा में स्पष्ट व्यक्त किया है—"वृत्तियों और आदतों को व्यवहार के उपयुक्त बनाना ही शिक्षा है।" इसी भाँति रेमन्ट महाशय का कथन है कि—"शिक्षा विकास की वह प्रक्रिया है जिससे मनुष्य के बचपन से प्रौढ़ता की ओर प्रगति होती है।" इससे यह स्पष्ट होता है कि बच्चे का विकास शिक्षा द्वारा किस प्रकार हो यह जानना आवश्यक है। उसका स्वभाव व बुद्धि की जानकारी करना आवश्यक है।

समस्याएँ—शिक्षक के पढ़ाते समय अपने विचार एवं ज्ञान बालकों को समझाने के लिए कभी-कभी बालकों की रुचि रुकावट उत्पन्न करती है। यदि किसी विषय में बालक की रुचि नहीं है तो यह स्वाभाविक है कि उसका मन न लगेगा। वह उसे ग्रहण नहीं करेगा, इससे शिक्षक क्षुब्ध और क्रोधित होकर दण्ड का सहारा लेता है परन्तु दण्ड के देने से बालक पर बुरा प्रभाव पड़ता है। फलतः उस विषय के प्रति बालक सदैव के लिए घृणावान हो जाता है। इस समस्या से छुटकारा पाने के

अध्याय ११

शिक्षा-मनोविज्ञान का सम्बन्ध तथा उसके लाभ

(Relation between Education & Psychology and its utility)

प्रश्न ५७—शिक्षा मनोविज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पारस्परिक सम्बन्ध बताइये। शिक्षक की वे कौन-कौन सी समस्याएँ हैं जिनका हल मनोविज्ञान के अध्ययन से किया जा सकता है?

(उ० प्र० १९४२, ४५, ४६, ४८, ५०, ५२, ५७, ५९)

भूमिका—शिक्षा शास्त्र के साथ-साथ विद्यार्थी को मनोविज्ञान का भी सूक्ष्म अध्ययन करना आवश्यक है। यदि मनोविज्ञान का अध्ययन न किया जाय तो शिक्षक प्रशिक्षण का कार्य सुचारु रूप से नहीं कर पाता है। शिक्षा का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका अध्ययन करने से पहले शिक्षा मनोविज्ञान का स्वरूप एवं अर्थ व परिभाषा जान लेना अति आवश्यक है।

परिभाषा एवं अर्थ—शिक्षा मनोविज्ञान दो शब्दों के योग से बना है, जिसमें शिक्षा से तात्पर्य उस क्रिया की अर्जित आदतों का संगठन होता है जो व्यक्ति को उसके सामाजिक एवं भौतिक वातावरण के योग्य बनाती है। प्रो० जेम्स के शब्दों में:

"Education is the organization of equired habits of action such as will fit. The individual to his physical and social environment."

थाऊलैस (Thouless) के मतानुसार मनोविज्ञान की परिभाषा:

"Psychology is the positive science of human experience and behaviour."

अर्थात्—"मनोविज्ञान मानव अनुभव एवं व्यवहार का यथार्थ विज्ञान है।"

स्किनर (Skinner) महोदय ने शिक्षा-मनोविज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया है:

"Educational Psychology deals with the behaviour of human beings in educational situation, This means that educational psychology is concerned with the study of human behaviour or the human

personality, its growth, development and guidance under the social process of education."

अर्थात्—"शिक्षा मनोविज्ञान मानवीय व्यवहार का शैक्षणिक परिस्थितियों में अध्ययन करता है। शिक्षा मनोविज्ञान का सम्बन्ध उन मानवीय व्यवहारों और व्यक्ति के अध्ययन से है जिनका उत्थान, विकास और निर्देशन शिक्षा की सामाजिक प्रक्रिया के कारण होता है।"

शिक्षा व मनोविज्ञान में सम्बन्ध—एक समय था जब शिक्षा का आधार शिक्षक होता था न कि मनोविज्ञान। उस समय शिक्षा में मनोविज्ञान का कोई अस्तित्व न था। शिक्षा का अर्थ भाषा-विज्ञान का ज्ञान ही एकमात्र आवश्यक माना जाता था। शिक्षा के पाँच तत्व थे: उद्देश्य, विधि, शिक्षक, विषय और बालक। इनमें बालक का स्तर निम्न था जो शिक्षा प्राप्त करता था। उसकी अवस्था, विचार, बुद्धि आदि का कोई महत्व न था, अतः उसे हर सम्भव साधन द्वारा शिक्षा का भार बलपूर्वक वहन करना पड़ता था। फलतः उसकी इच्छाएँ एवं कार्यरत ग्रन्थियाँ परिवर्तित हो जाती थीं और मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता था।

सर्वप्रथम पैस्तालॉजी (Pestolozzi) ने शिक्षा में मनोविज्ञान के स्थान की महत्ता पर ध्यान दिया। उन्होंने शिक्षा मनोविज्ञान की नींव डाली। रूसो (Rousseau) ने बालक को एक ऐसी पुस्तक कहा है जिसे शिक्षक को आदि से अन्त तक मनन करना होता है। जॉन एडम्स (John Adams) ने शिक्षक के लिए दो बातों की जानकारी आवश्यक बतायी हैं: (१) पाठ्य-विषय और (२) बालक की प्रवृत्तियों और योग्यताओं की। इसका फल यह हुआ कि वर्तमान काल में जितनी भी शिक्षा पद्धतियाँ प्रचलित हैं उन सभी का आधार मनोविज्ञान है।

शिक्षा का आधार मनोविज्ञान है। इसका विश्लेषण करने के लिए शिक्षा का अस्तित्व जानना आवश्यक है। विलियम जेम्स ने शिक्षा की परिभाषा में स्पष्ट व्यक्त किया है—"वृत्तियों और आदतों को व्यवहार के उपयुक्त बनाना ही शिक्षा है।" इसी भाँति रेमन्ट महाशय का कथन है कि—"शिक्षा विकास की वह प्रक्रिया है जिससे मनुष्य के बचपन से प्रौढ़ता की ओर प्रगति होती है।" इससे यह स्पष्ट होता है कि बच्चे का विकास शिक्षा द्वारा किस प्रकार हो यह जानना आवश्यक है। उसका स्वभाव व बुद्धि की जानकारी करना आवश्यक है।

समस्याएँ—शिक्षक के पढ़ाते समय अपने विचार एवं ज्ञान बालकों को समझाने के लिए कभी-कभी बालकों की रुचि रुकावट उत्पन्न करती है। यदि किसी विषय में बालक की रुचि नहीं है तो यह स्वाभाविक है कि उसका मन न लगेगा। वह उसे ग्रहण नहीं करेगा, इससे शिक्षक क्षुब्ध और क्रोधित होकर दण्ड का सहारा लेता है परन्तु दण्ड के देने से बालक पर बुरा प्रभाव पड़ता है। फलतः उस विषय के प्रति बालक सदैव के लिए घृणावान हो जाता है। इस समस्या से छुटकारा पाने के

लिए शिक्षक शिक्षा का कार्य मनोवैज्ञानिक आधार पर सिखाये और विषय को इतना रोचक बना लें कि बच्चों की उसमें रुचि उत्पन्न हो जाय।

अरुचिपूर्ण ज्ञान देने के लिए शिक्षक अपने विचार बलपूर्वक लादते हैं और बालक को याद करने व क्रियान्वित करने के लिए कहते हैं। यदि इस तरह प्रशिक्षण करने के पश्चात् बालक से कोई त्रुटि हो जाय तो बालक को लताड़ा जाता है। उसे नालायक, मन्द बुद्धि आदि शब्दों से तिरस्कृत किया जाता है, फलतः बालक के मन में अपने प्रति हीनता की भावना उत्पन्न होती है। इस समस्या को भी मनोविज्ञान के आधार पर ही सुलझाया जा सकता है। बालक को तिरस्कार की अपेक्षा पुरस्कार द्वारा प्रोत्साहन उत्पन्न करना चाहिए।

उदाहरण के लिए रूसो लैटिन भाषा में कमजोर थे। याद न करने पर पिटते थे। फलतः लैटिन से उन्हें घृणा उत्पन्न हो गई। बालक एमील को लैटिन तो नहीं पढ़नी पड़ी थी परन्तु उसे सुन्दर लिखावट से ही घृणा हो गई थी।

आयु के अनुसार बालक की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों में परिवर्तन आ जाता है इसलिए उन्हें पढ़ाने के ढंग में भी परिवर्तन होना आवश्यक है। शिक्षक को आयु के अनुसार पढ़ाने की विधि का समझ लेना आवश्यक है।

शिक्षा में मनोविज्ञान के कार्य—मनोविज्ञान के प्रयोगों के कारण शिक्षा देने की विधि में अनेकों महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके हैं। स्मृति पर प्रयोग करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रटना अत्यन्त निकृष्ट तथा अलाभकारी है। अतः शिक्षकों को आयु व योग्यता के अनुसार याद करने की विधि प्रयोग करनी चाहिए।

मनोविज्ञान द्वारा बालकों की आदतों का अध्ययन करके बुरी आदतें छुड़वाई जा सकती हैं और अच्छी आदतें डाली जा सकती हैं। इस भाँति बालकों को सदाचारी और योग्य नागरिक बनाकर राष्ट्र का हित किया जा सकता है।

बालकों की बुद्धि परीक्षा से पता चलता है कि बालक अधिकतर बुद्धि में सामान्य होते हैं। मन्द बुद्धि वाले बालक अल्पसंख्या में होते हैं। अतः बालकों को एक ही सी विधि द्वारा शिक्षा नहीं दी जा सकती। अतः शिक्षक को चाहिए कि बालक की बुद्धि एवं योग्यता का स्तर नियत करे, उसी के आधार पर शिक्षण विधि अपनाये।

मनोविज्ञान के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि बालक ताड़ने या मारने से हठी हो जाता है। अतः शिक्षकों को मारने की अपेक्षा प्रेम और प्रोत्साहन से बालकों को प्रशिक्षित करना चाहिए।

मनोविज्ञान द्वारा यह स्पष्ट होता है। कि अतृप्त इच्छाओं और वासनाओं के हनन से मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए बालकों में मानसिक ग्रन्थियाँ और विकार उत्पन्न न हो जायें यह शिक्षकों को देखने और रोकने का प्रमुख कर्तव्य है।

शिक्षक के लिए मनोविज्ञान का महत्त्व—पढ़ाने के अतिरिक्त शिक्षालयों में बालकों के साथ शिक्षक को अनेकों विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

बालक चोरी करते हैं, आपस में गाली-गलौज व मार-पीट करते हैं, जिससे शिक्षक की परेशानियाँ बढ़ जाती हैं। इन अनेकों समस्याओं का समाधान मनोविज्ञान के अध्ययन से ही प्राप्त होता है।

प्रमुख समस्या शिक्षालय में अनुशासन बनाये रखने की है। शिक्षक के पढ़ाते समय यदि बालकों का मन पढ़ने में नहीं लगता है तो वह शोर करके अनुशासन भंग कर देते हैं। शिक्षक को चाहिए कि पाठ को रुचिपूर्ण विधि से पढ़ाये जिससे ऐसा अवसर ही उपस्थित न हो। यदि कभी ऐसा अवसर आ भी जाय तो मारने की अपेक्षा अन्य विधि से अनुशासन बनाये। मारने से बालक सुधरने की अपेक्षा हठी हो जाता है और अनुशासन और बिगड़ जाता है। इन बालकों का सुधार मनोवैज्ञानिक विधि से करना ही उचित होता है।

उचित प्रशिक्षिण विधि के अभाव में भी शिक्षक परेशान होते हैं। बच्चों का पढ़ाई में मन नहीं लगता और स्लेट पर चित्रकारा करने या चुपके-चुपके बातें करते हैं तो शिक्षक को कठिनाई होती है। दण्ड देने से बालक और भी उद्दण्ड हो जाता है। अतः शिक्षण पद्धति में ही परिवर्तन करने से बालक में रुचि उत्पन्न की जानी चाहिए। बालक को खेल-कूद, मनोरंजन आदि द्वारा शिक्षा देने की दृष्टि से ही डाल्टन, मान्टेसरी, प्रोजक्ट, फ्रोबेल आदि शिक्षण-पद्धतियों का आविष्कार हुआ है।

बालकों का व्यवहार या आचरण बड़ों के समान नहीं होता है। वे आपस में लड़ते हैं, बड़ों का आदर नहीं करते। शिक्षकों को अनुकरण करने की भावना सिखाने से सुधार हो जाता है। वह चरित्रवान अच्छे व्यवहार या आचरण करने से ही बन सकते हैं। शिक्षक बालकों को प्रशिक्षित करके ही व्यक्तित्व के विकास में योग दे सकते हैं।

जन्म से ही समस्त बालकों की बुद्धि में अन्तर होता है। इसलिए प्रखर बुद्धि का बालक जल्दी ग्रहण कर लेता है और मन्द बुद्धि का बालक प्रयत्न करने पर भी नहीं सीख पाता। शिक्षक को चाहिए कि एक ही विधि द्वारा सब बच्चों को न पढ़ाये और पढ़ाते समय इस भेद को ध्यान में रखना चाहिए। प्रखर बुद्धि वाले बालक का दर्जा जल्दी चढ़ाया जा सकता है।

अधिक उपद्रव करने वाले या दूसरे बालकों के साथ दुर्व्यवहार करने वाले बालकों से परेशान होकर शिक्षकों को असाधारण मनोविज्ञान का अध्ययन करके अपनी समस्या को हल करना चाहिए। मनोविज्ञान ही ऐसा विज्ञान है जिसके अध्ययन से शिक्षक बालक के मन, बुद्धि, स्वभाव, आदत आदि का अध्ययन कर सकता है।

यह कहना भी उचित नहीं हो सकता कि मनोविज्ञान का अध्ययन करने के पश्चात् व्यक्ति एक अच्छा शिक्षक बन सकता है और यह समझना भी एक भूल होगी कि मनोविज्ञान मानव के नियमों का विज्ञान है। इसके द्वारा शिक्षालय में पढ़ाने

लिए शिक्षक शिक्षा का कार्य मनोवैज्ञानिक आधार पर सिखाये और विषय को इतना रोचक बना लें कि बच्चों की उसमें रुचि उत्पन्न हो जाय।

अरुचिपूर्ण ज्ञान देने के लिए शिक्षक अपने विचार बलपूर्वक लादते हैं और बालक को याद करने व क्रियान्वित करने के लिए कहते हैं। यदि इस तरह प्रशिक्षण करने के पश्चात् बालक से कोई त्रुटि हो जाय तो बालक को लताड़ा जाता है। उसे नालायक, मन्द बुद्धि आदि शब्दों से तिरस्कृत किया जाता है, फलतः बालक के मन में अपने प्रति हीनता की भावना उत्पन्न होती है। इस समस्या को भी मनोविज्ञान के आधार पर ही सुलझाया जा सकता है। बालक को तिरस्कार की अपेक्षा पुरस्कार द्वारा प्रोत्साहन उत्पन्न करना चाहिए।

उदाहरण के लिए रूसो लैटिन भाषा में कमजोर थे। याद न करने पर पिटते थे। फलतः लैटिन से उन्हें घृणा उत्पन्न हो गई। बालक एमील को लैटिन तो नहीं पढ़नी पड़ी थी परन्तु उसे सुन्दर लिखावट से ही घृणा हो गई थी।

आयु के अनुसार बालक की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों में परिवर्तन आ जाता है इसलिए उन्हें पढ़ाने के ढंग में भी परिवर्तन होना आवश्यक है। शिक्षक को आयु के अनुसार पढ़ाने की विधि का समझ लेना आवश्यक है।

शिक्षा में मनोविज्ञान के कार्य—मनोविज्ञान के प्रयोगों के कारण शिक्षा देने की विधि में अनेकों महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके हैं। स्मृति पर प्रयोग करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रटना अत्यन्त निकृष्ट तथा अलाभकारी है। अतः शिक्षकों को आयु व योग्यता के अनुसार याद करने की विधि प्रयोग करनी चाहिए।

मनोविज्ञान द्वारा बालकों की आदतों का अध्ययन करके बुरी आदतें छुड़वाई जा सकती हैं और अच्छी आदतें डाली जा सकती हैं। इस भाँति बालकों को सदाचारी और योग्य नागरिक बनाकर राष्ट्र का हित किया जा सकता है।

बालकों की बुद्धि परीक्षा से पता चलता है कि बालक अधिकतर बुद्धि में सामान्य होते हैं। मन्द बुद्धि वाले बालक अल्पसंख्या में होते हैं। अतः बालकों को एक ही सी विधि द्वारा शिक्षा नहीं दी जा सकती। अतः शिक्षक को चाहिए कि बालक की बुद्धि एवं योग्यता का स्तर नियत करे, उसी के आधार पर शिक्षण विधि अपनाये।

मनोविज्ञान के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि बालक ताड़ने या मारने से हठी हो जाता है। अतः शिक्षकों को मारने की अपेक्षा प्रेम और प्रोत्साहन से बालकों को प्रशिक्षित करना चाहिए।

मनोविज्ञान द्वारा यह स्पष्ट होता है। कि अतृप्त इच्छाओं और वासनाओं के हनन से मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए बालकों में मानसिक ग्रन्थियाँ और विकार उत्पन्न न हो जायें यह शिक्षकों को देखने और रोकने का प्रमुख कर्तव्य है।

शिक्षक के लिए मनोविज्ञान का महत्त्व—पढ़ाने के अतिरिक्त शिक्षालयों में बालकों के साथ शिक्षक को अनेकों विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

बालक चोरी करते हैं, आपस में गाली-गलौज व मार-पीट करते हैं, जिससे शिक्षक की परेशानियाँ बढ़ जाती हैं। इन अनेकों समस्याओं का समाधान मनोविज्ञान के अध्ययन से ही प्राप्त होता है।

प्रमुख समस्या शिक्षालय में अनुशासन बनाये रखने की है। शिक्षक के पढ़ाते समय यदि बालकों का मन पढ़ने में नहीं लगता है तो वह शोर करके अनुशासन भंग कर देते हैं। शिक्षक को चाहिए कि पाठ को रुचिपूर्ण विधि से पढ़ाये जिससे ऐसा अवसर ही उपस्थित न हो। यदि कभी ऐसा अवसर आ भी जाय तो मारने की अपेक्षा अन्य विधि से अनुशासन बनाये। मारने से बालक सुधरने की अपेक्षा हठी हो जाता है और अनुशासन और बिगड़ जाता है। इन बालकों का सुधार मनोवैज्ञानिक विधि से करना ही उचित होता है।

उचित प्रशिक्षिण विधि के अभाव में भी शिक्षक परेशान होते हैं। बच्चों का पढ़ाई में मन नहीं लगता और स्लेट पर चित्रकारा करने या चुपके-चुपके बातें करते हैं तो शिक्षक को कठिनाई होती है। दण्ड देने से बालक और भी उद्दण्ड हो जाता है। अतः शिक्षण पद्धति में ही परिवर्तन करने से बालक में रुचि उत्पन्न की जानी चाहिए। बालक को खेल-कूद, मनोरंजन आदि द्वारा शिक्षा देने की दृष्टि से ही डाल्टन, मान्टेसरी, प्रोजक्ट, फ्रोवेल आदि शिक्षण-पद्धतियों का आविष्कार हुआ है।

बालकों का व्यवहार या आचरण बड़ों के समान नहीं होता है। वे आपस में लड़ते हैं, बड़ों का आदर नहीं करते। शिक्षकों को अनुकरण करने की भावना सिखाने से सुधार हो जाता है। वह चरित्रवान अच्छे व्यवहार या आचरण करने से ही बन सकते हैं। शिक्षक बालकों को प्रशिक्षित करके ही व्यक्तित्व के विकास में योग दे सकते हैं।

जन्म से ही समस्त बालकों की बुद्धि में अन्तर होता है। इसलिए प्रखर बुद्धि का बालक जल्दी ग्रहण कर लेता है और मन्द बुद्धि का बालक प्रयत्न करने पर भी नहीं सीख पाता। शिक्षक को चाहिए कि एक ही विधि द्वारा सब बच्चों को न पढ़ाये और पढ़ाते समय इस भेद को ध्यान में रखना चाहिए। प्रखर बुद्धि वाले बालक का दर्जा जल्दी चढ़ाया जा सकता है।

अधिक उपद्रव करने वाले या दूसरे बालकों के साथ दुर्व्यवहार करने वाले बालकों से परेशान होकर शिक्षकों को असाधारण मनोविज्ञान का अध्ययन करके अपनी समस्या को हल करना चाहिए। मनोविज्ञान ही ऐसा विज्ञान है जिसके अध्ययन से शिक्षक बालक के मन, बुद्धि, स्वभाव, आदत आदि का अध्ययन कर सकता है।

यह कहना भी उचित नहीं हो सकता कि मनोविज्ञान का अध्ययन करने के पश्चात् व्यक्ति एक अच्छा शिक्षक बन सकता है और यह समझना भी एक भूल होगी कि मनोविज्ञान मानव के नियमों का विज्ञान है। इसके द्वारा शिक्षालय में पढ़ाने

के लिए निश्चित कार्यक्रम, योजना और शिक्षण विधि प्राप्त की जा सकती है। मनोविज्ञान तो एक ज्ञान है और शिक्षण एक कला है। विज्ञान से कला की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः सोचविचार और तर्क द्वारा निर्णय करके जितनी सरलता एवं सुगमता से प्रशिक्षण दिया जाता है उतना ही सफल शिक्षक माना जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि योग्य शिक्षक बनने के लिए मनोविज्ञान का प्रशिक्षण लिया जांय बल्कि अपनी समझ-बूझ तथा नित्य प्रति के व्यावहारिक अनुभव द्वारा भी योग्य शिक्षक बना जा सकता है।

मीमांसा—शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। पाठ्य-पुस्तकों, स्कूलों व शिक्षा का प्रबन्ध कर लेने के उपरान्त मनोविज्ञान के पश्चात् किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। मनोविज्ञान के लिए दर्शन-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि समस्त विषयों का अध्ययन करना पड़ता है। फिर भी योग्य शिक्षक बनने के लिये विशेष गुणों की आवश्यकता होती है, जैसे दया, प्रेम, सहानुभूति आदि। अतः उपरोक्त अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि बिना मनोविज्ञान के अध्ययन के शिक्षक सुयोग्य शिक्षक नहीं बन सकता और न बिना मनोविज्ञान का आधार लिए उचित प्रशिक्षण ही दिया जा सकता है। जेम्स (James) ने उचित ही कहा है :

"तर्कशास्त्र पढ़कर ही कोई अच्छा तार्किक नहीं हुआ और न रीति शास्त्र का अध्ययन करके कोई सदाचारी हुआ। उसी प्रकार कोई मनोविज्ञान पढ़कर ही अच्छा शिक्षक नहीं बन सकता है।"

अध्याय १२

वंश परम्परा एवं वातावरण

(Heredity and Environment)

प्रश्न ५८—बालक के शारीरिक तथा मानसिक गुणों पर वंशानुक्रम का क्या प्रभाव पड़ता है ? (उ० प्र० १९५८ व ६५)

भूमिका—बालक के स्वभाव पर माता-पिता के स्वभाव की छाप लगी रहती है। कभी-कभी यह भी होता है कि माता-पिता की तरह न होकर पितामह या प्रपितामह की तरह बालक का स्वभाव होता है। यह देखा जाता है कि बालक रंग, रूप, आकृति, बुद्धि आदि में माता-पिता के समान होता है। शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के गुण अव गुण-माता-पिता से या अपने पूर्वजों से प्राप्त करता है। यही वंशानुक्रम क्रिया कहलाती है। बालक के विकास में एक मात्र वंशानुक्रम का ही प्रभाव रहता तो शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं होती। बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए वंशानुक्रम के साथ वातावरण का प्रभाव भी पड़ता है। अतः शिक्षा के प्रशिक्षण के साथ शिक्षक को बालक के वातावरण व वंशानुक्रम का अध्ययन भी अति आवश्यक होता है। यहाँ वंशानुक्रम का अध्ययन करेंगे।

वंशानुक्रम की परिभाषाएँ—जेम्स ड्रेवर (James Drever) के मतानुसार वंशानुक्रम की परिभाषा :

"Heredity is the transmission from parents to offspring of physical and mental characteristics."

अर्थात्—"माता-पिता की शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं का सन्तानों में हस्तान्तरण होना वंशानुक्रम है।"

रुथ बैनेडिक्ट (Ruth Benedict) के मतानुसार :

"Heredity is the transmission of traits from parents to offsprings."

अर्थात्—"वंशानुक्रम माता-पिता से सन्तान को प्राप्त होने वाले गुण हैं।"

जे० एफ० क्यूबर (J. F. Cuber) के मतानुसार :

"It consists of all those traits and characteristics which a person possesses because he is a speciman of the home sapicus."

अर्थात्—"वंशानुक्रम के अन्तर्गत वे समस्त गुण एवं विशेषताएँ आती हैं जो एक व्यक्ति में निहित हैं, क्योंकि वह जातियों का नमूना है।"

पी० जिसवर्ट (P. Juswart) के मतानुसार :

"Every act of generation in nature is the transmission by the parents to their offsprings of certain characteristics, biological and psycholcgical."

अर्थात्—"प्रकृति में पीढ़ी का प्रत्येक कार्य कुछ जैविकीय अथवा मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को माता-पिता द्वारा उनकी सन्तानों को हस्तान्तरित करना (वंशानुक्रम के अन्तर्गत) है।"

वंशानुक्रम का प्रभाव—शारीरिक तथा मानसिक दृष्टिकोण से यह निश्चित हो जाता है और जन साधारण में विश्वास किया जाता है कि माता-पिता का प्रभाव सन्तान पर रहता है। आधुनिक युग में वैज्ञानिकों ने परीक्षण करके यह सिद्ध कर दिया कि इस तथ्य में सच्चाई है प्रसिद्ध विद्वान फ्रांसिस, गाल्टन, डण्डेल, डावुक, गुडार्ड, विन्शिप आदि ने अनेकों परीक्षण किये और उनके अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि—चोर की सन्तान में चोर, धोखेबाज, शराबी, जुआरी, दुराचारी व्यक्ति होते हैं और विद्वान वंश में विद्वान सन्तान उत्पन्न होती है। डारविन का मत है कि प्राकृतिक चुनाव होता है जो बलशाली है उन्हें जिन्दा रहने का अधिकार मिलता है और निर्बल मर जाते हैं। गाल्टन और विजमैन ने मत प्रकट किया कि अर्जित गुणों का उत्पादक तत्त्वों पर प्रभाव पड़ता है वे ही संक्रान्त होते हैं।

वंशानुक्रम के नियम—वंशानुक्रम के चार नियम निम्न हैं :

(१) बीज कोष की समानता,
(२) अर्जित गुणों का असंचरण,
(३) भिन्नता का नियम, और
(४) प्रमुखता की ओर प्रतिगमन।

बीज कोष की समानता—वंशानुक्रम के अनुसार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर जीव कोष का प्रभाव होता है। अर्थात् बीज कोष अपरिवर्तित दशा में माता-पिता से सन्तान में जाता है। अतः उनमें समानता पायी जाती है। इस नियम के द्वारा समानता की तो व्याख्या होती है परन्तु विषमता की नहीं।

अर्जित गुणों का असंचरण—यह निर्णय होता है कि समस्त भाँति के अर्जित गुणों का सन्तान पर प्रभाव सम्भव नहीं। जैसे अन्धे, लूले व्यक्ति की सन्तान अन्धी या लूली नहीं होती। इस प्रकार के परीक्षण विजमैन व मैक्डूगल ने चूहों आदि जीवों

पर किये। परीक्षणों का निष्कर्ष यह निकला कि माता-पिता के केवल शारीरिक गुण ही नहीं मानसिक गुण भी सन्तति में संक्रान्त होते हैं। उदाहरणार्थ—वैजवडं, गाल्टन, डार्विन आदि वंशों के इतिहास से पता लगता है कि इन वंशों के अधिकांश व्यक्ति विज्ञानवेत्ता हुए।

वर्नाडेंशॉ अर्जित गुणों के असंचरण में विश्वास नहीं करते थे। उनका कथन था कि प्रकृति किसी की आवश्यकता को पूर्णरूप से जानती है। अतः प्राणी के लिए लाभदायक तत्वों का उनकी सन्तति में संक्रान्त अवश्य होता है।

भिन्नता का नियम—माता-पिता और सन्तान में समानता के साथ-साथ भिन्नता भी पायी जाती है। भिन्नता उत्पन्न होने के दो विभिन्न मत हैं—(१) डार्विन के मतानुसार प्राणियों के गुणों के भेद अनायास उत्पन्न हो जाते हैं। जो परिवर्तन जीवन के लिए घातक होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं और लाभदायक गुण सन्तति में पाये जाते हैं। (२) लैमार्क के मतानुसार नये गुणों की उत्पत्ति किसी जाति के नये वातावरण से संघर्ष के कारण होती है। अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राणी अपने को बदलता है। यही परिवर्तन सन्तति में चला जाता है। यह परिवर्तन अनायास न होकर क्रमिक होता है।

प्रमुखता की ओर प्रतिगमन—सामान्य गुण तथा विलक्षण गुण दोनों ही वंशानुक्रम के नियमानुसार संक्रान्त होते रहते हैं। सामान्य गुणों का वितरण अधिक और विलक्षण गुणों का कम प्रकृति द्वारा वितरण होता है। सामान्य गुण मनुष्य की औसत लम्बाई और औसत बुद्धि के अनुसार संक्रान्त होते हैं और विलक्षण गुण माता-पिता की सन्तति में संक्रान्त होते हैं। परन्तु दूसरी-तीसरी पीढ़ी पर यह वृद्धि औसत ही रह जाती है। इस भाँति वंशानुक्रम के नियमानुसार प्रकृति प्रत्येक वस्तु को औसत की ओर लाती है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नस्ल वाली अशुद्ध जाति धीरे-धीरे कम हो जाती है और शुद्ध जाति को स्वयं संकरता से उत्पन्न गुणों का क्रमिक रूप से अन्त करके प्रकृति सदैव प्रमुखता की ओर प्रतिगमन करने में सहायक होती है।

मीमांसा—शिक्षा में बालक की बुद्धि की सीमा का निर्धारण वंशानुक्रम से ही हो जाता है; कोई व्यक्ति प्रखर बुद्धि का, कोई मन्द बुद्धि का यह सब वंशानुक्रम पर ही आधारित होता है। बालक के व्यक्तित्व के शारीरिक लक्षण के निर्धारण में वंशानुक्रम का अधिक महत्व है। प्रायः यह देखा जाता है कि माता-पिता के अनुरूप ही सन्तान भी सुन्दर एवं स्वस्थ होती हैं। थॉमसन ने अपने शब्दों में स्पष्ट कहा है :

"By education we can add an inch or two the stature of the child but we cannot add a cubit."

अर्थात्—"इस शिक्षा के द्वारा हम बालक की ऊँचाई एक या दो इंच बढ़ा सकते हैं, परन्तु एक साथ नहीं।"

वंशानुक्रम बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए शक्तियाँ प्रदान करता है। यह शक्तियाँ—मूल प्रेरक, प्रतिक्षेप क्रियायें, संवेग, आंतरिक भाव, सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ, स्नायु-मन्डल, क्षमता एवं ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक का कथन है :

"Heredity gives us capacity and instincts which condition the development of the child."

अर्थात्—"वंशानुक्रम क्षमता एवं मूल प्रेरणा प्रदान करता है जिनके आधार पर बालक का विकास होता है।"

लिंगगत विभिन्नता वंशानुक्रम में निर्धारित हो जाती है परन्तु अनेक विभिन्नतायें और भी हैं जो वंशानुक्रम से ही निर्धारित होती हैं, जैसे–मुखाकृति, रंग आदि। शिक्षा मनोविज्ञान के अन्तर्गत वंशानुक्रम का अध्ययन वंशानुक्रम के ज्ञान से व्यक्ति के विकास के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए करते हैं।

प्रश्न ५६—वातावरण क्या है? प्राणी पर वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है?

भूमिका—मानव एक सामाजिक प्राणी है। बिना समाज के मानव का अस्तित्व नहीं है। समाज में माँ-बाप, परिवार, समुदाय, जाति, नगर आदि सब आते हैं और सबका वातावरण विभिन्न होता है। बालक जन्म से ही वातावरण का लाभ उठाने लगता है अतः शिक्षा में वातावरण का भी सहयोग होता है।

वातावरण का स्वरूप—वास्तव में वातावरण बालक तक ही सीमित नहीं। बल्कि जिस वातावरण में रहकर माता-पिता ने बालक को जन्म दिया है, उसका प्रभाव भी बालक पर होता है। इसीलिए वंश परम्परा अथवा वंशानुक्रम और वातावरण का सम्बन्ध रहता है। माता-पिता का प्रभाव बालक पर रहता है यह निर्विवाद सत्य है। परन्तु यदि बालक को जन्म लेने के कुछ दिन बाद किसी अन्य वातावरण में ले जायें तो बड़ा होने पर वह अपने माता-पिता की भाषा नहीं बोलेगा। उसके व्यवहार में नवीन वातावरण का प्रभाव हो जायगा। अतः वातावरण भी प्राणी के विकास में महत्त्व रखता है। वंशानुक्रम अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है, वातावरण अपने स्थान पर।

वातावरण का अर्थ—वात+आवरण दो शब्दों से मिलकर वातावरण बना है। बात अर्थात् परि शब्द का अर्थ अपने चारों तरफ से है। तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के चारों ओर जो कुछ भी है वह वातावरण कहलाता है।

परिभाषा—विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने वातावरण की परिभाषा निम्न रूप से प्रकट की हैं :

वोरिंग, लैंगफील्ड तथा वैल्ड (Boring, Langfieid and Weld) ने अपनी संकलित परिभाषा में व्यक्त किया है :

"......a person's environment consists of the sum total of the stimulation which he receives pour his conception until his death."

अर्थात्—"एक व्यक्ति के वातावरण के अन्तर्गत उन सब उत्तेजनाओं का योग आ जाता है जिनको कि वह गर्भावस्था से लेकर मृत्यु तक अर्जित करता है।"

पी० जिसबर्ग (P. Gisbergt) के मतानुसार :

"Environment is anything immediately surrounding on object and exerting a direct influence on it."

अर्थात्—"वातावरण उसको कहते हैं जो किसी एक वस्तु को चारों ओर घेरे है और उस पर प्रभाव डालता है।"

ई० जे० रौस (E. J. Ross) के मतानुसार—

"Environment is any external force which influences us."

अर्थात्—"वातावरण कोई बाहरी शक्ति है जो हमें प्रभावित करती है।"

टी० डी० इलियट (T. D. Elliot) के मतानुसार :

"The field of effective stimulation and interaction for any unit of living matter."

अर्थात्—"चेतन पदार्थ की किसी इकाई के प्रभावकारी उद्दीपन एवं अन्तः क्रिया के क्षेत्र को वातावरण कहते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषा के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति गर्भ में आने से मृत्यु पर्यन्त तक वातावरण से प्रभावित रहता है। वातावरण में शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक, पारिवारिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय भावनाएँ भी सम्मिलित होती हैं।

वातावरण का प्रभाव—व्यक्ति पर विभिन्न अवस्थाओं में निम्न प्रकार से प्रभाव पड़ता है :

जन्म से पूर्व—माँ यदि गर्भ अवस्था में प्रसन्न और स्वस्थ रहती है तो बालक पर उसके भोजन, मानसिक स्थिति आदि का रक्त के कारण पूर्ण प्रभाव पड़ता है। गर्भ में बालक माँ के रक्त से ही भोजन प्राप्त करता है। यही रक्त जिसे माँ के वातावरण ने प्रभावित किया है बच्चे का पोषण करता है अर्थात् यह कहा जा सकता है कि बच्चे का विकास और मानसिक स्थिति पर अप्रत्यक्ष रूप से वातावरण का प्रभाव होता है।

जन्म के उपरान्त—बालक के जन्म लेने पर माता-पिता की आर्थिक अवस्था, परिवार के सदस्यों में अपना जन्म क्रम (पहला बच्चा या दूसरा, तीसरा), पुत्र या पुत्री आदि का प्रभाव पड़ता है। यदि प्रथम बालक है तो खुशी का प्रसंग है जिसमें भी पुत्र है तो अत्यन्त खुशी होती है। इस खुशी के कारण वह अधिक लाड़-प्यार

पाता है। धनी परिवार है तो अधिक लाड़-प्यार मिलता है, देखभाल अच्छी होती है।

परिवार—बच्चे की पारिवारिक अवस्था में द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, श्रद्धा, आदि समस्त तत्वों का प्रभाव बालक पर पड़ता है।

बाल-समूह—बच्चे के चलने-फिरने योग्य होने पर बालक अपने साथियों के बीच खेलने लगता है। जिस आदत, व्यवहार के बालकों के साथ वह खेलेगा, रहेगा, बातचीत करेगा उसका प्रभाव उस बालक पर अवश्य पड़ता है।

शिक्षालय—पढ़ने योग्य अवस्था होने पर बालक पर शिक्षक और शिक्षा-सहपाठियों तथा शिक्षालय के वातावरण का प्रभाव पड़ता है।

समाज—बालक का जिस समूह और समाज या समुदाय में जीवन व्यतीत होता है, उसी के अनुसार उसकी आदतें बन जाती हैं। वह उसी भाँति का व्यवहार करने लगता है। मजदूर वर्ग का बालक मजदूर ही बनता है या व्यापारी वर्ग का बालक व्यापार ही करता है।

भौगोलिक अवस्था—शारीरिक गठन के अनुसार प्रायः यह देखा जाता है कि ठण्डे प्रदेश के व्यक्ति गोल और लम्बे होते हैं जबकि गर्म प्रदेश के रहने वाले काले और ठिगने होते हैं। इसी भाँति मानसिक प्रभाव भी पड़ता है।

संस्कृति और रीति-रिवाजों का प्रभाव—हिन्दू के घर उत्पन्न अपना पालन-पोषण पाने वाले बालक पर हिन्दू संस्कृति और रीतिरिवाजों का प्रभाव पड़ता है जबकि मुसलमान के घर पर रहने वाले बालक पर मुस्लिम संस्कृति का। इसके अतिरिक्त प्रदेश या राज्य की परम्पराओं का भी प्रभाव बालक पर पड़ता है।

धर्म, राष्ट्र आदि का प्रभाव—बालक धर्म के प्रभाव से भी मुक्त नहीं होता। ईसाई मिशनरियों में शिक्षा पाने वाले बालक और सनातन स्कूल में शिक्षा पाने वाले बालक की आदतों, स्वभाव और कर्मों में विभिन्नता पायी जाती है। वृहद् स्तर पर राष्ट्र का प्रभाव भी देखा जा सकता है।

मीमांसा—उपर्युक्त वातावरण के विश्लेषण, परिभाषा, स्वरूप एवं प्रभाव का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि मनुष्य का स्वयं कुछ नहीं होता वरन् वह तो वातावरण के हाथ की कठपुतली मात्र है। वास्तव में वातावरण का व्यक्ति पर अत्यधिक रूप से प्रभाव पड़ता है।

प्रश्न ६०—बालक के विकास में वंशानुक्रमण और वातावरण के तुलनात्मक महत्त्व की व्याख्या कीजिये। वातावरण का शिक्षा में क्या महत्त्व है? स्पष्ट कीजिये।

(उ० प्र० १९६४, ६५ व ६७)

भूमिका—पूर्व के प्रश्नों में वंशानुक्रमण एवं वातावरण का परिचय प्राप्त किया गया। इनकी पारस्परिक समानता एवं विभिन्नता का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है।

वंशानुक्रम का अर्थ करने में यह स्पष्ट हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति के जन्म-काल से उसको पूर्वजों द्वारा जो लक्षण प्राप्त होते हैं वे समस्त तत्व वंशानुक्रम के ही अन्तर्गत आते हैं। सामाजिक वातावरण से बालक जो भी ज्ञान या शिक्षा प्राप्त करता है वह सामाजिक परम्परा के अन्तर्गत आता है। श्री बी० एन० झा (B. N. Jha) ने अपने शब्दों में स्पष्ट किया है :

"Our social heritage consists of all that is bodily, incidentally and determinely passed or to us, by the generation gone before."

अर्थात्—"हमारी सामाजिक परम्परा के अन्तर्गत वे समस्त वस्तुएँ आती हैं जो हमें पूर्ववर्ती पिछड़ी पीढ़ियों से सावयव, दैवयोग एवं जानबूझकर प्राप्त होती हैं।"

समानता—वंशानुक्रम तथा वातावरण दोनों का आधार व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामाजिक एवं सामुदायिक है। दोनों का प्रमुख कार्य समाज तथा व्यक्ति को उन्नति की ओर अग्रसर करना है। इनके द्वारा व्यवहार स्वभाविक रूप से होते रहते हैं। व्यवहार एवं कार्य उपयोगी ही सम्पन्न करते हैं। इनका प्रभाव व्यवहार पर अधिक होता है।

विभिन्नता—स्त्री एवं पुरुष के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली क्रिया वंशानुक्रम के अन्तर्गत आती है जबकि वर्तमान एव नवीन उन्नति के मिलन के कारण सामाजिक परम्परा अथवा वातावरण की प्राप्ति होती है। वंश परम्परा अपरिवर्तनशील है और सामाजिक परम्परा परिवर्तनशील। महत्त्व की दृष्टि से वंश परम्परा का प्रभाव समस्त प्राणियों में समान रूप से होता है और सामाजिक परम्परा केवल मनः शारीरिक प्राणी में होता है। वंश परम्परा बालक के शारीरिक लक्षणों को अधिक प्रभावित करती है, जबकि सामाजिक परम्परा मानसिक लक्षणों को। वंश परम्परा बालक के लिए एक ही होती है। परन्तु सामाजिक परम्पराएँ अनेक होकर प्रभावित करती हैं।

वातावरण का शिक्षा में महत्त्व—महत्त्व का विवेचन करने के लिए अन्य शिक्षाशास्त्रियों के विचारों का अध्ययन करने के उपरान्त पूर्ण रूप से निश्चित किया जा सकता है। अतः निम्न विचारों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

हेवार्ड (Heward) के मतानुसार :

"The child is endowed with some inherited tendencies but they are so plastic that they can be moulded almost in any way, according to the educator's desires."

अर्थात्—"बालक अपने साथ कुछ मूल प्रवृत्तियाँ अवश्य लाता है लेकिन वे इतनी परिवर्तनशील होती हैं कि शिक्षक की इच्छानुसार किसी भी ओर परिवर्तित की जा सकती हैं।"

जॉन लॉक (John Lock) के मतानुसार :

बालक का मस्तिष्क जन्म के समय कोरे कागज के समान होता है। जिस प्रकार के वातावरण से वह शिक्षा प्राप्त करता है उसी के अनुसार उसके मस्तिष्क में ज्ञान अंकित होता है। फलत: बालकों में जो विभिन्नता देखी जाती है उसका कारण वातावरण ही है। जॉन लॉक का 'कोरी पाटी का सिद्धान्त' (Tabula Rasa Theory) इन्हीं विचारों को प्रस्तुत करता है, जो बालक के व्यक्तित्व के विकास में वातावरण का प्रमुख हस्तक्षेप बतलाता है।

हरबर्ट (Herbart) के मतानुसार :

"मनुष्य शिक्षा द्वारा ही प्रगति कर सकता है क्योंकि शिक्षा ग्रहण करने से उच्च विचारों का प्रादुर्भाव होता है। शिक्षा वातावरण का एक विशेष अंग है अत: वातावरण का बालक के व्यक्तित्व के विकास में अत्यधिक महत्त्व है।"

रॉबर्ट ओवन (Robert Owen) के मतानुसार :

"हमारा निर्माण समाज द्वारा होता है, हमें समाज के द्वारा ही उन्नति के साधन प्राप्त होते हैं, इन साधनों में शिक्षा का प्रमुख स्थान है। अत: वंशानुक्रम की अपेक्षा वातावरण का महत्त्व अधिक है।"

हक्सले (Huxley) के मतानुसार :

"जिस प्रकार पौधों का विकास माली की देखरेख में अच्छी तरह होता है उसी तरह बालकों का विकास भी शिक्षकों की देखरेख में अच्छी तरह होता है।"

वाटसन (Watson) के मतानुसार :

"यदि वातावरण पर पूर्णरूपेण नियन्त्रण करना सम्भव हो जाय तो किसी भी बालक को शिक्षा द्वारा डाक्टर, वकील, प्रोफेसर, कलाकार या सफल व्यापारी बनाना सरल हो सकता है।"

मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) के मतानुसार :

"The organism itself the life structure is the product of past life and past environment. Environment is present from the beginning of life even in the germ cells."

अर्थात्—"स्वयं प्राणी और उसके जीवन का स्वरूप बीते हुए जीवन एवं भूतकाल के वातावरण का फल है। वातावरण जीवन के प्रारम्भ से ही, यहाँ तक कि कोष्ठों में उपस्थित है।"

हेलविसियस (Helvetius) के मतानुसार :

"व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर पाया जाता है उसका कारण उनका भिन्न-भिन्न वातावरण है। वातावरण ही व्यक्तिगत विभिन्नता का आधार है।"

आर० एम० मैकाइवर (R. M. Mac Iver) के मतानुसार :

"It (Environment) interpenetrates life every where. It directs or diverts, stimulates or depress man's energies. It moulds his speech, it subtly changes his frame. Nay more it lives within him. It is recorded in his brain and his muscles. It works in his blood."

अर्थात्—"वातावरण जीवन के प्रत्येक भाग में अन्तर्विष्ट है। वह मनुष्य की शक्तियों को निर्देशित अथवा नियुक्त, उत्साहित अथवा प्रोत्साहित करता है। वह उसकी वाणी को ढालता है, वह उसके ढांचे को सूक्ष्म रूप से परिवर्तित करता है। न केवल इतना ही बल्कि इससे भी अधिक वातावरण प्राणी के अन्तस्थल में निवास करता है, वह उसके मस्तिष्क एवं भुजाओं में अंकित होता है। वह उसके रक्त में कार्य करता है।"

मीमांसा—उपरोक्त मतों के अध्ययन करने से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि व्यक्तित्व के निर्माण में शिक्षालय, समाज, परिवार आदि समस्त वातावरण का प्रभाव पड़ता है। प्रसिद्ध विद्वान कैण्डोल (Candolle) ने ५५२ सुप्रसिद्ध विद्वानों का अध्ययन करते हुए यही निष्कर्ष प्राप्त किया था कि उन समस्त विद्वानों को उच्चकोटि का वातावरण प्राप्त हुआ था। इसी तरह गौर्डन (Gordon) महोदय ने भी वातावरण का महत्त्व प्रस्तुत किया है। जैसे-जैसे बालक अशिक्षित वातावरण में विकसित होता जाता है वैसे-वैसे उसकी बुद्धि का ह्रास होता है। अतः बालक का भविष्य में कैसा व्यक्तित्व होगा यह वातावरण द्वारा निश्चित किया जा सकता है।

प्रश्न ६१—बालक के विकास के लिए वंश परम्परा तथा वातावरण दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस कथन की व्याख्या विस्तारपूर्वक कीजिए। (उ० प्र० १९६१)

भूमिका—बालक के विकास में वंश परम्परा तथा सामाजिक परम्परा दोनों ही सहायक होते हैं। विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से यह स्पष्ट कर दिया है जिसका विस्तार से हम पूर्व-प्रश्नों में वर्णन कर चुके हैं। यहाँ यह प्रश्न हल करते हैं कि वंशानुक्रम तथा वातावरण का सापेक्षित महत्व क्या है ? यह निम्न दृष्टियों से स्पष्ट होता है :

(१) दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।
(२) दोनों एक दूसरे से अपृथक हैं।
(३) दोनों का व्यक्तित्व के विकास में सहयोग रहता है।
(४) शैक्षणिक दृष्टि से दोनों एक हैं।

पूरकता—वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वंशानुक्रम तथा वातावरण का अध्ययन करने पर स्पष्ट कह सकते हैं कि वंशानुक्रम एवं वातावरण एक दूसरे के पूरक हैं। वंशानुक्रम से बालकों को जन्म काल से ही अनेकों शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। उन शक्तियों के शिक्षक के सहयोग से विकसित करने का बालकों को अवसर प्राप्त होता

है। अर्थात् वातावरण के रूप में शिक्षक ही सहयोग देता है। लैंडस एवं लैंडस (Landis and Landis) के मतानुसार यही तथ्य स्पष्ट होता है :

"Heredity gives us the capacities to bedeveloped but opportunity for the development of these capacities must come from the environment. Heredity gives us our working capital, environment gives us the opportunity to invest it."

अर्थात्—"वंशानुक्रम हमें विकसित होने के लिए क्षमताएँ प्रदान करता है परन्तु इन क्षमताओं के विकसित होने के लिए अवसर वातावरण से अवश्य मिलना चाहिए। वंशानुक्रम हमें हमारी कार्यशील पूँजी प्रदान करता है एवं वातावरण हमें उनके विनियोग करने का अवसर प्रदान करता है।"

अपृथकता—अध्ययन की दृष्टि से और अधिक विश्लेषण किया जाय तो वंशानुक्रम एवं वातावरण एक दूसरे के पूरक ही नहीं हैं बल्कि हम अपृथकता प्राप्त करते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध शरीर और आत्मा की भाँति समझा जा सकता है। बालक के व्यक्तित्व का कोई भी ऐसा लक्षण न होगा जिसके विकास के लिए वंशानुक्रम एवं वातावरण का सहयोग न हो। पल्टन वर्ग के शब्दों में—

"Every trait requires both heredity and environment for its development."

अर्थात्—"प्रत्येक लक्षण को अपने विकास के लिए वंशानुक्रम एवं वातावरण दोनों की ही अति आवश्यकता होती है।"

शिक्षाशास्त्री लम्ले (Lumley) ने भी समर्थन किया है :

"It is not heredity or enviroment but heredity and environment."

अर्थात्—"यह वंशानुक्रम या वातावरण नहीं है परन्तु वंशानुक्रम एवं वातावरण है।"

मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) ने भी समर्थन में स्पष्ट व्यक्त किया है :

"Every phenomenon of life is the product of both. Each is as necessary to the result as the other. Neither can ever be climinated and neither can ever be isolated."

अर्थात्—"जीवन की प्रत्येक घटना दोनों (वंशानुक्रम एवं वातावरण) का फल होती हैं। उनमें से एक परिणाम के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी कि दूसरी। कोई भी न तो कभी हटाई जा सकती है और न ही कभी पृथक् की जा सकती है।"

स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का महत्त्व—बालक के व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम एवं वातावरण का आलम्ब रहता है। फिर भी बालक की स्वयं की इच्छा शक्ति

को नगण्य नहीं किया जा सकता। इच्छा शक्ति का समर्थन करते हुए प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री टी० पी० नन् (T. P. Nunn) ने व्यक्त किया है :

"The fundamental fact is that it (the child) is a centre of creative energy which uses endowment and environment is its medium so that the element it recevies from nature and nature be not themselves make it what it is, except in so far as they are basis of the free activity, which is the essential fact of its existence."

अर्थात्—"मौलिक सत्य तो यह है कि बालक ही उस रचना शक्ति का केन्द्र है जो वंशानुक्रम एवं वातावरण को आत्म प्रकाशन का एक माध्यम बनाती है। प्रकृति एवं शिक्षा से जो कुछ भी बालक प्राप्त करता है उसका व्यक्तित्व उन्हीं से निर्मित नहीं हो जाता, परन्तु ये दोनों ही बालक की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के आधार हैं एवं यह स्वतन्त्र इच्छा शक्ति स्वयंसिद्ध वस्तु है।"

शैक्षणिक दृष्टिकोण—अनेक शिक्षाशास्त्री बालक की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति को महत्त्व देते हुए वंशानुक्रम एवं वातावरण को विकास का विषय मानते हैं। शिक्षा की दृष्टि से इस विचार की अवहेलना नहीं की जा सकती है। अतः शिक्षकों एवं अभिभावकों का परम कर्त्तव्य हो जाता है कि :

(१) माता-पिता स्वयं अपना स्वास्थ्य एवं चरित्र निर्माण करें ताकि सुन्दर एवं स्वस्थ बालकों का जन्म हो।

(२) शिक्षक समाज में उन विचारों को प्रोत्साहित करें जिनसे नारी समाज का जीवन सुन्दर एवं स्वस्थ हो और उनके द्वारा बालकों का भविष्य आदर्श बने।

(३) शिक्षक को यह जानना आवश्यक है कि बालक में कौन-कौन सी शक्तियाँ एवं आवश्यकताएँ जन्म से ही निहित हैं।

(४) विकारग्रस्त बालकों की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध होना अनिवार्य है।

(५) शिक्षक बालक की वंशानुक्रमण परिवर्तनशील शक्तियों को वांछित दिशा में अनुकूल वातावरण उपस्थित करके शोधन एवं मार्गान्तीकरण कर सकते हैं। फलतः बालक के व्यक्तित्व का पूर्णरूपेण एवं सर्वांगपूर्ण विकास सम्भव है।

मीमांसा—उपरोक्त विश्लेषण से यह कहना अनुचित न होगा कि शिक्षा में वंशानुक्रम एवं वातावरण के सापेक्षिक महत्त्व का स्थान उपेक्षित है बल्कि बालक के व्यक्तित्व के प्रत्येक लक्षण के लिए दोनों की समान आवश्यकता होती है। शिक्षा शास्त्री बी० एन० झा (B. N. Jha) ने इसको अपने शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है :

"शिक्षा इस बात पर ध्यान देगी कि जिस मात्रा में भी भावी क्षमताएँ विद्यमान हैं, व्यर्थ न जाने पायें जिससे कि कवि को यह शोक प्रदर्शित करने का अवसर न मिलेगा कि शुद्ध ज्योतिर्मय अनेकों रत्न संसार से आज नष्ट हो रहे हैं।"

प्रश्न ६२—बालक के विकास में वंशानुक्रम एवं वातावरण का प्रभाव स्पष्ट कीजिए। उदाहरण सहित कथन की पुष्टि भी कीजिए। (उ० प्र० १९६२, ६४ व ६५)

भूमिका—बालक के व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम एवं वातावरण का प्रभाव पड़ता है। यह तो निश्चय हो चुका है, विकास में व्यवहार ही नहीं मनुष्य का व्यक्तित्व भी एक दूसरे से भिन्न होता है। हर व्यक्ति का व्यक्तित्व एक अकेला होता है। इस विभिन्नता का कारण वंशानुक्रम एवं वातावरण दोनों ही है। प्राय: यह देखा जाता है कि एक व्यक्तित्व दूसरे के व्यक्तित्व के समान नहीं होता। इसके विभिन्न कारण हैं।

सर्वप्रथम वंशानुक्रम एक ऐसी शारीरिक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत माता-पिता व पूर्वजों के जन्मजात एवं जातीय गुणों को बालक अर्थात् सन्तान स्वत: ही ग्रहण करती है। साधारण बोल चाल में यह प्रक्रिया सामाजिक वंशानुक्रम कहलाता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यही शारीरिक वंशानुक्रम होता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ए० पी० स्पर्लिंग (A. P. Sperling) के शब्दों में :

"Simply defined, biological heredity is the transmission of traits from one generation to the next through the process of reproduction."

अर्थात्—"साधारणतया वंशानुक्रम एक ऐसी शारीरिक प्रक्रिया है जिसका आधार प्राय: प्रत्येक प्राणी में यौन-समागम ही है।"

व्यक्ति के विकास में शरीर का गठन, स्नायु, बुद्धि, ग्रन्थियाँ, आँख, कान, रंग रूप, मूल प्रवृत्तियाँ और सहज क्रियाएँ आदि सहायक होती हैं। ये वंशानुक्रम द्वारा ही प्राप्त होती हैं। वाह्य गुण, जैसे—रहन-सहन, वेश-भूषा आदि एवं आन्तरिक गुण, जैसे—धैर्य, आत्म-चिन्तन, जीवन दर्शन आदि व्यक्ति के विकास कहलाते हैं।

वंशानुक्रम की दृष्टि से मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि—व्यक्तित्व के विकास के लिए वंशानुक्रम ही सब कुछ है। उदाहरणार्थ—

मनोवैज्ञानिक गाल्टन (Galton) ने ९७७ परिवारों का यह निष्कर्ष व्यक्त किया कि—"मानसिक एवं शारीरिक शील-गुण भी बहुत अंशों में हमें अपने वंशानुक्रम से प्राप्त होते हैं।"

एक अन्य अनुसन्धान १८० परिवारों का किया जिसमें ३० परिवार कलाकार थे, जिसके ६४ प्रतिशत बालक कलाकार-प्रवृत्ति के हुए और इसके विपरीत १५० परिवारों के ९७ प्रतिशत बालक कलाकार प्रवृत्ति के नहीं थे। ये वे परिवार थे जो कलाकार नहीं थे।

डेकॉनडोले (Decondolle) ने ५०० युरोपियन वैज्ञानिकों के जीवन इतिहास का अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला था कि वे वैज्ञानिक अपने वातावरण की देन थे, न कि वंशानुक्रम के।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक गोडार्ड (Goddard) ने वंशानुक्रम-अनुसन्धान में यह निश्चय किया कि—मन्द बुद्धि स्त्री की सन्तानें मन्द बुद्धि वाली ही होती हैं तथा तीक्ष्ण बुद्धि माता से उत्पन्न सन्तानें तीक्ष्ण बुद्धि वाली होती है।

कालिकॉक नामक सैनिक की पहली मन्द बुद्धि वाली स्त्री से उत्पन्न ६ पीढ़ियों में ४८० व्यक्तियों के जीवन इतिहास में सिर्फ ४६ व्यक्ति ही सामान्य बुद्धि वाले थे जबकि १४३ व्यक्ति मन्द बुद्धि वाले, ३ खूनी, ३ मिरगी रोग से ग्रसित, ३५ वेश्यागामी या व्यभिचारी, २४ शराबी और ८ वेश्यालय के संचालक।

कालिकॉक की दूसरी तीव्र बुद्धि वाली महिला से ६ पीढ़ियों में ५९६ व्यक्तियों का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि अधिकांश व्यक्ति इंजीनियर, प्रोफेसर, जज, वैज्ञानिक एवं कुशल व्यापारी आदि हुए।

एस्टाब्रुक्स (Estabrooks) एव डग्डेल (Dugdale) ने अमेरिका के एक ड्यूक वंश में उत्पन्न एक हजार व्यक्तियों के जीवन-इतिहास का अध्ययन किया, जिसमें केवल २० व्यक्ति ही सामान्य जीवन व्यतीत करने वाले हुए। शेष में से २४० जीवन-पर्यन्त रोगी रहे, १३० अनेक बार जेल गये जो चोर, जुआरी, आवारा थे, ३१० जीवन यापन में असफल रहे और अन्त में भीख माँगने लगे, ३०० व्यक्ति अपनी बाल्यावस्था में ही मर गये।

ग्रन्थियों अथवा पिण्डों की क्रियाओं में परिवर्तन होने पर उसका प्रभाव शरीर व व्यवहार में परिवर्तन करता है। उनका व्यक्ति के विकास पर अत्यधिक प्रभाव रहता है। ग्रन्थियों के प्रभाव में व्यक्ति बौना या लम्बा हो जाता है। यह प्रभाव ग्रन्थियों की क्रियाओं के उचित अनुपात में कमी या अधिकता से रस-स्राव के कारण होता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि व्यक्तित्व के विकास में पूर्णतः वंशानुक्रम का ही नियन्त्रण रहता है व्यक्तित्व का विकास वातावरण द्वारा भी नियन्त्रित होता है। वंशानुक्रम किसी शून्यता में अकेला प्रभाव नहीं डाल पाता है।

वातावरण का अध्ययन करते समय यह ध्यान रखना है कि वातावरण चाहे आन्तरिक हो अथवा बाह्य, व्यक्ति को किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित करता है। मनोवैज्ञानिकों ने भौतिक एवं सामाजिक वातावरण के अतिरिक्त एक मानसिक वातावरण का भी विश्लेषण किया है। मानसिक वातावरण का भी व्यक्तित्व के विकास पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

मानसिक वातावरण व्यक्ति के तात्कालिक वातावरण से भिन्न है। इसके अन्तर्गत मानसिक प्रतिभाओं एवं अन्य अव्यक्त मानसिक प्रक्रियाओं को सम्मिलित करते हैं।

उदाहरणार्थ—एक बालक जिसके परिवार में किसी की अवस्था खराब हो जाय और वह कक्षा में बैठकर शिक्षक का भाषण सुने तो उस समय उसे पारिवारिक दुःख के कारण मानसिक वातावरण का प्रभाव अवश्य ग्रसित करेगा। और यदि कक्षा में पंखा, डेस्क, वायुमण्डल, तापमान आदि का तत्कालीन बाह्य प्रभाव मानसिक

प्रभाव से उसे मुक्त कर दे तो शिक्षक की भाषा का पूर्ण प्रभाव उस पर होगा। अतः यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि—"व्यक्ति में उसका मानसिक वातावरण ही अधिक प्रमुख एवं प्रभुत्वशाली होता है।" वह जीवन की वास्तविकता से तटस्थ होता जाता है और कल्पना शक्ति के आधार पर मानसिक वातावरणों में ही अपना कर्त्तव्य खोजता है। वह अधिकतर आत्म-केन्द्रित एवं अन्तर्मुखी बन जाता है, जिसका कुप्रभाव उस पर व उसके समाज पर पड़ता है।

वाटसन (Watsion) ने वंशानुक्रम के महत्त्व को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए निम्न प्रयोग किया है :

प्रायः जानवरों पर इस प्रकार के प्रयोग किये गये हैं और देखा गया है कि गर्भ के अन्दर माँ के शरीर की आन्तरिक ग्रन्थियों का रस-स्राव, गर्भ के आन्तरिक तापमान, रक्त-संचार शारीरिक पाक-क्रिया का भी प्रभाव बालक पर पड़ता है। प्रयोगों के आधार पर कहा जा सकता है कि तीव्र बुद्धि के बालक को कुछ काल तक मन्द बुद्धि के बालकों के सम्पर्क में रखा जाय तो उस पर वातावरण का कुप्रभाव होगा और वह भी मन्द बुद्धि के से व्यवहार करने लगेगा। तीव्र बुद्धि के बालक जो अनुचित वातावरण के प्रभाव में मन्द-बुद्धि हो जाते हैं, उन्हें टरमन (Terman) महोदय ने एनविरॉन मेंटल ईडियट (Environmental Idiot) की संज्ञा दी है।

इसके विपरीत बारबरा एस० बर्क्स (Barbara S. Burks) ने बुद्धि-विकास का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि औसतन कम बुद्धिमान बालक बुद्धिमान व्यक्तियों के सम्पर्क में रहने से उच्च बुद्धि बालकों का-सा व्यवहार करने लगते हैं। इसी भाँति फ्रीमैन (Freeman) ने भी वातावरण को श्रेष्ठ माना है।

आइयोवा विश्वविद्यालय (Iowa University) के मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के अन्तर्गत यह तथ्य प्रस्तुत कियां कि जिस भाँति वातावरण किसी की बुद्धि को और अधिक बढ़ा सकता है उसी भाँति बुरा वातावरण किसी सामान्य बुद्धि बालक का स्तर गिरा भी सकता है।

मनोवैज्ञानिकों ने अनेकों प्रयोग करने के उपरान्त यही सही तथ्य प्रकट किया है कि जो बालक चोर, आवारा आदि के सम्पर्क में पलता है वह चोर, आवारा हो जाता है तथा जो बालक पढ़े-लिखे परिवार एवं सभ्य समाज में पलता है वह अपेक्षाकृत पहले से कहीं अधिक पढ़ा-लिखा एवं सभ्य बन जाता है।

ऐडलर (Adler) के मतानुसार—"किसी व्यक्ति की जीवन-शैली का निर्धारण वातावरण करता है।"

बाल्डविन (Baldwin), हिण्डले (Hindley) आदि के मतानुसार—"शहर के बालकों की बुद्धि देहात के रहने वाले बच्चों की अपेक्षा अधिक विकसित होती है।"

वंशानुक्रम और वातावरण के प्रभावों का एक साथ सफल प्रयोग प्रसिद्ध वैज्ञानिक केलॉग (Kelog) ने किया। उन्होंने एक वनमानुष का ६ माह का बच्चा

अपने ही १० माह के बच्चे के साथ पाला। दोनों को एक सी ही ट्रेनिंग दी गयी। वनमानुष (गुहा) और बालक (Donald) १६ माह की अवस्था तक साथ-साथ रहे तो गुहा में मानव-शिशु के समान व्यवहार उत्पन्न करने की क्षमता हो गयी। जूता, मोजा, कमीज, पेंट पहनना, बटन बन्द करना, टहलने को निकलना, छुरी-चमचा का प्रयोग आदि मानव बालक के समान ही उपयोग करने लगा। परन्तु बाद में डोनाल्ड की भाषा, चिन्तन आदि की क्रिया बढ़ गयी और गुहा का शब्द-भण्डार तथा बोलने का ढंग डोनाल्ड से पिछड़ गया, साथ ही उछलने, पेड़ पर चढ़ने, ऊँचाई से कूदने आदि में गुहा आगे रहा।

अतः यह निष्कर्ष निकला कि कुछ अवस्था तक गुहा ने मानव-सुलभ व्यवहारों को अपनाया, पर आगे तरक्की न की। यह निश्चय होता है कि वंशानुक्रम जीव की उन्नति की एक सीमा निर्धारित कर देता है, उसके बाद नहीं। यदि वंशानुक्रम का ऐसा प्रभाव न होता तो एक बन्दर को भी शायद ग्रेजुएट बना दिया होता। यदि गुहा को अच्छे मानव-वातावरण में नहीं रखते तो वह पूर्णतः जंगल का वन-मानुष होता।

मीमांसा—उपर्युक्त अध्ययन से यह निश्चय स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व-विकास वंशानुक्रम एवं वातावरण दोनों से प्रभावित होता है। अतः दोनों का महत्त्व समान ही है। किसी एक को महत्त्व प्रदान नहीं किया जा सकता। एक की महत्ता और दूसरे की उपेक्षा करना असम्भव है।

अध्याय १३

बाल-विकास की प्रमुख अवस्थाएँ एवं विभिन्न स्वरूप
(Main Stages & Their different Nature of Child Development)

प्रश्न ६३—बालक में मानसिक विकास की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। (उ० प्र० १९६१ व ६७)

भूमिका—जन्म लेते समय मानव केवल मन: शारीरिक प्राणी के रूप में संसार में आता है। इस विकसित होते हुए बालक का अध्ययन यदि शिक्षा मनोविज्ञान से किया जाय तो शिक्षा में अनुकूल व्यवस्था हो सकती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बाल-विकास को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है।

(१) शैशवावस्था—५ वर्ष की आयु तक।
(२) बाल्यावस्था—५ वर्ष से १२ वर्ष की आयु तक।
(३) किशोरावस्था—१२ वर्ष से १८ वर्ष की आयु तक।

प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करने से पूर्व बाल-विकास के सिद्धान्त जानना आवश्यक है। ये सिद्धान्त दो प्रकार के होते हैं :

(१) क्रमिक विकास का सिद्धान्त और
(२) सम विकास का सिद्धान्त।

क्रमिक विकास का सिद्धान्त—बालक की समस्त मानसिक क्रियाओं का विकास एक क्रम से होता है। अर्थात् जब एक मानसिक क्रियां पूर्णता को प्राप्त हो जाती है तब दूसरी क्रिया का विकास प्रारम्भ होता है, जैसे प्रत्यक्षीकरण का पूर्ण विकास हो जाने के बाद स्मृति की क्रिया विकास प्रारम्भ करती है।

सम विकास का सिद्धान्त—यह तो निश्चित ही है कि समस्त मानसिक क्रियायें बालक में जन्म से ही निहित रहती हैं, परन्तु उनके विकास या प्रकाशन में भेद अवश्य होता है। बालकों की मानसिक प्रक्रियाएँ एक क्रम में विकसित न होकर समस्त प्रक्रियाएँ एक साथ विकसित होती हैं।

शैशवावस्था की प्रमुख विशेषताएँ—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बालक की प्रथम शैशवावस्था में प्रमुख विशेषताएँ निम्न रूप में अध्ययन की जा सकती हैं :

तीव्रता—प्रायः यह देखा जाता है कि प्रथम ६ वर्ष में बालक बाद के १२ वर्ष से दूना सीख लेता है। इस अवस्था में बालक अधिक मात्रा में आवश्यक बातें सीख लेता है। साथ ही साथ सीखने की प्रक्रिया के अतिरिक्त बालक सवेदना, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, कल्पना, ध्यान आदि मानसिक प्रक्रियाओं में भी तीव्रगति से क्रियाएँ करता है। यह कहा जा सकता है कि बालक की समस्त मानसिक प्रक्रियाएँ ज्ञानार्जन हेतु पूर्ण रूप से कार्य करने लगती हैं।

काल्पनिकता—शैशवावस्था में बालक अपने वातावरण को नियन्त्रित करने में असमर्थ होता है, फलतः वह काल्पनिक जगत में विचरण करने लगता है और उसको वास्तविक जगत मानता है। मनोवैज्ञानिक जे० एस० रॉस (J. S. Ross) के मतानुसार—"कल्पना सृष्टि का नायक स्वयं बालक ही होता है और वह इस रूप में वास्तविक जीवन की कठोर वास्तविकताओं का बदला अथवा प्रतिपूर्ण प्राप्त करता है।"

भाषा का विकास—संसार में प्रविष्ट होते ही बालक रुदन प्रारम्भ कर देता है। कुछ माह बाद किलकारी मारना प्रारम्भ करता है और अनुकरण की चेष्टा से अपने से बड़ों द्वारा सुनकर कुछ निरर्थक शब्दों का उच्चारण प्रारम्भ कर देता है। तदनन्तर बड़ा होकर सार्थक शब्द भी उच्चारण करने लगता है।

व्यवहार में मूल प्रवृत्ति की अधिकता—व्यवहार में यह देखा जाता है कि बालक शैशवावस्था में खाने के अतिरिक्त जो कुछ उसके पास होता है वह भूख लगने पर मुँह में डाल लेता है। दूसरे मना करने पर या ताड़ने पर वह रोना शुरू कर देता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि बालक की मूल प्रवृत्तियों में अधिकता रहती है।

गति एवं शब्द के पुनरावर्तन की प्रवृत्ति—प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एच० आर० भाटिया के यह शब्द उचित हैं कि—"शिशुओं में समान गतियाँ एवं शब्दों के पुनरावर्तन की प्रवृत्ति होती है। जैसे—शिक्षालय में खेल खेलते समय यह देखा जाता है कि बालक गतियों का पुनरावर्तन करने में प्रसन्नता का अनुभव करता है या तीसरी कक्षा में गीत गाते समय उल्लसित होता है। खेलने और गाने में उसकी विशेष रुचि रहती है।

एकान्त में खेलने की भावना—शैशवावस्था में बालक एकान्त में खेलना अधिक पसन्द करते हैं। वे अपने खिलौनों को ही अपना साथी समझ कर पीटते, दुलराते, पुचकारते, गोद में खिलाते हैं। इस भाँति बालक एकान्त प्रिय भी होता है जैसा कि कश्यप एवं पुरी (Kahyap & Puree) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"Infancy is a period of solitary play and the infants are the self-centered to share their play things with other or to join others in play."

सीखने में अनुकरण विधि का आधिक्य—बालक अपने माता-पिता अथवा अन्य पारिवारिक सदस्यों से स्वयं उसी प्रकार का व्यवहार करना प्रारम्भ कर देता है जैसा कि वह उनको करते देखता है। उसकी इस अनुकरणात्मक व्यवहार की प्रवृत्ति में बाधा पहुँचती है तो वह रोने एवं चिल्लाने लगता है। यह सत्य है कि बालक अनुकरण द्वारा ही अपना स्वयं मानसिक विकास करता है।

काम प्रवृत्ति या प्रेम भावना—बालक में जन्म से ही काम प्रवृत्ति या प्रेम-भावना स्वार्थमयी होती है। प्रेम की शिक्षा अपने अंगों से ही प्रारम्भ होती है। हाथ-पैर का अंगूठा चूसना काम प्रवृत्ति या प्रेम भावना का ही द्योतक है। इस भावना को स्वत्व-प्रेम कहते हैं। शैशवावस्था में विकसित होने पर बालक माता से प्रेम करने लगता है और यदि बालिका होती है तो पिता से प्रेम करती है। यह प्रेम भावना इतनी प्रबल होती है कि बच्चा माता-पिता को आपस में प्रेम करने से रोकता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक रॉस (Ross) के मतानुसार—"·······उसका (शिशु का) यौनिक जीवन अपने शारीरिक एवं मानसिक पक्ष में अत्यन्त समृद्ध एवं विभिन्न है·······।"

वातावरण अनुकूल करने में असमर्थ—शारीरिक एवं मानसिक पक्ष में पूर्ण विकसित न होने के कारण बालक वातावरण को अनुकूल करने में असमर्थ होता है। यदि वातावरण में किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाता है तो यह बालक को असह्य होता है और वह रोने-चिल्लाने लगता है। असह्य का रोग के रूप में प्रकट होना भी सम्भव है।

निर्भरता की प्रवृत्ति का प्रभुत्व—व्यक्ति में निर्भरता की प्रवृत्ति सदैव पाई जाती है, परन्तु यह देखा जाता है कि शैशवावस्था में विशेष रूप से निर्भरता की प्रवृत्ति का प्रभुत्व हाता है। बालक अपनी पूर्ति बड़ों के सहारे पूरी करता है और असहाय अवस्था में दुःख का अनुभव करता है। इसके समर्थन में रॉस (Ross) महोदय ने व्यक्त किया है :

"......The young child is characterized by his attitude of dependence. It well to note that this dependence is not concerned chiefly with physical comforts, the child takes these for granted—but is manifested rather in connection with his emotional needs."

नैतिक विकास का अभाव—बालक को शैशवावस्था में उचित एवं अनुचित का ज्ञान नहीं हो पाता है। बालक इस कारण दिये की लौ भी पकड़ने का प्रयास करता है। बालक के सामने सर्प भी आकर दौड़ने लगे तो वह उसे पकड़ कर खेलने का प्रयास करता है और इस प्रकार के कामों में आनन्द प्राप्त करता है। तदनन्तर दुख का अनुभव होने पर उस कार्य को छोड़ देता है। मनोवैज्ञानिक जे० एस० रॉस

(J. S. Ross) के मतानुसार—"नैतिक विकास आगे चलकर सामाजिक वातावरण के आनन्द में दुख का कुछ-कुछ व्यवस्थित रूप से दण्ड एवं पारितोषिक देकर पुनः विकसित करता है।"

बाल्यावस्था की विशेषताएँ—शैशवावस्था की समाप्ति पर ६ वर्ष की आयु के बाद बाल्यावस्था आती है। इस अवस्था में बालक प्रौढ़ जीवन की तैयारी प्रारम्भ कर देता है। मनोवैज्ञानिक एवं मानसिक दृष्टिकोण से बाल्यावस्था में निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं :

जिज्ञासा—बाल्यावस्था में शैशवावस्था की अपेक्षा जिज्ञासा की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। बालक प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। आवश्यकता पूर्ति की दृष्टि से वह प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है।

स्थायित्व—शारीरिक एवं मानसिक विकास की गति में शैशवावस्था की अपेक्षा कुछ मन्दता आ जाती है और स्थायित्व उस स्थान की पूर्ति करता है। यही अवस्था मिथ्या परिपक्वता कहलाती है।

सामूहिकता—बाल्यावस्था में बालक समूह में रहने की प्रबल इच्छा करता है। इस उम्र के बालकों के साथ खेलने में वह सामूहिक शक्ति का अनुभव करता है। अपने व्यक्तित्व की शक्ति के अनुसार शासन करने की शिक्षा प्राप्त करता है।

व्यक्तित्व—बालक व्यक्तिगत रूप से अपने तन-मन का प्रयोग कर अपने अन्तर्मुखी व्यक्तित्व को बहिर्मुखी व्यक्तित्व में परिवर्तित करता है और कल्पनाओं का साकार रूप बनाने का प्रयास करने लगता है।

काम-प्रवृत्ति—बाल्यावस्था में बालक सुषुप्त काम-वासना के साथ-साथ पितृ भाव ग्रन्थि या मातृ भाव ग्रन्थि का भी त्याग कर देता है।

संग्रह प्रवृत्ति—विभिन्न वस्तुओं के संग्रह करने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। खाली डिब्बे, खिलौने, कांच की चूड़ियों के टुकड़े आदि के एकत्रित करने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

सामाजिकता—बालक का नैतिक एवं सामाजिक विकास बाल्यावस्था में होता है। असामाजिक तत्वों का त्याग व सामाजिक परम्पराओं का पालन करना सीखता है।

किशोरावस्था की विशेषताएँ—बालक में पुनः शैशवावस्था की सी चंचलता आ जाती है। शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन के एक दम बदले हुए रूप में बालक अपने को नई दुनिया में पाता है। इन परिवर्तनों को मनोवैज्ञानिक दो मतों में प्रकट करते हैं : (१) त्वरित विकास और (२) क्रमशः विकास।

त्वरित विकास की दृष्टि से हाल महाशय का कथन है कि—"बालक के मन और शरीर में इतने अधिक परिवर्तन हो जाते हैं कि बालक को एक नवीन जन्म सा प्रतीत होता है। उसका पहले जीवन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह छलांग मार कर आगे खड़ा हो गया है।"

क्रमश: विकास की दृष्टि से थार्नडाइक एवं किंग का कथन है कि—परिवर्तन अचानक नहीं होते जैसा कि हमें दिखाई देता है। एक ही रात में पेड़ में फल नहीं लगते। शैशव और बाल्यावस्था से प्रारम्भ होने वाले गुण ही धीरे-धीरे विकास करते हैं, क्योंकि प्रत्येक विकास के लिए समय की आवश्यकता होती है।

मानसिक परिवर्तन निम्न रूप में जाने जा सकते हैं :

कल्पना—किशोरावस्था में बालक छड़ी का घोड़ा बनाकर खेलता है। घोड़े के साथ वास्तविक का व्यवहार करता है। शिशु की कल्पना से इस अवस्था की कल्पना में अन्तर है। वह जानता है कि उसकी कल्पना वास्तविक से परे है फिर भी जीवन की असफलताओं, निराशा तथा अभावों की कठोरता का सामना करते हुए भी तृप्ति का अनुभव करता है। कल्पना में कविता-कहानी भी लिखता है, चित्रकार बनता है, डाक्टर और वकील का अनुकरण करता है। कल्पना में लगातार रहने के कारण कमजोर, व्यवहारहीन, दव्बू तथा डरपोक भी बन सकता है। जीवन बिताने के लिए अवगुणों का प्रतिकार आवश्यक है।

आत्म सम्मान—किशोरावस्था में यदि माता-पिता या बड़े भाई-बहन बालक को छोटा ही समझते हैं तो वह इसे अपने लिए पसन्द नहीं करता। दोस्तों के सामने यदि कोई, पारिवारिक सदस्य अपूर्ण या घर का नाम लेकर पुकारता है तो उसके आत्म-सम्मान को ठेस लगती है। अध्यापक बालक का अपमान करने से सुधार करने का प्रयास करता है परन्तु बालक आत्म-सम्मान की प्रतिष्ठा की रक्षा हेतु सुधरने की अपेक्षा बिगड़ जाता है और उसमें हीन-भावना उत्पन्न हो जाती है।

आदर्शहीनता—किशोरावस्था में बालक महान् व्यक्ति, गुरुजन, नेता या किसी कलाकारों में से किसी एक को अपना आदर्श मानकर उसका ही अनुकरण करने लगते हैं। शिक्षक का कर्त्तव्य होता है कि छोटे-छोटे बच्चों को उचित आदर्श के चुनने में सहयोग दें। वर्तमान काल में सिनेमा का इतना अधिक प्रचलन हो गया है कि बालक पैसे चोरी करके, कक्षा में अनुपस्थित रहकर सिनेमा देखने जाते हैं। अपने को अभिनेता की कल्पना में साकार करके छोटे-बड़ों का अनादर कर हर वक्त गाने की धुन में रंगे रहते हैं। इससे होनहार युवकों में अनेकों बुरी आदतें पड़ जाती हैं। स्कूल अथवा कालेजों में अनुशासनहीनता का होना यही एक प्रमुख कारण है। सच पूछा जाय तो बालकों का कोई आदर्श नहीं होता।

भावनाएँ—किशोरावस्था में बालक कभी निराश होता है, कभी उत्साहित, कभी उदासीन होता है और कभी गमगीन। तात्पर्य यह है कि बालक एक मिनट में सब कुछ कर लेने की कल्पना करता है।

विचरण इच्छा—किशोर बालक एक जगह बँध कर नहीं रहना चाहता। वह सदैव घूमने और नये-नये दृश्यों एवं स्थलों का अवलोकन करने की रुचि करता है। माता-पिता इस प्रबल प्रवृत्ति को दबाते हैं, फलत: बालक और भी आवारा तथा जिद्दी हो जाता है।

शैशवावस्था में बालक की शिक्षा का स्वरूप—बालक का शरीर अति कोमल होता है अतः माता-पिता को पालन-पोषण की सतर्कता रखनी चाहिए। बालक संशयात्मक प्रवृत्ति के कारण नित नई वस्तुओं की जानकारी चाहता है अतः वातावरण की अधिक-से-अधिक वस्तुओं से परिचित हो जाय। अच्छे गुण जो सुसुप्तावस्था में होते हैं उन्हें जागृत अवस्था में लाने का प्रयास करना चाहिए तथा उनकी मूल प्रवृत्तियों का दमन नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से उनका शारीरिक एवं मानसिक विकास गतिशील रहेगा। उनका वातावरण शान्त, सुन्दर एवं स्वास्थ्यवर्धक होना चाहिए। उसके साथ ऐसा व्यवहार किया जाय कि आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति को ठेस न लगे। माता-पिता अथवा अभिभावक और शिक्षकों को वह कार्य करने चाहिए जैसा कि वह बालकों से कराना चाहते हैं क्योंकि शिशुओं की अनुकरण करने की प्रवृत्ति समर्थ होती है। शिक्षा भी छोटे-छोटे कार्यों के रूप में देनी चाहिये। शिक्षक पूर्णरूप से शिशुओं का वांछित समाजीकरण करें जिससे उनमें आदर्श गुणों का समावेश हो।

बाल्यावस्था की शिक्षा पद्धति—बाल्यावस्था की शिक्षा शैशवावस्था की शिक्षा से भिन्न होती है। इस अवस्था में बालक का सुधार वास्तव में जीवन का सुधार है। शिक्षकों को निम्न रूप से शिक्षा देनी चाहिये :

बालक प्रेम और सहानुभूति में विशेष रुचि रखता है और सहानुभूति से शिक्षा दी जाय तो अधिक समय तक स्थिर रहती है, अतः बालकों के साथ प्रेम और सहानुभूति के साथ व्यवहार करें। शिक्षा में बालकों को स्वास्थ्य के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न करनी चाहिये। बालक नेतृत्व और जिज्ञासा की रुचि रखता है। विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। अतः शिक्षक का परम कर्तव्य है कि बालक में जिज्ञासा और नेतृत्व को विकसित करने वाली शिक्षा दें। आत्म संयम, स्वावलम्बन अनुशासनशीलता की शिक्षा बालक में देनी चाहिये और उन्हें अन्ध विश्वासों और पूर्व धारणाओं से बचाना चाहिये। ऐसा करने से उनका व्यक्तित्व कुण्ठित होने से बचेगा और स्वास्थ्य लाभ होगा।

किशोरावस्था की शिक्षा पद्धति—बालक अपने काल्पनिक जगत में विचरण करने लगता है। वह सत्य और कल्पना का भेद समझते हुये यथार्थ संसार की असफलता को काल्पनिक संसार में पूर्ण करता, उसका चित्रण करता और उस पर कविता व कहानी लिखने लगता है। उसकी प्रेम भावना का सम्बन्ध काम-भावना से जुड़ जाता है। फलतः लड़के व लड़कियाँ एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। उनकी शिक्षा के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :

शारीरिक विकास—बालक का प्रत्येक अंग प्रौढ़ता को प्राप्त करता है, वह किसी भी मार्ग की तरफ भटक सकता है। अतः शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि उनको

पूर्ण एवं उपयुक्त विकास के लिए शिक्षा प्रदान की जाय। उनमें मन और शरीर को सुदृढ़ बनाने वाली आदतें डाली जाय।

संवेगात्मकता—बालकों के संवेगों पर ध्यान न देने से वह भविष्य में संवेगशील हो जाते हैं। उनका व्यवहार असह्य हो जाता है और बर्दाश्त न होने पर बालकों में हीन भावना उत्पन्न हो जाती है अतः बालकों को संवेगों को उचित काल में प्रयोग करने की शिक्षा दी जाय।

जीविकोपार्जन की शिक्षा—भविष्य में जीवन व्यतीत करने के लिए और जीवन निर्वाह करने की शिक्षा बालक इसी अवस्था में प्राप्त करता है। बालक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर व्यवसाय और शैक्षिक पथ-प्रदर्शन सम्बन्धी शिक्षा देनी चाहिये। यदि जीविकोपार्जन के लिए शिक्षा न दी गयी तो शिक्षा का मूल्य ही नहीं।

यौन शिक्षा—लड़के एवं लड़कियाँ एक दूसरे के प्रति आकर्षित होने लगते हैं अतः उनको यौन सम्बन्धित ज्ञान प्रदान करना आवश्यक है। भारत में प्रायः यौन शिक्षा नहीं दी जाती अतः मनुष्यों का व्यक्तित्व अच्छा नहीं रहता।

मानवीयता की शिक्षा—बालकों को महान् पुरुषों के जीवन चरित्र के आधार पर मानवता तथा चरित्र निर्माण की शिक्षा देनी चाहिये। फलतः उनका जीवन लक्ष्य मानवता की रक्षा करना हो।

मीमांसा—प्रत्येक बालक की शिक्षा का प्रबन्ध राष्ट्र हित के लिए आवश्यक है। बालक की प्रवृत्तियों का उचित विश्लेषण कर यदि वास्तविक शिक्षा दी जाय तो उसका समुचित विकास हो। राष्ट्र का कल्याण बालकों के व्यक्तित्व पर ही निर्भर रहता है। राष्ट्र के भावी नागरिक यही बालक बनते हैं अतः उनकी शिक्षा, उनका मनोबल सदैव उच्च बनाने का प्रयास करना चाहिये।

प्रश्न ६६—बालक में बौद्धिक विकास एवं संवेगात्मक विकास किस प्रकार होता है? संक्षेप में समझाइए। (उ० प्र० १९६६, ६७)

भूमिका—जन्म से बालक के शरीर का आकार होता है परन्तु मस्तिष्क की अवस्था शून्य होती है। तदनन्तर मस्तिष्क का सम्बन्ध शारीरिक विकास और नियन्त्रण के साथ मानसिक नियन्त्रण होता है। बालक के बढ़ने के साथ बौद्धिक विकास भी होता है। इसका विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूप है।

शैशवावस्था का मानसिक विकास—बालक प्रथम कुछ दिनों तक केवल सर्दी, गर्मी, भूख और पीड़ा का ही अनुभव करता है। एक माह के पश्चात् रोशनी और ध्वनि का आभास हो जाता है। माँ की ओर लालायित होने लगता है। दो-तीन माह की अवस्था में गर्दन घुमाने लगता है और मल-मूत्र के त्याग करने के बाद रोता है। चौथे माह में हाथों का प्रयोग भी करने लगता है। हाथ-पैर का चलाना और पैरों को मुँह की तरफ लाकर चूसना इसी माह में शुरू करता है। हाथ से

किसी वस्तु को पकड़ कर मुँह में रखना उसका लक्ष्य होता है। आठ माह की आयु तक बैठने, खिसकने और बोलने का प्रयत्न करने लगता है। एक वर्ष पूरा होने तक वह साधारण शब्दों में मामा, चाचा, अम्मा, पापा, दादा, आदि शब्द बोलने लगता है। भाषा विशेष का ज्ञान दो वर्ष की आयु में होता है। दूसरों की बात समझने और छोटे-छोटे वाक्यों में अपनी बात कहने का ज्ञान हो जाता है। तीन वर्ष की आयु होने तक इन्द्रियों का ज्ञान, मल-मूत्र त्याग करने की इच्छा प्रकट करने का बोध हो जाता है। शरीर के भागों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। चौथे वर्ष में तो प्रश्नों का उत्तर देने की क्षमता आ जाती है तथा ५ वर्ष की आयु में वस्तुओं के नाम लेकर पहचानना और अन्य बालकों के नाम लेकर बुलाना आ जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का सम्बन्ध भी उसको ज्ञात हो जाता है।

बाल्यावस्था का मानसिक विकास—बालक की स्मृति शक्ति बढ़ जाती है, वह ६ वर्ष की आयु में गिनती गिनना और अक्षरों को पहचानने लगता है। सातवीं वर्ष में वस्तुओं में भेद और समानता करने लगता है। चित्र बनाने, अक्षरों को मिलाकर पढ़ने, जोड़ने तथा घटाने लगता है। पहाड़ों को याद कर लेता है संख्या का गुणा सीख लेता है। आठवी व नवीं वर्ष में बातें करना, बताये कार्य करना, कहानी दोहराना तथा किसी बात का निर्माण करना प्रारम्भ कर देता है। बारह वर्ष की आयु तक अपने शरीर की रक्षा करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है तथा राष्ट्र व विश्व की अनेकों वस्तुओं का बोध प्राप्त कर लेता है।

किशोरावस्था का मानसिक विकास—बालक जिज्ञासा प्रकट करता है, उसमें संवेगों के प्रयोग करने की इच्छा प्रबल हो जाती है तथा, तर्क चिन्तन, स्मरण आदि शक्ति प्रबल हो जाती है। लौकिक ज्ञान में अधिक वृद्धि होती है। सामाजिक, पारिवारिक कार्यों में रुचि उत्पन्न होती है। अपने भविष्य का निर्माण करने के लिए समस्त कार्यों के करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। यदि असफलता रहती है तो एक ही कि उनमें विचारों की शृंखला जोड़ने की या पूर्णता प्राप्त करने की कमी रहती है।

संवेगात्मक विकास—संवेग शब्द का अर्थ चला देना या क्रियान्वित कर देना है। इसके स्वरूप को प्रसिद्ध विद्वान पी० टी० यंग (P. T. Young) ने अपने शब्दों में व्यक्त किया है :

"Emotion is an acute disterbence of the individual as a whole psychological in origin, involxing in behaviour, concious experiences and visceral functioning."

अर्थात्—"संवेग की अवस्था में व्यक्ति के व्यवहार में तीव्र क्षुब्धता उत्पन्न हो जाती है, जिसका प्रभाव उस व्यक्ति पर पूर्णरूप से पड़ता है। उसकी उत्पत्ति मानसिक होती है तथा इसके फलस्वरूप व्यवहार, चेतन अनुभूति तथा अन्तःकरण सम्बन्धी होती है।"

मानव में जन्म से रहने वाला संवेग शैशवास्था से लेकर किशोरावस्था तक ही विकसित होता है। तत्पश्चात् संवेगों में उदासीनता आ जाती है। संवेग यदि अनुचित मार्ग में हो तो वह जीवन भर भार बन जाते हैं। अतः बालक का उचित विकास संवेगों की दिशा पर ही निर्भर है।

शैशवावस्था में संवेगात्मक विकास—इस अवस्था में सभी संवेग क्रियाशील नहीं होते। बच्चे में प्रेम, क्रोध, भय क्रमशः विकसित होते हैं। प्रसिद्ध व्यवहारवादी वी० वाटसन (V. Watson) ने शैशवावस्था में केवल तीन संवेग—प्रेम, क्रोध और भय ही प्रदर्शित होते बताये हैं। इसके विपरीत गोट्स एवं अन्य विद्वानों का कथन है :

"All the beginning, emotional reactions appear more in the form of general excitement than in the form of clear cut expressions of anger, fear, joy or other states."

यह निश्चित है कि तीनों संवेगों, प्रेम, क्रोध एवं भय को यदि पूर्णरूपेण विकसित न किया जाय तो बालक का व्यक्तित्व विच्छिन्न हो जायगा और उसमें किसी एक संवेग के प्रति अत्यधिक आकर्षण होगा।

बाल्यावस्था में संवेगात्मक विकास—प्रेम, क्रोध, भय की वृद्धि होती है और घृणा, ईर्ष्या आदि का विकास प्रारम्भ हो जाता है। बालक एक दूसरे से साथ-साथ खेलते समय ईर्ष्या करने लगते हैं। वह घृणा के रूप में वस्तुओं को खाने-पीने या खेलने में व्यक्त करते हैं। घृणा और ईर्ष्या का संवेग यदि छोटे भाई-बहिनों के प्रति बढ़ जाय तो बालक का जीवन स्नायु विकृत हो जाता है। अतः वांछित संवेगों का रोकना और उपयुक्त संवेगों का विकसित होना अनिवार्य है।

किशोरावस्था में संवेगात्मक विकास—इस अवस्था में समस्त संवेग पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं। विषय-लिंग, प्रेम-भावना भी जागृत हो जाती है। शासन करने की प्रवृत्ति, आत्म अभिमान तथा चिन्तन एवं तर्क भी संवेगशील हो जाते हैं। अतः संवेगों का प्रशिक्षण परमावश्यक है।

मीमांसा—बालक की उपयुक्त अवस्थाओं में बौद्धिक विकास और संवेगात्मक विकास का अध्ययन करने से यह निश्चित ज्ञान हो जाता है कि बालक को किस विधि से शिक्षा दी जाय कि वह आदर्श नागरिक बने। संवेगों का प्रशिक्षण दमन, शोधन, रेचन आदि प्रमुख विधियों के अन्तर्गत होना चाहिएं।

अध्याय १४

बालकों के दोष तथा अपराध

(Children Faults & Delinquency)

✓प्रश्न ६७—बालकों की अपराध प्रवृत्ति के उपचार तथा कारणों की विवेचना कीजिये। (उ० प्र० १९४०, ४७, ५० व ५९)

भूमिका—पहले यह अध्ययन किया जा चुका है कि प्रत्येक मनुष्य की कुछ मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं। जीवन को उचित ढंग से व्यतीत करने के लिए इनकी सन्तुष्टि होना अति आवश्यक है। इसमें जब रुकावट पड़ जाती है तो बालक अपराध कर बैठता है। बालक को यदि माता-पिता खिलौने व अन्य वस्तुएँ जिसको लेने की बालक की इच्छा हो, नहीं ले कर देंगे तो स्वाभाविक ही है कि बालक दूसरों के खिलौने चोरी करके अपनी इच्छा की सन्तुष्टि करेगा। कभी-कभी बालक की दबी हुई इच्छाएँ भी उसके अपराध करने की प्रवृत्ति को प्रेरणा प्रदान करती हैं। अच्छे घरों के बालक भी बुरी सीमा में रहने के कारण बुरी आदतें व अपराध करना सीख लेते हैं।

बालकों के अपराधों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के उपरान्त ज्ञात होता है कि इन अपराधों के करने के निम्न कई कारण हैं:

(१) वातावरण का प्रभाव।
(२) शारीरिक विकार।
(३) मानसिक विकास की कमी।
(४) दबी हुई इच्छाएँ।

वातावरण का प्रभाव—बालक के मानसिक विकास पर वातावरण का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। अच्छी बुद्धि वाले बालक भी खराब वातावरण के कारण बुरी आदतें सीख लेते हैं।

माता-पिता की निर्धनता भी कभी-कभी बालकों में दोष उत्पन्न करने का कारण बन जाती है। माता-पिता निर्धन होने के कारण अपने बालकों की खिलौने, मिठाई व अच्छे कपड़ों की सन्तुष्टि नहीं कर सकते तो दूसरे बालकों के पास इन

वस्तुओं को देखकर और अपनी असमर्थता को समझकर चोरी करके व अन्य साधनों द्वारा इनकी पूर्ति करता है। गरीबी के कारण घर पर बालक के खेलने के लिए जगह न होने पर दिन भर गलियों में खेलते रहते हैं और कई प्रकार की बुरी आदतें सीखते हैं।

माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्धों का सन्तान पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ—घर में माता-पिता सदैव लड़ते-झगड़ते रहते हों या पृथक्-पृथक् रहते हों, तो बालक भी ऐसी ही बातें सीखेंगे और अपराध करने की प्रेरणा पायेंगे। यदि माता-पिता स्वयं अपराधी हों, तो उनके बालकों का अपराध सीखना बहुत कुछ स्वाभाविक है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि घर में उचित नियन्त्रण व अनुशासन की कमी भी बालकों को अपराध करने के लिए प्रोत्साहित करती है।

बालक के जीवन पर घर का वातावरण जो प्रभाव डालता है वही घर के बाहर, जैसे स्कूल के वातावरण का भी प्रभाव होता है। अच्छे घरों के बालक स्कूल में बुरी संगत में पड़कर बिगड़ते जाते हैं। चोरी करना, झूठ बोलना, लड़ाई-झगड़ा करना तो अधिकांश बालक सीख लेते हैं।

बालक के पास यदि अधिक समय खाली हुआ तो वह निश्चित ही अपराध करना सीखेगा। क्योंकि कहावत है कि खाली दिमाग शैतान का घर होता है। माता-पिता को देखना चाहिए कि बालक खाली समय में क्या करता है। यदि उसके पास करने योग्य कार्य की कमी हो तो माता-पिता को बालक के लिए मनोरंजन-खेल आदि खरीद देने चाहिए। यह अपराध-प्रवृत्ति को निर्बल बनाने की ओर प्रथम प्रयास होगा। घर पर प्यार न मिलने पर बालकमें मानसिक व शारीरिक कई प्रकार के अवरोध उत्पन्न हो जाते हैं जो विकास में बाधक होते हैं। वातावरण को निरन्तर देखते रहना तथा उसे नियन्त्रित करना प्रत्येक अभिभावक अथवा माता-पिता का परम कर्तव्य है।

शारीरिक विकास का अभाव—बालक के शारीरिक विकार भी उसको अपराध करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। उदाहरणार्थ—बालक लंगड़ा हो या उसमें कोई अन्य ऐसा ही विकार हो, तो प्रायः अपने साथियों के उत्साह के कारण उसके मन में आत्माहीनता की भावना पैदा हो जाती है। इस भावना से प्रेरित होकर वह कभी-कभी ऐसे कार्य कर बैठता है जो अनुचित कहलाते हैं। उदाहरणार्थ—वह समाज से प्रतिकार लेना चाहता है। कभी-कभी वह हीन-भावना उसको बहुत बड़ा आदमी बना देती है। सुप्रसिद्ध नाटककार बर्नार्ड शा का कथन था कि—"उनके जीवन को बड़ा बनाने का बचपन में गणित में कमजोर होने के कारण पैदा हुई हीन-भावना का भी बड़ा हाथ है।"

मानसिक विकास का अभाव—साधारण बालकों के अतिरिक्त कुछ असाधारण बालक भी उत्कृष्ट बुद्धि या मन्द बुद्धि के हो सकते है। बुद्धि का मन्द होना बालकों को अपराध करने की प्रेरणा देता है। रिफारमेटरी के निर्णयानुसार यह निश्चित

किया जा सकता है कि अपराध करने वाले अधिकांश बालक मन्द बुद्धि के ही होते हैं। इस विषय के सम्बन्ध में सिरिलवर्ट महोदय का कथन है :

"मन्द बुद्धि बालकों के मस्तिष्क में ज्ञान अथवा कुशलता की पूरी मात्रा भर देने का प्रयास करना उतना ही मूर्खतापूर्ण होगा जितना आठ औंस की बोतल में बारह औंस दवा भरने की कोशिश करना।"

किसी विशेष विषय में असफल बालक ही शिक्षालय से नहीं भागते या मार पिटाई करते हैं बल्कि तीव्र या उत्कृष्ट बालक भी माता-पिता को धोखा देने के लिए अपराध कर बैठते हैं।

भावना ग्रंथियाँ—अतृप्त इच्छाएँ अचेतन मन में जाकर ग्रंथियाँ अपना रूप साधारण कर लेती हैं। इन ग्रंथियों के प्रतिक्रियास्वरूप कोई न कोई बुरी आदत बालक में पड़ जाती है क्योंकि भावना ग्रंथि बालक के व्यवहार को किसी विशेष दिशा में अवश्यमेव प्रवाहित करती है।

भावना ग्रन्थियाँ बालक के मन में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न कर देती हैं। बच्चा किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है, उसे पाने के लिए चोरी करते समय पकड़े जाने का या अपमानित होने का भय बना रहता है। ये दोनों बातें उसके मन में द्वन्द्व उत्पन्न कर देती हैं। बालकों की अनेकों मानसिक शक्तियाँ इसी द्वन्द्व में नष्ट हो जाती हैं।

मीमांसा—बालकों के दोष एवं अपराध दूर करने के लिए माता-पिता या अभिभावकों और शिक्षकों को इन दोषों के कारणों का निर्णय करना चाहिए। इन कारणों को दूर करना ही देश हित में एक मात्र उत्तम उपाय है।

प्रश्न ६८—शिक्षा की सबसे बड़ी समस्या 'समस्या बालक' है। स्पष्ट कीजिए।
(उ० प्र० १९४४)

भूमिका—जब बालकों की प्रवृत्तियों का निरन्तर दमन होता रहता है और उनका उचित रूप से प्रकाशन नहीं हो पाता है, तो यह भावना ग्रन्थि का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार की ग्रन्थियाँ अचेतन मन में अप्रत्यक्ष रूप से अपना कार्य करती रहती हैं और बालक के चरित्र को विकृत बना देती हैं। बालकों को दोष व अपराध करने को प्रेरित करती हैं। यही एक समस्या है।

शिक्षा के लिए मन्द बुद्धि और उत्कृष्ट बुद्धि बालक दोनों ही समस्या बन जाते हैं। समस्या के दूर करने से पहले हमें यह निर्णय अवश्य करना चाहिए कि यह समस्या क्या हैं ? समस्या के दो भेद हैं : (१) मन्द बुद्धि बालक और (२) उत्कृष्ट बुद्धि बालक।

मन्द बुद्धि बालक भी दो प्रकार के होते हैं—पहले तो वह जो बिल्कुल ही बुद्धि-हीन होते हैं, जिन्हें कुछ भी नहीं समझाया जा सकता है। इन बालकों के लिये रंगों या फूलों तक की पहचान करना कठिन हो जाता है। दूसरे प्रकार के बालक वह होते हैं जो साधारण बुद्धि के बालकों से हीन होते हुए भी सुधारे जाने योग्य नहीं होते हैं।

शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि बुद्धि परीक्षण द्वारा बालक का बौद्धिक स्तर निर्धारित कर लें। कभी-कभी वातावरण की खराबी, घर की गरीबी या बालक की शारीरिक अथवा मानसिक बीमारी भी उसे मन्द बुद्धि का बना देती है। यदि बालक की बुद्धि मन्द होने का कोई कारण है, तो कारण को दूर कर देने से बालक बौद्धिक प्रगति कर सकता है।

शिक्षा की सबसे महान् समस्या मन्द बुद्धि बालक है जिनकी संख्या अधिक होती है। प्रायः १० से १२ प्रतिशत मन्द बुद्धि बालक भारत में पाये जाते हैं। ऐसे बालकों को साधारण बुद्धि वाले बालकों के साथ शिक्षा न देकर पृथक् व्यवस्था करनी चाहिए। उनकी प्रगति की गति अति मन्द होती है। परीक्षा में सफल न होने से उनमें आत्महीनता की ग्रन्थि पड़ जाती है। फलतः साधारण बालकों के कार्य में भी बाधा उपस्थित होती है।

समस्या का हल निकालने की दृष्टि से अपने देश भारत में उन बालकों के लिए जो गणित तथा तर्क की सूक्ष्म बौद्धिक बातें नहीं सीख पाते, हस्तकला के शिक्षा-केन्द्र खोल दिये गये हैं।

शिक्षा में दूसरे प्रकार की समस्या—बालक वह है जो तीव्र बुद्धि का प्रदर्शन करे। ऐसे बालक अत्यन्त शरारती और चलते पुर्जे होते हैं। साधारण बालकों के साथ शिक्षा प्राप्त करते समय वे अपना पाठ अध्ययन कर लेते हैं और शेष समय वे शरारतें करने में नष्ट करते हैं। शिक्षक बार-बार एक ही पाठ को पढ़ाता है, तो उनका मन उकता जाता है। अतः किसी विशेष विषय में कोई योग्यता रखने वाले बालक को उस विषय के अध्ययन के लिए पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होना चाहिए। उदाहरणार्थ—ड्राइंग करने का शौक रखने वाला बालक जब शिक्षक कक्षा में गणित का प्रश्न हल करा रहे हों, तो चित्रकारी करता हुआ पाया जाता है। ऐसे बालक को अन्य विषयों के साथ-साथ चित्रकारी की विशेष शिक्षा देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

कुछ व्यक्तियों का मत है कि जो बालक उत्कृष्ट हों उनको एक वर्ष में दो श्रेणियों में उत्तीर्ण कर देना चाहिए, परन्तु यह सुझाव भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अगली श्रेणी में भी उन्हें साधारण बालकों के साथ बैठना होगा और पुनः वही समस्या खड़ी हो सकती है।

मीमांसा—उपरोक्त अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि विलियम स्टर्न (Willium Sturn) के शब्द उचित एवं स्पष्ट हैं:

उत्कृष्ट बुद्धि वाले बालकों के लिए विशिष्ट कक्षाएँ स्थापित करनी चाहिए। ऐसी कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या बहुत ही कम होनी चाहिए, जिससे अध्यापक बालकों का अधिकाधिक व्यक्तिगत ध्यान रख सकें।

प्रश्न ६९—कक्षा में बालकों के पिछड़ने के विभिन्न कारणों की विवेचना करो। ऐसे बालकों के सुधार के लिए शिक्षक को क्या करना चाहिए?

भूमिका—शिक्षक कक्षा में एक साथ ३०-४० बालकों को प्रशिक्षण देता है। परन्तु सभी बालक समान नहीं होते। कुछ मन्द बुद्धि बालक होते हैं। उनका मन्द बुद्धि होना कई कारणों से होता है। सर्वप्रथम बालक में कोई शारीरिक दोष हो या बुद्धि की कमी अर्थात् मानसिक दोष हो। इस प्रश्न में इन कारणों की विवेचना एवं उनका निराकरण का विश्लेषण करना है।

कक्षा में पिछड़ने के शारीरिक कारण निम्न हैं :

(१) आँख से स्पष्ट दिखाई न देना।
(२) कान से साफ-साफ सुनाई न देना।
(३) बोलते समय तुतलाना।
(४) हाथ-पैर में कम्पन या कमजोरी होना।
(५) अधिक समय तक बीमार रहना।
(६) दिमाग से चिड़चिड़ा होना।

निराकरण—आँख, कान की बीमारियों का इलाज हो जाने के उपरान्त बालक सरलता से सुन व देख सकता है। तुतलाना भी बड़ा होने पर कम हो जाता है और आपरेशन कराने से ठीक हो जाता है। अतः इसका भी उपचार किया जाना चाहिए। हाथ-पैर में कम्पन की बीमारी का भी उचित उपचार हो जाता है। दिमाग में चिड़चिड़ापन भी इलाज के लायक बीमारी है। यदि इन बीमारियों या कमजोरियों का उचित उपचार हो जाय तो बालक पिछड़ने के दोष से मुक्त हो सकता है। माता-पिता अथवा अभिभावक का कर्तव्य है कि बालक की शिक्षा की दृष्टि से उसका शरीर स्वस्थ रखने का प्रयत्न करें।

मानसिक कारण—बालकों में बुद्धि की कमी एक प्रकार की नहीं होती। कुछ बालक किसी-किसी विषय में कमजोर होते हैं जैसे गणित, अंग्रेजी या इतिहास। अन्य दूसरे विषयों में वह तीव्र बुद्धि का प्रदर्शन करते हैं। मानसिक क्लेश या गहन दुख के कारण भी बालक का मन पढ़ने में नहीं लगता।

निराकरण—यदि बालक समस्त विषयों में समान रूप से मन्द बुद्धि है तो उनकी बुद्धि-परीक्षा करके अलग से विभिन्न पाठ्यक्रम के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। इन कक्षाओं में अपेक्षाकृत तीव्रता से सीखते हैं। यह विशेष ध्यान रखना आवश्यक है कि उनके स्वाभिमान पर ठेस न लगे।

यदि बालक किसी एक या दो विषय में मन्द बुद्धि हो, तो उसके इच्छित विषय में ही शिक्षा देनी चाहिए। पाठ्यक्रम में इस प्रकार की व्यवस्था हो कि वह विषय अधिक पढ़ाया जा सके और अन्य विषय कम। फलतः बालक मन लगाकर पढ़ेगा और तीव्रता से शिक्षा प्राप्त करेगा।

मन्द बुद्धि बालक का तिरस्कार नहीं करना चाहिए बल्कि उसकी कमजोरी का ध्यान करके प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। कभी-कभी परिस्थिति विशेष के

कारण बालक का ध्यान पढ़ाई में नहीं होता अतः माता-पिता अथवा अभिभावक और शिक्षक को चाहिए कि उस परिस्थिति को दूर करें।

बालक बुरी संगत में पड़ कर कुछ अनुचित आदतें सीख लेता है और उसका ध्यान पढ़ने से हट जाता है। अतः बालकों की संगति में सुधार करते रहना आवश्यक है।

मीमांसा—कक्षा में पिछड़ने वाले बालक की ओर माता-पिता अथवा शिक्षक उचित रूप से ध्यान दें और उसकी समस्याओं का चाहे वह शारीरिक हों अथवा मानसिक निराकरण कर दें तो बालक तीव्र बुद्धि वालों की श्रेणी में नहीं तो साधारण बुद्धि वाले बालकों की श्रेणी में अवश्य गिना जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाय।

प्रश्न ७०—निम्नलिखित प्रकार के बालकों की शिक्षा व उनकी समस्याओं का निदान किस प्रकार करोगे :

(१) पढ़ाई में ध्यान न देने वाला बालक, (२) भीरू बालक, (३) उद्धत बालक, (४) विरुद्ध निर्देशित बालक, (५) बौद्धिक समस्या वाला बालक, (६) जिद्दी बालक, (७) अधूरा काम करने वाला बालक।

भूमिका—बालक विभिन्न प्रकार के अपराध करता है। यदि बालकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके उन अपराधों की प्रवृत्ति को रोका जाय तो काफी हद तक सफलता प्राप्त हो सकती है। माता-पिता या शिक्षक की योग्यता इसी में है कि वह यह समझ सके कि बालक पर किस हद तक विश्वास करें और उसकी प्रवृत्तियों का समाधान कर समस्या का हल निकालें। यहाँ कुछ समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं :

पढ़ाई में ध्यान न देने वाला बालक—प्रत्येक कक्षा में ऐसे बालक होते हैं जो पढ़ाई की ओर ध्यान नहीं देते। वे शिक्षक के पढ़ाते समय इधर-उधर की सोचते रहते हैं। फलतः कक्षा में पिछड़ जाते हैं। ध्यान न देने के अनेक कारण हो सकते हैं परन्तु उन सब का प्रतिफल यही होता है कि बालक शिक्षक की पढ़ाई की ओर ध्यान नहीं दे पाता।

कुछ बालक स्वयं नेता बन कर अपनी कल्पना में विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ सोचते और उन्हीं में मगन रहते हैं। इसमें जो आनन्द वे प्राप्त करते हैं वह अन्य कार्यों में नहीं। शिक्षक की बतायी बातों में उनका ध्यान नहीं रहता। इस प्रकार के बालकों के लिए सर्वश्रेष्ठ उपयोगी विधि यह है कि उनको किसी प्रयोगात्मक कार्य में लगा दिया जाय।

यदि बालक में बोलने या अपने भाव प्रकट करने की कला विद्यमान है तो यह आवश्यक है कि उसे कक्षा में भाषण देने और किसी विषय पर या अपने ही साथियों की प्रशंसा करने का कक्षा में अवसर प्रदान किया जाय। अन्य कार्यों की अपेक्षा उसकी रुचि के ही कार्य उससे कराये जायँ।

पढ़ाई में ध्यान न देने वाले बालक को पिछला पाठ याद न होगा तो नवीन पाठ किस प्रकार समझेगा। वह बैठा-बैठा और दूर की सोचने लगेगा। समय व्यर्थ नष्ट होगा। अतः इस प्रकार के बालकों के लिए उचित यह है कि उनसे अधिकांश वैयक्तिक कार्य कराये जायं। इस भाँति से वह पढ़ाई की ओर ध्यान देने लगेगा।

(२) भीरु बालक—काम करते समय शरमाना या प्रयत्न करते समय डरना जिन बालकों की आदत होती है उनमें सबसे बड़ी कमी आत्म विश्वास का न होना है। क्योंकि उन्हें सदैव अपने कार्य की आलोचना करे जाने का या डांटे जाने का भय बना रहता है। इस प्रकार के भीरु बालक भी पढ़ाई की ओर ध्यान नहीं लगा पाते। वह अपने सोच-विचार में मगन रहते हैं। उनका आत्म-सम्मान नष्ट हो जाता है।

शिक्षकों का कर्तव्य है कि इस प्रकार के भीरु बालकों के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करें। कक्षा के कार्यों में उनकी सहायता लेने से उनका आत्म सम्मान बढ़ता है। गलत उत्तर देने पर उनको तिरस्कृत न किया जाय तो उन्हें विश्वास उत्पन्न होगा। उनको साहस के साथ काम करने का अभ्यास कराना चाहिए। यह प्रवृत्ति तुलनात्मक दृष्टि से बुरी नहीं क्योंकि बालक जिस व्यक्ति का आदर करता है उसका अनुसरण करने की प्रवृत्ति होती है।

(३) उद्धत बालक—जो बालक घर या स्कूल में अकड़ते रहते है और अपनी बात बलपूर्वक चलाते हैं, बड़ों की बात नहीं मानते और प्रत्येक बात में उत्सुकता प्रदर्शित करते हैं उनका सुधारना अन्य बालकों की अपेक्षा सरल है।

बड़ों के द्वारा दूसरे बालकों की प्रशंसा करना इनके लिए अपनी बुराई के समान होती है। वह बालक किसी का कहना नहीं मानते हैं और इनसे सब परेशान रहते हैं। फिर भी इस प्रकार की प्रवृत्ति वाले बालकों को मारने. डराने या धमकाने से काम नहीं बनता। मारने से बालक चुप हो जाता है। मन ही मन घुटता रहता है और समय आने पर उबल पड़ता है और खुलकर विरोध करने लगेगा।

सुधारने के लिए बालक को काम करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। उसके उद्धत मन को बढ़ावा न देकर उपेक्षा करनी चाहिये ताकि वह यह अनुभव करे कि उसके क्रोध या आक्रोश का बड़ों पर कुछ प्रभाव नहीं तो वह उद्धत प्रवृत्ति का स्वतः ही त्याग कर देगा। उसे हर समय काम में लगाये रखना चाहिए। काम भी उसकी रुचि के अनुसार हो। स्वतन्त्रता और रुचिपूर्ण कार्य के मिल जाने से उद्धत बालक सरलता से सुधर जाते हैं।

(४) विरुद्ध निर्देशित बालक—इस प्रवृत्ति के बालकों की अपने साथियों से तो पटती नहीं फिर भी वे समाज के उपयोगी अंग बनने की कल्पना करते हैं। जिन कामों में दूसरों की रुचि होती है उसमें वह अरुचि प्रकट करते हैं। ऐसे बालकों में शक्ति की प्रचुरता होती है और नवीन विचार की देन होती है। इस आदत के बालक की उनकी आलोचना न करने वाले बालकों से मित्रता होती है।

विरुद्ध निर्देशित प्रवृत्ति वाले बालक को सुधारने की विधि में कुछ योग्यता की आवश्यकता है। यदि इस प्रकार के बालक को उत्तरदायित्व का कार्य सौंपा जाय तो लड़ने को तैयार होगा और यदि न दिया तो दूसरों के दोष निकालेगा। इन बालकों का विरोध न करके उनके विचारों को एक विधि से जांचने का अवसर मिलना चाहिए ताकि उन्हें अपने विचारों से उत्पन्न भ्रांति का पता लगे। जांच भी उसी बालक द्वारा निर्देशित हो तो अवश्य उस बालक की विरुद्ध निर्देशित प्रवृत्ति का ह्रास होगा।

(५) बौद्धिक समस्या वाले बालक—बुद्धि की दृष्टि से सामान्य अथवा तीव्र होने वाले बालक जिनका मन पढ़ने में नलगे आलसी दिखायी पड़ते हैं। एक आध विषय में जिनका मन न लगे और शेष अन्य विषयों में तीव्र बुद्धि प्रदर्शित करें, वे प्रयत्न करने पर भी पढ़ने में ध्यान नहीं देते।

बौद्धिक समस्या वाले बालक भी शिक्षक के लिए समस्या बन जाते हैं। स्कूल में शिक्षक साधारण रूप से सामान्य बालकों की ओर ध्यान देते हैं, वे तीव्र बुद्धि या मन्द बुद्धि वाले बालकों की उपेक्षा कर देते हैं। इस अवस्था में बालक पढ़ाई की ओर ध्यान न देकर दूसरों को तंग करने, लड़ाई-झगड़ा करने, गाली देने वाले बन जाते हैं।

तीव्र बुद्धि बालक की योग्यतानुसार काम दिया जावे तो वह काम को चुनौती मान कर उस पर विजय पाने का प्रयास करता है। वह काम से हारता नहीं। इसमें उसके आत्म सम्मान को ठेस लगती है तो वह काम को कर लेगा।

यदि एक विषय में वह कमजोर है तो उसे कक्षा में आगे चढ़ा देना चाहिए। जिस विषय में कमजोर है और जितना कमजोर है उतना ही नीचे की कक्षा स्तर का उसे काम दिया जाय। धीरे-धीरे प्रयास करने पर वह उसमें सफलता प्राप्त कर लेगा और समस्त विषयों में समान स्तर पर कार्य करने लगेगा।

(६) जिद्दी बालक—संवेगात्मक दोष वाले बालक जिद्दी होते हैं। यदि उनके साथ उचित व्यवहार किया जावे तो सरलता से सुधर सकते हैं। जिद्दी बालक बड़ों की अवज्ञा करके अपनी शक्ति का परिचय देते हैं और जिद् में ही अपने अहम् को प्रदर्शित करते हैं। यदि जिद्दी बालक को उचित और श्रेष्ठ साधन प्रदान कर अहम् को प्रदर्शित करने का अवसर मिले तो वह जिद् को छोड़ देता है।

अनेकों बालकों को बात काटने में अभिमान का अनुभव होता है। यदि उसकी बातों को काटते हुए भी मान लिया जाय तो उनके विरोध करते हुए भी उन्हें विरोध में चोट नहीं लगेगी और वह विरोध करने का त्याग कर देंगे।

इसी प्रकार बालकों में हिचकिचाहट होती है। सजा देने से बालक का स्वभाव उल्टा हो जाता है। सब्र के साथ उसकी गलती का कारण ज्ञात करना चाहिए और कारण को दूर करने का प्रयास करने से जीवन में उनकी हिचकिचाहट दूर हो जाती है।

(७) अधूरा काम छोड़ने वाला बालक—जिन बालकों का मन एक कार्य में नहीं लगता वह प्रत्येक काम को अधूरा छोड़ देते हैं। उनकी इच्छा होती है कि काम को प्रारम्भ करने के साथ ही समाप्त कर लें। यदि अधिक समय तक उस कार्य को करना पड़ा तो उसे छोड़कर दूसरा काम प्रारम्भ कर देंगे और पहले काम को अधूरा छोड़ देंगे क्योंकि उनकी रुचि अधिक समय तक नहीं रहती। इस प्रवृत्ति के बालक किसी काम को भी पूरा नहीं कर पाते हैं।

इन बालकों का कार्य संवेगात्मक प्रवाह में होता है। प्रवाह के मन्द होते-होते रुचि भी समाप्त हो जाती है और कार्य अधूरा रह जाता है। काम को पूरा करने की उन बालकों में न सहनशीलता होती है न कार्य-शक्ति।

शिक्षक बालक को कार्य में लगाने की योग्यता रखे ताकि वह बालक का वैयक्तिक अनुभव कर सके जो विकास के लिए अति आवश्यक है। एक विषय में अधिक समय तक लगाना अनुचित है। बालक की क्षमता के अनुसार विषय में लगाया जाय और विषय बदलते समय उसे आराम का अनुभव हो क्योंकि अधूरा काम छोड़ने वाले बालकों को इसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। कठिन विषयों को धीरे-धीरे व उदाहरण के सहित प्रशिक्षित कराना चाहिए। शिक्षक का कर्तव्य है कि चित्रों, उदाहरण आदि के द्वारा विषय को बालकों की स्मृति में स्थायी बनाये।

प्रश्न ७१—व्यक्तिगत भेद से आप क्या समझते हैं? इसके क्या कारण हैं?
(उ० प्र० १९४२, ५३ व ५७)

भूमिका—मानव समाज में व्यक्तिगत समाज के साथ-साथ भिन्नता भी पायी जाती है। वर्ण, रूप, रंग बुद्धि आदि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्नता है। बालकों में भी देखा जा सकता है कि किसी को एक बार बताने पर याद हो जाता है, तो किसी को दो-बार और किसी-किसी मन्द बुद्धि को कई बार बताने पर याद होता है। बालकों में यह भेद पांच कारणों से होता है :

(१) बीज परम्परा।
(२) सामाजिक परम्परा।
(३) शिक्षा और वातावरण।
(४) आयु एवं बुद्धि की परिपक्वता।
(५) लिंग भेद।

बीज परम्परा—बालक में जन्म से ही अपने माता-पिता के शारीरिक तथा मानसिक गुण संक्रान्त होते हैं। शिक्षक का कर्तव्य है कि माता-पिता से प्राप्त गुणों को बालक में विकास होने का अवसर दे और उन्हें प्रोत्साहित करे। माता-पिता से बालक की समानता के साथ-साथ भिन्नता का होना भी अनिवार्य है। निम्न वर्ण का बालक मन्द बुद्धि होगा, यह कहना एक भूल है।

सामाजिक परम्परा—जिस समाज में माता-पिता रहते है, उस समाज का बालक पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। क्योंकि माता-पिता पर सामाजिक वातावरण

का पूर्ण प्रभाव रहता है। समाज के रीति-रिवाज, क्रियाएँ, विचार, भावनाएँ हमें विरासत में प्राप्त होता है। गुरुकुल या आधुनिक स्कूल के पढ़े बालकों में अन्तर पाकर स्पष्ट कह सकते हैं कि वातावरण से बालक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

शिक्षा तथा वातावरण—एक ही परिवार के दो बालकों को विभिन्न समाज में रखने से उनमें विभिन्नता आ जाती है। गरीबी का मानसिक शक्ति से कोई सम्बन्ध न होते हुए भी बालक की शिक्षा पर उसका प्रभाव पड़ता है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने में गरीब परिवार का बालक धनी परिवार के बालक से पिछड़ जाता है।

आयु एवं बुद्धि की परिपक्वता—शैशवावस्था में बालक की काल्पनिक और वास्तविक स्थिति में अन्तर नहीं होता, परन्तु किशोरावस्था में बालक की काल्पनिक स्थिति का बोध करना और मानसिक विकास को सुधारना आवश्यक होता है। अतः आयु के साथ मानसिक स्तर पर परिवर्तन आवश्यक माना गया है।

लिंग-भेद—बालक और बालिकाओं में शारीरिक भेद और मानसिक भेद दोनों होते हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कोमल, दयालु और स्नेहमयी होती हैं। यह बुद्धि भेद मौलिक होकर बुद्धि के कारण होता है।

व्यक्तिगत भेदों का शिक्षा पर प्रभाव—शिक्षक के सम्मुख जीवित प्राणी (बालक) एक परिस्थिति में अनेकों प्रतिक्रियाएँ करता है। जैसे क्रोधित बालक दुलार करने पर अधिक क्रोधित होता है अतः शिक्षक को चाहिए कि व्यक्तिगत भेदों पर अवश्य ध्यान दें। व्यक्तिगत भेदों के अन्तर्गत ही शिक्षा पर प्रभाव का अध्ययन करेंगे।

बीज परम्परा का शिक्षा पर प्रभाव—कुछ बालक इतने सचेतन होते हैं कि जरा सी डांट फटकार से आत्म ग्लानि अनुभव करने लगते हैं अतः शिक्षकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि किस स्वभाव के बालक को डाँटा जा रहा है। बालक को सामाजिक प्राणी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका अपने पर से ध्यान हटाकर समाज की ओर प्रेरित किया जाय। अपने विषय में सोचने का भी अवसर मिले ताकि विकास में सन्तुलित रह सकें। संक्षेप में कह सकते हैं कि बुद्धि व चतुरता उनकी रुचियों व अभिरुचियों के अनुसार शिक्षा देनी चाहिए।

समाज परम्परा का शिक्षा पर प्रभाव—समाज परम्परा के द्वारा बालक की शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है। शहरों में रहने वाला बालक ग्राम्य बालक से भिन्न होता है। शहरी बालक में अपेक्षाकृत कृत्रिमता होती है। सभ्यता की अधिकता के साथ-साथ मनोरंजन की प्रवृत्ति का बाहुल्य होता है। शहरी वातावरण में पढ़े-लिखे पड़ोसी व पारिवारिक जन-सहयोग देते हैं जबकि ग्रामीण जीवन में यह न्यूनतम रूप से प्राप्त होता है। ग्रामीण बालक धन की कमी ही नहीं सुअवसरों और सुविधाओं से भी वंचित रहता है।

शिक्षक का कर्तव्य है कि शहरी बालक को मेहनत करने और विनीत होने के गुणों से विकसित करें तथा ग्रामीण बालक को सुविधाएँ प्रदान होने में सहायता करें। उनके विकास को ध्यान में रखकर पढ़ावें।

शहरी, ग्रामीण, उच्च वर्गीय, निम्न वर्गीय, शिक्षित, अशिक्षित आदि कोई भी परम्परा पूर्ण रूप से उपयुक्त नहीं मानी जा सकती है, अतः शिक्षकों का कर्तव्य है कि किसी भी वर्ग विशेष से लगाव न रखे या किसी वर्ग का अपमान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में न करे।

शिक्षा एवं वातावरण—शहरी वातावरण में पब्लिक स्कूल होते हैं जहाँ उच्च वर्ग के बालक धन की छाया में उच्च शिक्षा प्राप्त करते है। ग्रामों के साधारण स्कूल होते हैं। उनका शिक्षा स्तर निम्न होता है।

ग्रामीण बालकों को छात्रवृत्तियाँ देकर शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे अपनी हीन परिस्थितियों से बाहर निकलें और अपना सुधार कर सकें। शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे भी अपनी सामर्थ्यानुसार सहयोग दें। इस अवस्था को नष्ट करने के लिए सरकार पूर्ण रूप से प्रयत्नशील है। वह जितना सम्भव है उतना प्रयत्न कर रही है। आशा है कि यथासम्भव सुधार होगा।

मीमांसा—जिस प्रकार उपरोक्त प्रभाव दृष्टिगत होते हैं उसी प्रकार आयु एवं बुद्धि का भी शिक्षा पर प्रभाव होता है। तथा लिंग भेद का भी शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है। वर्तमान भारत में स्त्री वर्ग को शिक्षा का अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया गया है, अतः अब स्त्रियाँ वकील, डाक्टर बनती हैं और राजनीति में भाग लेकर देश की प्रधान मन्त्री पद पर भी आसीन हैं। भारत के स्त्री समाज में शिक्षा का महत्त्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। भारत की नारी संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्ष भी बन चुकी है। आशा है कि समस्त प्रभावों के मनोवैज्ञानिक रूप से उचित संचालन द्वारा देश की उन्नति की जा सकेगी।

प्रश्न ७२—बुद्धि क्या है? शिक्षा और बुद्धि का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है? स्पष्ट कीजिए। (उ० प्र० १९५०, ५२ व ५७)

भूमिका—मनोवैज्ञानिक इस निश्चय पर नहीं स्थिर हो सके हैं कि बुद्धि क्या है? संसार के प्रत्येक कार्य को स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकते हैं परन्तु यह बतलाना कठिन-सा है कि हम बुद्धि किसे कहते हैं। इसकी परिभाषा को व्यक्त करने की दृष्टि से कुछ विचार-विमर्श आवश्यक है।

प्राचीन काल में विद्या और बुद्धि में कोई अन्तर नहीं माना जाता था। विद्या प्राप्त व्यक्ति बुद्धिमान माना जाता था। परन्तु नानी या दादी जिन्हें एक अ अक्षर का भी बोध न हो पर व्यवहारिक बुद्धि में पढ़े-लिखे या कुशल व्यक्तियों को भी मात देनी वाली क्या कम बुद्धिमान हो सकती हैं। अतः विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत निम्न परिभाषाओं का अध्ययन आवश्यक है :

प्रसिद्ध विद्वान विने के मतानुसार—

"बुद्धि एक विशेष दिशा को चुनकर उसको अनुसरण करने की प्रवृत्ति, इच्छित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सामजस्य कर सकने की योग्यता और अपनी आलोचना कर सकने की योग्यता है।"

टरमैन के मतानुसार—

"बुद्धि से अभिप्राय: अस्थूल विचार कर सकने की योग्यता से है।"

थार्न डाइक के मतानुसार—

"बुद्धि विभिन्न वस्तुओं और विचारों से सम्बन्ध बना सकने पर निर्भर है।"

थर्स्टन के मतानुसार—

"बुद्धि का कार्य विभिन्न प्रवृत्तियों को जितनी जल्दी सम्भव हो एक दिशा में केद्रिन्त करना है।"

प्रो० टेक्सनाइट के मतानुसार—

"बुद्धि किसी परिस्थिति में संगत सम्बन्धों को पहचान पाना, सम्बन्धित विचारों या सम्बन्धों की खोज कर सकना है।"

या—"समस्याओं को हल करने की योग्यता बुद्धि कहलाती है।"

एक अन्य मनोवैज्ञानिक के मतानुसार—

"बुद्धि वह है जिसको हम मानते हैं और हम यह कह सकते हैं कि बुद्धि परीक्षण वह है जिससे बुद्धि नापी जाती है।"

बुद्धि का प्रयोग जीवन के प्रत्येक पहलू में होता है। स्पियरमेन के मतानुसार हम बुद्धि को दो तत्वों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) सामान्य और (२) विशेष।

बुद्धि के समस्त कार्यों में दोनों तत्व कार्य करते हैं। विशेष तत्व का तात्पर्य किसी कार्य में विशेष योग्यता का होना है। किसी व्यक्ति में सामान्य तत्व कम और विशेष तत्व अधिक, किसी में समान तथा किसी में इसके विपरीत।

थार्नडाइक के मतानुसार बुद्धि के तीन भेद वतलाये हैं : (१) यान्त्रिक, (२) भाववाचक और (३) सामाजिक। बुद्धि कोई अलग शक्ति नहीं बल्कि कई शक्तियों का समावेश है।

थर्स्टन ने बुद्धि को नौ प्रकार की योग्यता से युक्त वतलाया है : (१) दृष्टि, (२) प्रत्यक्षीकरण, (३) संख्या, (४) तार्किक, (५) शाब्दिक, (६) स्मरण, (७) परिणाम, (८) सैद्धान्तिक तर्क कला और (९) समाधान की सीमा। कहने का तात्पर्य यह है कि अध्ययन करने के वाद कह सकते हैं कि सोचना, समझना, तर्क करना सब कुछ बुद्धि पर ही निर्भर है।

बुद्धि और शिक्षा का सम्बन्ध—बुद्धि और शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध एक दूसरे पर प्रभाव डालता है। बुद्धि जन्मजात प्राप्त होती है और सीखी जाती है। यह

सम्भव है कि विद्वान व्यक्ति बुद्धिमान न हो। विद्या बढ़ाई जा सकती है। इनके विभिन्न स्तर होते हैं परन्तु बुद्धि बढ़ाई नहीं जा सकती।

मीमांसा—उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धि जन्म से प्राप्त होती है, यदि उसमें कम बुद्धि हो तो विद्या के प्रशिक्षण देने से विद्वान बनाया जा सकता है। उसे और बुद्धि प्रदान नहीं की जा सकती। शिक्षा बुद्धि के विकास में सहायक का कार्य करती है। यह भी निष्कर्ष स्पष्ट होता है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली विद्या का स्तर निश्चित करती है न कि बुद्धि का स्तर।

प्रश्न ७३—बुद्धि परीक्षणों का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

(उ० प्र० १९५९ व ६४)

भूमिका—प्राचीन काल में बुद्धि एवं विद्या में कोई अन्तर नहीं माना जाता था। साधारण परीक्षा ही यथेष्ट थी। उस काल में जो बालक कंठाग्र पाठ पूरा-पूरा सुना देता था तो वह सफल माना जाता था। परन्तु कालान्तर में यह निश्चय किया गया कि यह सिर्फ रटने की ही परीक्षा हुई, बुद्धि का परीक्षण न हुआ। अतः बुद्धि परीक्षण के विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग परीक्षण-नियम बनाये।

प्रसिद्ध विद्वान लबेटर ने मुखाकृति विज्ञान में यह मत निर्धारित किया कि हमारे चेहरे की बनावट हमारी बुद्धि की सूचक है।

अन्य विद्वान गामे एवं स्परहीन ने १८वीं शताब्दी में व्यक्त किया है—मस्तिष्क के ऊपर दबाव के द्वारा बुद्धि नापी जा सकती है। उसने उसने आधार पर कपाल पर रचना-विज्ञान की रचना की थी।

जहाँ लैम्बारसों ने अपराधियों के अंगों का अध्ययन करके बुद्धि नापने का प्रयास किया, वहाँ बर्थ तथा पीटरसन ने खण्डन किया।

फ्रांस के मनोवैज्ञानिक डाक्टर एलफ्रैड बिने ने सन् १९०५ में परीक्षण करने के लिए कार्य प्रारम्भ किया। तदनन्तर यह कार्य बिने को सौंपा गया। बिने ने अपने साथी साइमन के सहयोग से प्रणाली निर्धारित की जो बिने-साइमन परीक्षा-प्रणाली कहलाती है। इसके अनुसार ५४ प्रश्नों की एक प्रश्नावली तैयार की गयी थी जिसके द्वारा तीन वर्ष से १८ वर्ष तक की आयु के बालकों की बुद्धि नापी जा सकती थी।

अमेरिकन मनोवैज्ञानिक टरमैन और मैरल ने बिने-साइमन परीक्षा-प्रणाली में संशोधन किया। इस संशोधित प्रणाली में १० प्रश्न थें। प्रत्येक वर्ष के लिए ६ प्रश्न थे। १२ वर्ष की आयु के लिए टरमैन ने ६ प्रश्न रखे थे। इस संशोधित रूप को 'दि स्टैन फोर्ड रिवीजन' कहा जाता था।

अंग्रेजी विद्वान बर्ट ने टरमैन के संशोधित रूप में भी पुनः संशोधन किया। बिने के प्रश्नों को छोटे बच्चों के उपयुक्त मान कर अपने निर्मित प्रश्नों में तर्क और विचार शक्ति का समावेश किया। इसका नाम 'दि लन्दन रिवीजन' कहलाया।

बिने के निर्मित मानसिक आयु के सिद्धान्तानुसार ही टरमैन ने बुद्धि लब्ध का आविष्कार किया।

भूमिका—प्राचीन और आधुनिक बुद्धि परीक्षणों की विधियों से यह ज्ञान हो जाता है कि वास्तव में बुद्धि और विद्या दो विभिन्न वस्तुएँ हैं। भारत में बुद्धि परीक्षणों का प्रचलन अब बढ़ता जा रहा है। आशा है कि यह अपने पूर्णस्तर पर पहुँच जायेगा तभी भारत की वास्तविक प्रगति होगी क्योंकि इस दिशा में अभी काफी कुछ करना है।

प्रश्न ७४—बच्चे की बुद्धि लब्ध से आप क्या समझते हो? यह कैसे निकाला जाता है? इससे शिक्षक और माता-पिता को क्या लाभ है?

(उ० प्र० १९५३, ५४, ५६ व ६४)

भूमिका—बच्चे की बुद्धि लब्ध मानसिक आयु तथा वास्तविक आयु के अनुपात को कहते हैं। किसी-किसी बालक की मानसिक आयु वास्तविक आयु की अपेक्षा कम होती है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि बालक मूर्ख है और मानसिक विकास होना असम्भव घोषित कर दिया जाता है। फलतः बुद्धि लब्ध का सूत्र निम्न भाँति प्रकट किया जा सकता है :

$$(\text{I. Q.})\ \text{बुद्धि लब्ध} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$$

हल करने की विधि—मान लिया बालक की आयु ६ वर्ष है और उसने इस स्तर के लिए निर्धारित प्रश्नों में से केवल ४ प्रश्न हल किये हैं। एक-प्रश्न २ माह की आयु का संकेतक है और उसकी मानसिक आयु ५ वर्ष ८ माह हुई परन्तु वास्तविक आयु छः वर्ष ही है। फलतः

$$\text{बुद्धि लब्ध} = \frac{१७}{३} \Big/ \frac{१}{६} \times १००$$

$$= \frac{१७}{१८} / \frac{१}{१} \times १०० = ९४$$

इसका आशय यह हुआ कि ९४ बुद्धि लब्ध का बालक साधारण बुद्धि वाला है। बुद्धि लब्ध का वर्गीकरण निम्नानुसार निश्चित किया गया है :

बुद्धि लब्धांक	वर्ग
१४० से ऊपर	प्रतिभाशाली
१२० से १४० तक	अत्युत्कृष्ट
१०० से १२० तक	उत्कृष्ट
९० से १०० तक	सामान्य बुद्धि
८० से ९० तक	मन्द बुद्धि
७० से ८० तक	निर्बल बुद्धि

५० से ७० तक	मूर्ख
२० से ५० तक	मूढ़
२० से नीचे	जड़

सामान्यतः बालकों की बुद्धि ९० से १०० तक के बुद्धि लब्धांक के अन्तर्गत आती है अर्थात् सामान्य बुद्धि औसतन वर्गीकरण है।

मीमांसा—यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि शिक्षक के लिए बालक की बुद्धि परीक्षा लेना स्कूल में प्रवेश करते समय आवश्यक है। शिक्षक यह निर्णय अवश्य करें कि कौन बालक तीव्र बुद्धि के हैं और कौन मन्द बुद्धि वाले। दोनों प्रकार के बालकों की कक्षायें अलग-अलग हों ताकि तीव्र बुद्धि के बालकों का समय और शक्ति नष्ट न हो। इस प्रकार के बालकों को छात्रवृत्ति का निर्णय सुगमता से किया जा सकता है।

प्रश्न ७५—प्रतिभाशाली बालक किसे कहते हैं? इस प्रकार के बालकों की शिक्षा के लिए क्या विशेष प्रबन्ध किया जा सकता है? ऐसा करना क्यों आवश्यक है? स्पष्ट कीजिए।

भूमिका—शिक्षक स्कूल में प्रवेश करते समय बालक की बुद्धि परीक्षा करके प्रतिभाशाली और साधारण बालकों का निर्णय सुगमता से कर सकते हैं। प्रतिभाशाली बालक जल्दी पाठ को समझ सकता है और देर तक याद रख सकता है। इसी भाँति जल्दी काम करता है और उचित ढंग से करता है। साधारण बुद्धि का बालक उसकी तुलना में नहीं आता है।

प्रतिभाशाली बालक दो प्रकार के होते हैं: (१) सर्वांगीय प्रतिभाशाली और (२) विशिष्ट देशीय प्रतिभाशाली।

सर्वांगीय प्रतिभाशाली—सर्वांगीय प्रतिभाशाली बालक समस्त विषयों में तीव्र बुद्धि का प्रदर्शन करते हैं।

विशिष्ट देशीय प्रतिभाशाली—विशिष्ट देशीय प्रतिभाशाली बालक किसी विशेष विषय में तीव्रता प्रदर्शित करते हैं और शेष विषयों में सामान्य होते हैं। उदाहरण के लिए चित्रकार, कवि, संगीतज्ञ, वाद्य वादक आदि इसी श्रेणी में आते हैं।

विशेष शिक्षा प्रबन्ध—साधारण स्तर के बालकों के साथ यदि प्रतिभाशाली बालकों को पढ़ाया जायगा तो उनकी प्रतिभा का पूर्ण रूप से लाभ नहीं उठाया जा सकता है। एक साथ पढ़ाने में दोनों ही भाँति के बालकों की हानि होती है। साधारण स्तर के बालकों में हीन भावना उत्पन्न होती है जबकि प्रतिभाशाली बालक उद्धत हो जाते हैं और अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगते हैं।

राष्ट्रीय दृष्टि से प्रतिभाशाली बालक राष्ट्र की निधि होते हैं। राष्ट्र उनकी योग्यता से लाभ उठा सकता है। यदि उनकी शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय। इनकी विशेष व्यवस्था करने से कुछ हानियाँ भी होती हैं। आर्थिक दृष्टि से पढ़ाई

अति महँगी होती है। प्रतिभाशाली बालकों में अनावश्यक अभिमान आ जाता है। फलतः उनका व्यक्तित्व उचित रूप से विकसित नहीं हो पाता। साधारण स्तर के बालकों से अलग रखने के कारण इनकी प्रतिभा का तथा गुणों का लाभ अन्य बालकों को नहीं मिल पाता है। दूसरे अलग-अलग रहने के कारण इनका भी जनता से सम्पर्क विभिन्न हो जाता है और सन्तुलन रखने में असुविधा होती है।

मीमांसा—उपरोक्त अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिभाशाली बालकों को अलग से शिक्षा व्यवस्था की जाय। दोषों के निवारण के लिए उनके साथ कुछ कम प्रतिभा वाले बालक भी शिक्षा प्राप्त करें ताकि पारस्परिक सामाजिक सन्तुलन स्थापित रहे और निम्न स्तर के बालक उनका अनुकरण कर लाभान्वित हों।

प्रश्न ७६—साधारण परीक्षा और बुद्धि परीक्षा की तुलनात्मक विवेचना कीजिए। (उ० प्र० १९४७, ५९ व ६५)

भूमिका—शिक्षालयों में ली जाने वाली परीक्षाएँ एक वर्ष में प्राप्त ज्ञान की परीक्षा लेती हैं। यह परीक्षा दोषपूर्ण है क्योंकि विद्यार्थी पूरे वर्ष न पढ़ कर परीक्षा के कुछ काल पूर्व प्रश्नोत्तर रट कर परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं। इस विधि से छात्रों अथवा विद्यार्थियों का अधिकांश समय नष्ट होता है। क्योंकि उन्हें एक कक्षा में एक वर्ष तक रहना अनिवार्य होता है।

बुद्धि परीक्षा साधारण परीक्षा से भिन्न होती है। बुद्धि परीक्षा से बालक की जन्मजात योग्यता की परीक्षा आँकी जाती है। पूर्ण विवरण निम्न तालिका से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है :

साधारण परीक्षा	बुद्धि परीक्षा
(१) बालक पूरे वर्ष न पढ़ कर परीक्षा से पूर्व अल्प काल में पढ़ कर उत्तीर्ण हो जाता है।	(१) बालक को वर्ष भर पढ़ना अनिवार्य होता है।
(२) परीक्षा साल में दो या तीन बार होती है और परीक्षा में यथेष्ट समयान्तर होता है।	(२) वर्ष में कई बार परीक्षा होती है और समयान्तर कम होता है।
(३) बालक की स्मृति को कम प्रभावित करने वाली प्रणाली है। रट कर उत्तीर्ण हो सकते हैं।	(३) बालक की स्मृति की अपेक्षा बुद्धि की परीक्षा होती है। रटने से परीक्षा में उत्तीर्ण होना असम्भव है।
(४) बालक के लिए सम्पूर्ण पाठ्यक्रम अध्ययन करना आवश्यक नहीं।	(४) सम्पूर्ण पाठ्यक्रम अध्ययन करना आवश्यक है।
(५) प्रश्नोत्तर लेख के रूप में होते हैं अतः अनर्गल लेख लिखकर भी बालक अंक प्राप्त कर लेते हैं।	(५) प्रश्नोत्तर शब्दों या वाक्यों में ही देना होता है। अनर्गल बातें अनावश्यक होती हैं।

(६) उत्तर पुस्तक जितनी बार देखी जाय अंकों में हर बार अन्तर आयेगा।	(६) निश्चित उत्तर होने के कारण अंक सदैव समान रहते हैं।
(७) तीव्र बुद्धि बालका अनुत्तीर्ण या मन्द बुद्धि बालक का उत्तीर्ण हो जाना सम्भव है।	(७) अंक विना पाठ्य-पुस्तक अध्ययन किये नहीं मिलते। निरन्तर पढ़ने से अधिक अंक प्राप्त किये जा सकते हैं।
(८) परीक्षा उत्तीर्ण करने से ज्ञान वृद्धि का प्रसार आवश्यक नहीं होता है।	(८) परीक्षा उत्तीर्ण करने से निश्चित ज्ञान वृद्धि का प्रसार होता है।
(९) कुछ चन्द प्रश्नों पर सम्पूर्ण पुस्तक की परीक्षा ले ली जाती है अतः यह परीक्षा नहीं होती।	(९) पुस्तक की प्रत्येक वस्तु-सामग्री की परीक्षा ली जाती है। अर्थात् बालक के ज्ञान की परीक्षा है।
(१०) परीक्षा बालक को पढ़ने के लिए बाध्य नहीं करती है।	(१०) परीक्षा पाठ्ये पुस्तकों के अध्ययन की रुचि उत्पन्न करती है।
(११) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असफल घोषित होती है।	(११) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सफल परीक्षा होती है।

मीमांसा—उपरोक्त अध्ययन से दोनों प्रकार की परीक्षा प्रणालियों का अवलोकन हो जाता है। अतः नवीन बुद्धि परीक्षा द्वारा यह निश्चय किया जा सकता है कि किस बालक का मन दर्शन शास्त्र में लगता है और किस की रुचि गणित या विज्ञान पढ़ने की है। अतः नवीन परीक्षण विधि का प्रचलन आवश्यक होता जा रहा है।

प्रश्न ७७—बुद्धि परीक्षा या नवीन परीक्षण की क्या विशेषताएँ हैं? इन परीक्षणों का शिक्षा में क्या उपयोग होता है? वर्णन कीजिए।

भूमिका—यह निश्चय हो चुका है कि नवीन परीक्षणों द्वारा मानव-स्वभाव, मानव-प्रवृत्तियों और मानव-क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। इसके लिए वैज्ञानिक यन्त्रों, सिद्धान्तों और विधियों का प्रयोग करते हैं। फलतः भारत में नवीन परीक्षण विधि स्वयं विज्ञान की एक शाखा के रूप में विकास कर रहा है।

स्पष्ट रूप से देखा जाय तो नवीन परीक्षणों का विस्तार क्षेत्र सेना, रेलवे, विज्ञानिक फैक्टरियों और शिक्षा संस्थाओं में पूर्ण उपयोग हो रहा है। नवीन परीक्षणों में निम्न विशेषताएँ इसका प्रमुख कारण हैं :

नवीन परीक्षणों की विशेषताएँ—वैज्ञानिक आधार होने के कारण वह विधियाँ जो नवीन परीक्षणों के अन्तर्गत हैं परिष्कृत हैं। इन विधियों में वैज्ञानिक प्रगति सम्भव है। नवीन परीक्षण विधि प्राचीन विधियों के अनुपयुक्त है जो उस कमी को पूरा करती है जो प्राचीन व परम्परागत विधियों से पूर्ण नहीं हो पाती

है। व्यक्ति का सफल होना उसके वंश, परिवार, समाज, प्रयत्न आदि पर निर्भर है। इस प्रकार के प्राचीन सिद्धान्तों को नवीन परीक्षणों के प्रभाव में अमान्य माना जाता है। इस विधि द्वारा स्वस्थ व्यक्ति अत्यन्त लाभ प्राप्त करते हैं तथा उनके मन में अस्वस्थ व्यक्तियों के दोषों का प्रभाव भी जाना जा सकता है। मानसिक विकार जो बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं इस नवीन परीक्षण विधि से जाने जा सकते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रोगों की वास्तविकता का प्रभाव ज्ञात हो जाता है।

शिक्षा में उपयोग—बुद्धि परीक्षा की नवीन विधियों का शिक्षा में उपयोग निम्न प्रकार होता है :

शिक्षार्थी में बुद्धि की कमी न होने से भी उसकी प्रगति के रुकने के कारण ज्ञात हो जाता है। बालकों की बुद्धि परीक्षण करने के उपरान्त उसकी बुद्धि के अनुसार पाठ्यक्रम में परिवर्तन किया जा सकता है। निम्न स्तर वालों को निम्न तथा उच्च-स्तर के शिक्षार्थियों को उच्च स्तर का पाठ्यक्रम निर्धारित किया जा सकता है। रुचि का पता लगाकर पाठ्य विषय में उसी विषय के अध्ययन की सुविधा प्रदान की जा सकती है। मनस्थिति के अनुसार पाठ को सुरुचिपूर्ण, सरल एवं सर्वग्राही बनाया जा सकता है।

मीमांसा—बुद्धि परीक्षण का अध्ययन करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि राष्ट्र का हित नवीन परीक्षण प्रणाली में ही है क्योंकि इसके द्वारा सैन्य शक्ति का सन्तुलन स्थापित करने में सुगमता होती है। यदि कोई नया रंगरूट बुद्धि के कार्यों में योग्य न हो, तो सेना से हटा कर उसे अन्य कार्य में लगाया जा सकता है ताकि कोई हानि न हो। देश की अन्य विशिष्ट सेवाओं में उपयुक्त कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति का चयन सुगमता एवं सरलता से हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि राष्ट्र का हित नवीन परीक्षण प्रणाली से ही है।

प्रश्न ७८—सामूहिक बुद्धि परीक्षा किसे कहते हैं? वैयक्तिक और सामूहिक परीक्षाओं की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

सामूहिक बुद्धि परीक्षा—सामूहिक बुद्धि परीक्षा के लिए स्थान का निश्चित होना आवश्यक नहीं। प्रयोगशाला के अतिरिक्त स्कूल में भी परीक्षा ली जा सकती हैं। अध्यापक सुगमता से परीक्षा ले सकते हैं। प्रत्येक परीक्षार्थी को एक समान प्रश्न-पत्र प्रस्तुत किये जाते हैं। नियत समय के अन्तर्गत ही परीक्षा में प्रश्न-पत्र हल करना होता है। प्रश्न-पत्र में प्रश्न के साथ-साथ प्रश्न के उचित-अनुचित कई उत्तर लिखे होते हैं जिनमें से उचित उत्तर का चयन करना होता है। अध्यापक को प्रश्नोत्तर-पत्र जाँचने में भी सरलता होती है क्योंकि एक निश्चित उत्तर ही सही होता है। उदाहरणार्थ—

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद थे।

पं० जवाहरलाल नेहरू,

राजगोपालाचार्य,

मोहनदास करमचन्द गांधी ।

वैयक्तिक बुद्धि परीक्षा—वैयक्तिक बुद्धि परीक्षा के अन्तर्गत एक बार में केवल एक ही परीक्षार्थी की परीक्षा ली जा सकती है ।

तुलनात्मक दृष्टि से दोनों प्रकार की परीक्षाओं में निम्न भेद हैं :

वैयक्तिक परीक्षा	सामूहिक परीक्षा
१. वैयक्तिक परीक्षा में समय निश्चित नहीं होता है ।	१. सामूहिक परीक्षा में समय निश्चित होता है ।
२. छोटे बच्चों की परीक्षा लेने के लिए उत्तम साधन है ।	२. छोटे बच्चे कक्षा में बैठ कर परीक्षा नहीं दे सकते ।
३. परीक्षा लेने के लिए खर्च अधिक होता है ।	३. परीक्षा लेने की कम खर्च में व्यवस्था हो जाती है ।
४. बालक व्यक्तिगत सम्पर्क में आता है ।	४. बालक सम्पर्क में नहीं आता है ।
५. बालक की प्रतिक्रिया का अध्ययन किया जा सकता है ।	५. सम्पर्क में न आने के कारण असम्भव है ।
६. वैयक्तिक परीक्षा अधिक आत्मगत रहती है ।	६. सामूहिक परीक्षा आत्मगत नहीं रहती है ।

मीमांसा—वैयक्तिक और सामूहिक परीक्षाओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि प्रत्येक बालक का स्तर निश्चित करने के लिए बुद्धि-लब्ध निर्धारित करने के लिए उसकी दोनों प्रकार से परीक्षा लेना आवश्यक है ।

प्रश्न ७६—चरित्र और स्वभाव के परीक्षणों से आप क्या समझते हैं ? कुछ परीक्षणों का उल्लेख करते हुए शिक्षा में उसकी उपयोगिता स्पष्ट कीजिए ।

(उ० प्र० १९६० व ६२)

भूमिका—बालकों में बुद्धि के अनुसार विभिन्नता पायी जाती है जिसका निर्णय बुद्धि परीक्षणों द्वारा और बुद्धिलब्ध ज्ञात करके जाना जा सकता है, जिसका विस्तृत वर्णन पूर्व प्रश्नों में किया जा चुका है । बालकों में चरित्र और स्वाभाव की दृष्टि से भी अन्तर पाया जाता है । बुद्धि परीक्षण द्वारा चरित्र या स्वभाव का ज्ञान नहीं होता है । विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अलग-अलग परीक्षण किये हैं । चरित्र एवं स्वभाव दोनों ही व्यक्तित्व के अन्तर्गत आते हैं यह तो निश्चित ही है ।

व्यक्तित्व को नापने के लिये अनेकों प्रयास किये गये हैं :

(१) अंकन विधि,

(२) मनोविश्लेषण विधि,

(३) व्यक्ति-इतिहास विधि,

(४) प्रश्नावली विधि,

(५) प्रयोगशाला विधि,

(६) आरोपणात्मक विधि।

प्रत्येक विधि की विस्तृत व्याख्या न करके केवल मनोविश्लेषण विधि का संक्षिप्त अध्ययन करते हैं।

मनोविश्लेषण विधि—एक बालक यदि इस में प्रवेश करता है तो वह शब्दों के याद करने में कठिनाई का अनुभव करता है और शिक्षक या माता-पिता के सामने बोलने से डरता है। पढ़े-लिखे समाज में रहने के कारण यह कहना कि वह पढ़ नहीं सकता या पढ़ाया नहीं जाता है असम्भव है। स्कूल के नये वातावरण में बालकों को खातापीता देखता है तो उसका भी मन खाने को करता है। खाना पाने के लिए घर से खाना न ले जाकर पैसे उठाकर ले जाता है। दुर्भाग्य से पैसे चुराने की नयी प्रवृत्ति को तत्काल ही रोक दिया गया और उसके लिए पढ़ने, पहनने, खाने-पीने इत्यादि की सुविधाएँ अधिक कर दी गयीं। परन्तु न जाने कौन सी प्रवृत्ति या ग्रन्थि उसके मानसिक वातावरण में घर कर गयी जो बीमारी के कारण अधिकतर सुस्त और आलसी होता गया। पढ़ते रहने पर विद्या में तीव्र है पर बुद्धि में कमजोर। माता-पिता उसे इन्जीनियर बनाने के प्रयास करते हैं पर वह असामाजिक जीवन बिताता है।

विद्या और बुद्धि के अनुसार बालक तीव्र हैं परन्तु चरित्र तथा स्वभाव की दृष्टि से हीन। इस प्रकार की परीक्षा के लिए जुंग महाशय ने कई प्रश्नावली परीक्षण के लिए तैयार कीं। अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दो प्रकार की प्रश्नावली होती है।

कोह (Kosh) की प्रश्नावली से मनुष्य की नैतिकता आँकी जाती है। इसी भाँति जून डानी (June Downey) की प्रश्नावली व्यक्ति की इच्छा-शक्ति, आत्म-विश्वास, सहनशीलता आदि का बोध कराती हैं। कैटिल (Cattle) महाशय ने चरित्र एवं स्वभाव के कुछ परीक्षण किये। मनोवैज्ञानिकों ने कई यन्त्र निर्माण किये। नाड़ी गति, हाथों की प्रतिक्रिया का स्वरूप और विशेष संवेदना में हृदय की गति नापी जा सकती है।

मीमांसा—विभिन्न यन्त्रों की सहायता से अनेकों प्रकार के परीक्षण किये गये। शिक्षकों को इन परिणामों से अधिकाधिक सहायता प्राप्त होती है। चरित्र एवं स्वास्थ्य के लिए भी परीक्षण कम नहीं हुए हैं। इस प्रकार के परीक्षण पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। बालक के चरित्र निर्माण में सहायता करने के लिए शिक्षक को उनका जानना अति आवश्यक है।

अध्याय १५

मूल एवं सामान्य प्रवृत्तियाँ तथा उनकी उपयोगिताएँ
(Instincts & Innate Tendencies & Their Utilities)

प्रश्न ८०—मूल प्रवृत्ति की परिभाषा स्पष्ट कीजिए। सहज क्रिया एवं मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया में क्या अन्तर है ? मूल प्रवृत्ति कैसे प्रशिक्षित करेंगे।

(उ० प्र० १९५७, ५९ व ६३)

मूल प्रवृत्ति—मूल प्रवृत्ति उस जन्मजात प्रवृत्ति को कहते हैं जो प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है। इस प्रवृत्ति में ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक तीनों पहलू होते हैं। मैक्डूगल के मतानुसार—

"मूल प्रवृत्ति वह जन्मजात प्रवृत्ति है जिसके कारण किसी विशेष वस्तु को देखता अथवा उसकी ओर ध्यान देता और उसकी उपस्थिति में विशेष प्रकार के भावों तथा क्रियात्मक प्रवृत्ति की व्यक्ति अनुभूति करता है। फलस्वरूप व्यक्ति उस वस्तु के प्रति विशेष क्रिया करने की चेष्टा करता है।"

हरबर्ट स्पैन्सर के मतानुसार—

"मूल प्रवृत्ति एक सहज क्रिया है।"

लेओज एवं वाटसन के मतानुसार—

"मूल प्रवृत्ति सहज क्रिया का ही एक अंग है।"

व्यवहारवादी तो सहज क्रिया और मूल प्रवृत्ति में कोई भेद नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार मूल प्रवृत्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं होता। उपरोक्त मैक्डूगल की परिभाषा के अनुसार सहज क्रिया और मूल प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न हैं। अन्य मनोवैज्ञानिक इस मत का समर्थन करते हैं।

मूल प्रवृत्ति और सहज क्रिया के भेद—

मूल प्रवृत्ति	सहज क्रिया
१. मूल प्रवृत्ति के कार्यों में अत्यन्त विषमता पाई जाती है।	१. सहज क्रिया अति साधारण होती है।

२. मूल प्रवृत्ति के कार्य स्वयं संचालित होते हैं।	२. सहज क्रिया को बाह्य उत्तेजना की आवश्यकता पड़ती है।
३. मूल प्रवृत्ति की क्रिया में एक हेतु का लक्ष्य होता है।	३. सहज क्रिया का कोई लक्ष्य नहीं होता है।
४. मूल प्रवृत्ति के कार्य परिवर्तनशील होते हैं, परन्तु क्रिया नहीं।	४. सहज क्रिया के कार्य अपरिवर्तनशील हैं।
५. मूल प्रवत्ति का कार्य बार-बार करने से सुधरते हैं।	५. सहज क्रिया के कार्यों में कोई सुधार नहीं होता है।
६. मूल प्रवृत्ति के कार्य बुद्धि द्वारा संचालित होते हैं।	६. सहज क्रिया का संचालन सुषुम्ना करती है। यह क्रिया बुद्धिरहित होती है।
७. मूल प्रवृत्ति का सम्बन्ध किसी न किसी संवेग से होता है।	७. सहज क्रिया का सम्बन्ध किसी संवेग से नहीं होता है।

मूल प्रवृत्ति जन्मजात होती है। सीखनी नहीं पड़ती। उदाहरणार्थ—चिड़ियाँ घोंसला बनाती हैं, बच्चे से रोटी छीनने पर रोना आता है, मारता है, जंगल में शेर देखकर डर लगता है। डर लगने के उपरान्त बचने का उपाय सोचते हैं।

सहज क्रिया में कीड़ा काटता है, छींक आती है, आदि आदि।

मूल प्रवृत्ति को प्रशिक्षित करने की विधियाँ—प्रशिक्षित करने के लिए निम्न विधियों का उपयोग किया जाता है :

(१) खेल के मैदान में बालक लड़ने की मूल प्रवृत्ति का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् लड़ने की प्रवृत्ति को सही दिशा में क्रियान्वित करें तो श्रेष्ठ खिलाड़ी बन सकते हैं। पढ़ाई में भी लड़ने की भावना से परीक्षा में उत्तीर्ण होने की जिज्ञासा के कारण कक्षा में शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने लगते हैं।

२. संसार के विषय में ज्ञान प्रदान करने लिए यात्रा, फिल्म, कहानी तथा समाचार पत्र की सहायता से भूगोल एवं विज्ञान की शिक्षा प्रदान की जा सकती है। यह कौतूहल की मूल प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने से सरल हो जाती है।

३. सहकारिता की भावना को प्रोत्साहित करके युद्ध एवं खेल के अतिरिक्त परस्पर पड़ोसी की तरह रहने एवं सामाजिक भावनाओं की शिक्षा प्रदान की जा सकती है।

४. हस्तकला की शिक्षा प्रदान करने से बालकों को मूर्ति निर्माण करना, काष्ठ कला, शिल्प अथवा दस्तकारी आदि का प्रशिक्षण देकर उन्हें जीविकोपार्जन की कला सिखाई जा सकती है। कलाओं के प्रति उनमें रुचि उत्पन्न की जा सकती है।

मीमांसा—मूल प्रवृत्ति की परिभाषा का स्पष्ट स्वरूप एवं सहज क्रिया से उसकी भिन्नता का अध्ययन करने के उपरान्त हमने उसके प्रशिक्षित करने की

विधियों का अध्ययन किया। इस अध्ययन को क्रियान्वित करके या मूल प्रवृत्तियों के प्रकाशन को नियन्त्रित करके वालकों को उचित मार्ग पर प्रशिक्षित किया जा सकता है।

प्रश्न ८१—मूल प्रवृत्ति, संवेग एवं स्थायीभाव के भेद को स्पष्ट कीजिये।

(उ० प्र० १९४९ व ५३)

मूल प्रवृत्ति का स्पष्ट विवेचन हम प्रश्न नं० ८० में कर चुके हैं। यहाँ संवेग एवं स्थायीभाव का विवेचन स्पष्ट करते हैं।

संवेग—प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ-साथ संवेग जुड़ा होता है। उदाहरणार्थ—शेर को देखकर डर लगता है, तो हम उससे बचने का प्रयत्न करते हैं। अतः यहाँ भागने की प्रवृत्ति के साथ भय का संवेग व लड़ने की मूल प्रवृत्ति के साथ क्रोध का संवेग जुड़ा हुआ है। इस प्रसंग में ड्रेवर और रिवर के मतानुसार—

"मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार को उत्पन्न करने के लिए संवेगों की आवश्यकता नहीं होती। मूल प्रवृत्ति के कार्य में वाधा उपस्थित होने पर संवेग की क्रिया उत्पन्न होती है।" उदाहरणार्थ—शेर को देखकर हम भागते हैं। भागने में यदि कोई वाधा उपस्थित हो, तो भय के संवेग का संचार होता है।

स्थायीभाव—यह तो पहले निश्चित कर चुके हैं कि मूल प्रवृत्ति जन्मजात होती है। परन्तु स्थायीभाव अर्जित होते हैं। यह भी एक प्रकार की प्रवृत्ति होती है। स्थायीभाव का सम्वन्ध स्मृति या विचारों से होता है। इसके द्वारा नियन्त्रित आचरण नैतिक विकास की दृष्टि से उच्च स्तर को प्राप्त करने का प्रयास करता है। स्थायीभाव मानवमात्र में होते हैं, पशु-पक्षियों में नहीं, जबकि मूल प्रवृत्तियाँ प्रत्येक प्राणी में पाई जाती हैं। स्थायीभाव का आधार नैतिक आदर्श होता है।

स्थायीभाव के उत्पन्न होने का कारण संवेग को वार-वार दोहराना है। उदाहरणार्थ—यदि किसी के प्रति हमें घृणा हो जाय तो घृणा का संवेग अनेक होने के उपरान्त स्थायीभाव में घृणा हो जाती है। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि स्थायीभाव स्वयं संवेग नहीं बल्कि संवेगात्मक प्रवृत्ति है। संवेग स्थायी होते हैं और स्थायीभावों का प्रभाव स्थायी नहीं होता है।

स्थायी भाव से कई संवेग उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति के मन में देश प्रेम का स्थायी भाव होता है। स्थायी भाव के कारण देश की उन्नति से उसको प्रसन्नता होती है। दूसरी वात यह कि यदि कोई देश की बुराई करता है, तो क्रोध का संवेग उत्पन्न होता है। तीसरे देश पर बाह्य आक्रमण के समय तन-मन से लड़ने को उद्धत हो जाता है।

प्रश्न ८२—जिज्ञासा, विधायकता और युयुत्सा की प्रवृत्तियों का शिक्षा में क्या महत्त्व है?

(उ० प्र० १९४०, ४७ व ५८)

भूमिका—मूल प्रवृत्तियों में कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ होती हैं। कुछ विशेष प्रवृत्तियों जैसे जिज्ञासा, विधायकता और युयुत्सा का वर्णन यहाँ करते हैं। इनके अध्ययन करने के उपरान्त शिक्षा शास्त्र के प्रशिक्षण में सहायता ही मिलेगी।

जिज्ञासा—बालक जन्म लेते समय कुछ नहीं जानता है। अपने वातावरण को देखकर उसे आश्चर्य-सा होता है। उसकी प्रत्येक वस्तु को स्पर्श करके देखने की इच्छा होती है। नई वस्तु के प्रति जानने की इसी इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं। प्लेटो (Plato) के मतानुसार—

"जिज्ञासा ही सम्पूर्ण ज्ञान का जननी है।"

शिक्षा में जिज्ञासा की उपयोगिता—जिज्ञासा की प्रवृत्ति बालक के जन्म लेने के कुछ समय पश्चात् ही क्रियाशील हो जाती है। बालक का ध्यान प्रत्येक वस्तु की ओर आकर्षित होता है, उन्हें देखने, पकड़ने का प्रयास करता है। सात-आठ माह में खिलौनों आदि के पकड़ने, देखने और उनसे खेलने लगता है। शनैः-शनैः यह प्रवृत्ति विस्तृत होती जाती है। चार-पाँच वर्ष की आयु तक प्रत्येक वस्तु का स्पष्टीकरण करना भी चाहता है। उसके प्रति अनेकों प्रश्न उसकी बुद्धि में उठते हैं। प्रश्नों का समाधान करने में माता-पिता अथवा अभिभावक परेशान भी हो जाते हैं। बालकों के प्रश्नों का उत्तर देना अभीष्ट है, उन्हें डराना या डांटना नहीं चाहिए। ऐसा करने से उनकी जिज्ञासा की प्रवृत्ति कुण्ठित हो जाती है।

जिज्ञासा की प्रवृत्ति प्रबल होती है। शिक्षक इस प्रवृत्ति से लाभ उठा कर अनेकों वस्तुओं का ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। नित्यप्रति शिक्षक प्रशिक्षण में नवीन वस्तुओं का वर्णन करे, ताकि बालक ध्यान से सुनकर उसे ग्रहण कर लें। अतः शिक्षक को पहले पहल स्थूल बातों का प्रशिक्षण देना चाहिए तदनन्तर सूक्ष्म विषय का।

विधायकता—बालक हर समय कुछ न कुछ करता ही रहता है। वह कभी खिलौने को पटकता है, पकड़ता है, चबाता है, नचाता है आदि-आदि क्रियाएँ करता ही रहता है। वस्तु का निर्माण करना या तोड़ना प्रमुख कार्य है। लड़कियाँ इसी प्रकार सीना, पिरोना, रोटी बनाना आदि क्रियाएँ करती रहती हैं। यह प्रवृत्ति विधायकता के कारण ही बालक क्रियाशील रहता है। जन्म के दो साल उपरान्त से लेकर मृत्यु पर्यन्त विधायकता की प्रवृत्ति पाई जाती है।

भेद—(१) ध्वंसात्मक और (२) रचनात्मक।

कम आयु के बालकों में ध्वंसात्मक प्रवृत्ति का बाहुल्य होता है। घर पर बालक सदैव तोड़-फोड़ में लगा रहता है। यदि बालकों का उचित निर्देशन किया जाय तो यही ध्वंसात्मक प्रवृत्ति रचनात्मक कार्यों में उपयोग की जा सकती है। जैसे—मिट्टी या गत्ते के खिलौने बनाना, चित्रकारी करना आदि।

बाल्यावस्था में बालक में विधायक प्रवृत्ति के साथ-साथ आत्म विश्वास पैदा करने से जीवन में सफलता की वृद्धि होती है। जो बालक जितना भी अधिक रचनात्मक कार्य करेगा वह उतना ही प्रशंसा का पात्र होगा।

शिक्षाशास्त्र में जिन प्रोजेक्ट पद्धति और मान्टेसरी पद्धति द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती है उसका आधार विधायक प्रवृत्ति पर ही निर्भर है।

युयुत्सा—लड़ने की मूल प्रवृत्ति के साथ क्रोध का संवेग संलग्न होता है और क्रोध में संघर्ष करते समय चोट लगने पर पीड़ा होना स्वाभाविक है परन्तु पीड़ा का अनुभव नहीं होता है। युयुत्सा की प्रवृत्ति प्रवल होने पर व्यक्ति अपना धैर्य और वुद्धि खो देता है।

वचपन में बालक वड़े झगड़ालू होते हैं। माता-पिता या अभिभावक इससे परेशान रहते हैं परन्तु इस प्रवृत्ति से वालकों में साहस तथा आत्म विश्वास की वृद्धि होती है। इसके विपरीत चुप रहने वाला और शान्त वैठने वाला बालक वड़ेपन में डरपोक हो जाता है। उसका सम्मान और अधिकार पाने का अधिकार नष्ट हो जाता है। अतः बालकों के परस्पर लड़ने की प्रवृत्ति का भी दमन नहीं करना चाहिए।

प्रायः माता-पिता वालकों के परस्पर लड़ने पर उनकी पिटाई कर देते हैं। वालकों की इस प्रवृत्ति के न रोकने की प्रवृत्ति का यह तात्पर्य नहीं कि वालक खून भी कर दे। वालकों को इतना सिखाना आवश्यक है कि वह सामाजिकता की भावना से ओत-प्रोत हो, अपने स्वार्थ के लिए आपस में न लड़ें बल्कि अपने से छोटों का हित करें तथा उनकी रक्षा करें।

खेल द्वारा इस प्रवृत्ति का शोध किया जा सकता है। माता-पिता या अभिभावक की यह भूल है कि सजा देने से वालक भविष्य में मारपीट न करेगा। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि सजा देने से वालक और उद्दण्ड हो जाते हैं।

मीमांसा—उपरोक्त प्रवृत्तियों के अध्ययन से यह निष्कर्ष होता है कि बालकों में इनके दमन करने से हानि अधिक होती है। अतः शिक्षक अथवा माता-पिता का कर्तव्य है कि उनको निर्देशन द्वारा उचित मार्ग पर लायें ताकि उन प्रवृत्तियों का सही मूल्यांकन हो सके।

प्रश्न ८३—मनुष्यों और पशुओं की मूल प्रवृत्तियों के भेद को स्पष्ट कीजिए।

भूमिका—मूल प्रवृत्ति का विस्तृत वर्णन प्रश्न ८० में किया जा चुका है। मूल तात्पर्य यह है कि यह प्रवृत्ति जन्मजात होती है। संवेग इनके साथ जुड़े रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्यों में भागने की प्रवृत्ति होती है और भागने के साथ संवेग भय जुड़ा होता है। संवेग के कारण ही प्रवृत्ति क्रियान्वित होती है। पशु-पक्षी में भी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं जैसे—चिड़ियाँ घोंसला बनाती हैं, मुर्गी दाना चुगती है आदि-आदि। यह मूल प्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं।

भेद—मैक्डूगल के मतानुसार मूल प्रवृत्तियों के १४ भेद हैं। पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में अधिक प्रवृत्तियाँ होती हैं।

हास्य, पलायन, दैन्य, घृणा, आत्म गौरव, जिज्ञासा, विधायक, युयुत्सा, संचय, भक्षण, काम, आदि प्रवृत्तियाँ मनुष्य में पायी जाती हैं। पशुओं में विचार

करने की शक्ति नहीं होती अत. विचार एवं तर्क से सम्बन्धित प्रवृत्तियाँ जैसे—दैन्य, आत्म-गौरव आदि-आदि पशुओं में नहीं पायी जाती हैं।

(१) पशुओं की अपेक्षा मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ अत्यधिक परिवर्तनशील होती हैं।

(२) पशु में मूल प्रवृत्ति मनुष्य की अपेक्षा अधिक विकसित नहीं होती है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ अविकसित हैं। उन्हें सुधारा और परिवर्तित किया जा सकता है।

(३) पशुओं में मूल प्रवृत्तियाँ शीघ्र आ जाती हैं। मनुष्यों में कुछ प्रवृत्तियाँ आने में देर लगती है।

कारण—मनुष्य की प्रवृत्तियाँ परिवर्तनशील होने का प्रमुख कारण यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे परिवर्तन लाना आवश्यक है। यह परिवर्तन कभी-कभी इतना हो जाता है कि मूलप्रवृत्ति का स्वरूप ही नहीं पहचाना जा सकता। मुर्गी या पिल्ला का बच्चा जन्म से ही खाना प्रारम्भ कर देता है जबकि बालक वर्षों के पश्चात् आत्म-निर्भर होता है। इसी प्रकार कामोत्तेजना पशु-पक्षी में जल्दी आती है जबकि मनुष्य में देर से उदित होती है।

प्रश्न ८४—सामान्य प्रवृत्तियों के भेद बताते हुए मूल प्रवृत्तियों से अन्तर स्पष्ट कीजिये।

सामान्य प्रवृत्तियों के पाँच भेद हैं। ये प्रवृत्तियाँ समस्त उच्च वर्गों में पायी जाती हैं। इनके प्रकाशन की कोई विधि नहीं होती। इसी कारण यह सामान्य प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं।

(१) सहानुभूति, (२) अनुकरण, (३) निर्देश, (४) स्पर्धा और (५) खेल।

भेद की दृष्टि से यह कहना सही है कि मूल, प्रवृत्तियों के साथ संवेग जुड़ा होता है।

(१) **सहानुभूति**—सहानुभूति मनुष्य, पशु, पक्षी समस्त प्राणियों में पायी जाती है। दूसरे के शब्द, मुख, वेदना आदि से प्रभावित हो स्वयं अनुभव करना सहानुभूति कहलाता है। उदाहरणार्थ—दो कुत्तों के लड़ने पर आस-पास के सभी कुत्ते लड़ने लगते हैं। भयतीत चिड़ियों के चिल्लाने पर अन्य चिड़ियाँ भी भयभीत होकर चिल्लाने लगती हैं। किसी को रोता देख कर मनुष्यों का मुख भी उदास हो जाता है और बरबस नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते हैं। किसी के क्रोधित होने पर स्वयं भी क्रोध आ जाता है।

शिक्षकों को बालकों का निर्माण करने के लिए व समाज विकास की दृष्टि से उचित सहानुभूति की भावना का संचार एवं प्रशिक्षण करना चाहिए।

सहानुभूति दो तरह की होती है : (१) सहज और (२) विचारपूर्वक।

सहज सहानुभूति प्रत्येक बालक में होनी चाहिए परन्तु उसका स्वरूप विकृत न हो। बालक, पशु और पक्षी सब में सहज सहानुभूति पायी जाती है।

शिक्षा शास्त्र के अनुसार बालक इतिहास के किसी पात्र के साथ सहानुभूति करता है तो वह उसके समान ही आचरण करने लगता है। समाज के विकास में सहानुभूति का विशेष सहयोग रहता है। सहानुभूति परदुःख और परोपकार को सहारा प्रदान करती है।

(२) अनुकरण—दूसरों के आचरण या क्रियाओं के समान ही करना अनुकरण कहलाता है। सियार के शब्द करने पर अन्य सियार भी शब्द करते हैं। कुत्ते के भौंकने पर अन्य कुत्ते भी इकट्ठे होकर भौंकने लगते हैं। बन्दर एकता तो प्रसिद्ध कहावत ही बन गयी है।

बालक भी चलना, फिरना, बोलना, पढ़ना, लिखना आदि अनुकरण की ही प्रवृत्ति के अन्तर्गत सीखते हैं। बालकों का बहुत शिक्षण अनुकरणात्मक ही होता है।

थार्नडाइक महोदय अनुकरण को सामान्य प्रवृत्तियों में नहीं मानते। उनके मतानुसार—बालक अनुकरण से नहीं सीखता बल्कि सम्बद्ध सहज क्रिया द्वारा सीखता है। इतने पर भी अनुकरण की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता है, जीवन में अनुकरण का विशेष स्थान होता है।

भेद—अनुकरण दो प्रकार के होते हैं : (१) ज्ञात और (२) अज्ञात। अनुकरण करने की क्रिया जब ज्ञात हो जाती है तो वह ज्ञात अनुकरण कहलाता है। क्रिया का ज्ञान न होने पर वह अज्ञात अनुकरण कहलाता है। उदाहरणार्थ—बोलने के ढंग, काम करने का तरीका, वस्त्रों का चुनाव आदि।

कार्ल पैट्रिक के अनुसार पाँच तरह के अनुकरण होते हैं—

(१) सहज अनुकरण, (२) स्वभाव अनुकरण, (३) अभिनय अनुकरण, (४) आदर्श अनुकरण और (५) सप्रयोजानुकरण।

किसी को नम्र देखकर नम्र होना सहज अनुकरण है। जिसको हम पसन्द करते हैं उसे स्वयं ही करने लग जाना स्वभाव अनुकरण है। देखी, पढ़ी हुई क्रिया का अनुकरण अभिनय अनुकरण कहलाता है, जैसे नाटक खेलना। पूर्वजों अथवा महान पुरुषों का अनुकरण आदर्श अनुकरण कहलाता है। यदि किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनुकरण किया जाय तो सप्रयोजानुकरण कहलाता है।

ड्रेवर ने अनुकरण के दो भेदों का उल्लेख किया है : (१) स्वभाविक अनुकरण और (२) सप्रयत्न अनुकरण।

बालक का बोलना, चलना, उठना, बैठना आदि स्वाभाविक अनुकरण हैं जबकि खेल को सुधारने के लिए हमें सप्रयत्न अनुकरण करना पड़ता है।

अनुकरणात्मक प्रवृत्ति का प्रबल रूप बालकों में सहज देखा जा सकता है। बड़ों को सिगरेट पीते देखकर बालक भी सिगरेट पीने लगते हैं। सिनेमा देखकर नायकों के समान कपड़े पहनना और फैशन करने की प्रवृत्ति अधिक पायी जा रही है।

शिक्षा पर अनुकरण का प्रभाव—अनुकरण का शिक्षा में प्रभाव उसके वातावरण के अनुसार होता है। कक्षा में शैतान बालक का सभी बालक अनुकरण करते हैं। शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि बालकों के सामने श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करें, वह स्वयं आदर्श रूप बने। दुष्टों को प्रोत्साहित न करें। शरारती एवं उद्दण्डी बालकों को उचित दण्ड दें।

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि अनुकरण एक काल्पनिक क्रिया है। यह साध्य नहीं, साधन है। उच्चादर्शों के अनुकरण से व्यक्ति की प्रतिभा में विकास होता है। शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि अनुकरण की प्रवृत्ति का दुरुपयोग न होने दें।

(३) निर्देश—जब बालक दूसरों के प्रभावों से प्रभावित होकर न चाहते हुए भी उनका अनुकरण करता है, तो इसको निर्देश कहते हैं। छोटी आयु के बालक निर्देशों को सुगमता से ग्रहण कर लेते हैं। मूर्ख श्रेणी के बालकों में साधारण या उच्च श्रेष्ठ बालकों की अपेक्षा निर्देश ग्रहण करने की प्रवृत्ति का बाहुल्य होता है। तात्पर्य यह है कि तर्क या विचारशील बालक कम निर्देश ग्रहण करते हैं। दूसरे अवस्था के साथ-साथ निर्देशित होने की प्रवृत्ति कम होती जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति में निर्देश ग्रहण करने की शक्ति भी विभिन्न होती है। किसी व्यक्ति की निर्देश योग्यता का पता लगाने के लिए उसे निर्देश दिये जाएँ। वह जितने निर्देश ग्रहण करे उनको उनकी संख्या से बाँट देना चाहिए। इस प्रकार प्राप्त अंक में सौ से गुणा करके योग्यता का गुणक प्राप्त किया जा सकता है।

भेद—निर्देश चार प्रकार के होते हैं: (१) व्यक्तित्व निर्देश, (२) सामूहिक निर्देश, (३) आत्म निर्देश और (४) विरुद्ध निर्देश।

व्यक्तित्व निर्देश—शिक्षक को पढ़ा-लिखा तथा योग्य मान कर बालक उनका निर्देश मानते हैं। जो व्यक्ति आयु, विद्या, धन, पद और चरित्र में श्रेष्ठ होता है उनके प्रति स्नेह और आदर के कारण बालकों पर उनके निर्देश प्रभाव डालते हैं। समव्यस्कों या अल्पव्यस्कों का निर्देश कोई व्यक्ति मानने के लिए तैयार नहीं होता है।

सामूहिक निर्देश—प्रभावशाली निर्देश वह माना जाता है जो अधिक व्यक्तियों द्वारा माना जाता है। आस-पास के समस्त व्यक्तियों विभिन्न के मत निर्धारण करना असम्भव होता है। योग्य शिक्षक द्वारा दिये निर्देश को सामूहिक निर्देश के रूप में ग्रहण कर लाभ उठाया जा सकता है। किसी विशेष रूप के कपड़े अधिकांश व्यक्ति पहनें वही सामूहिक निर्देश का फैशन चल पड़ता है। अतः फैशन का अनुकरण भी सामूहिक निर्देश के अन्तर्गत माना जाता है।

आत्म निर्देश—जब व्यक्ति स्वयं अपने को ही निर्देश दे तो वह आत्म-निर्देश कहलाता है। आत्म निर्देश दो प्रकार का होता है: (१) स्वतः आत्मा से उठने वाले निर्देश और (२) अन्य व्यक्तियों के विचारों द्वारा निर्देशन।

आत्मा के द्वारा उठे निर्देशनों से व्यक्ति की इच्छा शक्ति और प्रबल होती है। जैसे रोगी के आत्म विश्वास 'कि वह अच्छा हो रहा है' का प्रभाव उस पर पड़ता है और वह कुछ दिनों के बाद स्वस्थ हो जाता है। आत्म निर्देश से आत्म विश्वास की वृद्धि होती है।

विरुद्ध निर्देश—कभी-कभी ऐसा भी अवसर होता है कि किसी व्यक्ति को निर्देश दिया जाय और वह उसके विपरीत आचरण करे। बालक किसी कार्य को करने के लिए मना करने पर भी उस कार्य को करते हैं यह विरुद्ध निर्देश कहलाते हैं। डाक्टर सिडिस का कथन है कि—"निर्देश जितना सीधा और स्पष्ट होता है उतना ही कम माना जाता है तथा जितना अस्पष्ट होता है उतना ही अधिक। जिन निर्देशों को ग्रहण करने में आत्म गौरव को आघात लगता है, उसके विरुद्ध कार्य किया जाता है।"

शिक्षा पर प्रभाव—निर्देश द्वारा शिक्षा में लाभ उठाया जा सकता है। शिक्षक के श्रेष्ठ निर्देशों का पालन करने से बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है और आत्म बल को प्रोत्साहन। शिक्षकों को चाहिए कि बालकों को निर्देश का दास न बनाये बल्कि निर्देशों के आधार पर आत्म-विश्वास की वृद्धि करें तथा बालकों को उनकी प्रतिभा बढ़ाने का अवसर भी दें। शिक्षक केवल शब्दों से नहीं बल्कि आचरण से भी बालकों को प्रभावित करें ताकि बालक बिना तर्क-वितर्क किये निर्देशों को ग्रहण करे।

(४) स्पर्द्धा—बालकों में स्पर्द्धा की भावना अधिक पायी जाती है। दूसरे बालकों से आगे बढ़ने का नाम ही स्पर्द्धा है। स्पर्द्धा की प्रवृत्ति से हीन बालकों में पढ़ने-लिखने की रुचि नहीं होती। स्पर्द्धा को ईर्ष्या भी कहते हैं। ईर्ष्या में बालक अपनी उन्नति करने के साथ-साथ दूसरों के पतन की भी चिन्ता करता है। ईर्ष्या से चरित्र का नाश होता है।

(५) खेल—प्राचीन काल में समाज की यह धारणा थी कि खेलने से समय नष्ट होता है। खेलने की प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में होती है। इसका लाभ उठाने के लिए वर्तमान काल में शिक्षा पद्धतियों में खेल का विशेष स्थान है। व्यक्तित्व के विकास के लिए खेल अति आवश्यक है। वर्तमान काल में मान्टेसरी, डाल्टन, प्रोजेक्ट पद्धतियों में खेल पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

प्रश्न ८५—विश्लेषण विधि क्या है? नया अनुभव प्राप्त करने के लिए बालक इसका स्वतन्त्र प्रयोग कहाँ तक कर सकता है?

भूमिका—विश्लेषण विधि के द्वारा बालक की बुद्धि में अस्पष्ट चित्र का वास्तविक प्रतिबिम्ब स्पष्ट होता है। प्रारम्भिक अवस्था में चित्र अस्पष्ट एवं अनिश्चित होता है। वह एक रूपरेखा के समान होता है। उसके अंगों को ध्यान में लाना और चित्र के विभिन्न अंगों का परिचय करना, अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना

बालक के मन के काल्पनिक चित्र को स्पष्ट रूप प्रदान करता है। यही अध्ययन विधि है। उदाहरणार्थ—

प्रारम्भ में बालक पेड़ को केवल हरी पत्तियों का झुण्ड अथवा बड़ा और फल-फूल से युक्त ही समझता है। परन्तु वास्तव में यह ज्ञान अपूर्ण है अतः विश्लेषण विधि का अध्ययन कराने से पेड़ के विभिन्न अंगों का ज्ञान कराया जाता है। वह तब पीपल, बरगद, नीम आदि को अलग-अलग पहचान सकता है। इसके लिए पेड़ों की पत्तियों की रचना, आकार और रंग का अध्ययन करना आवश्यक है। यह तुलनात्मक अध्ययन बालक में वृक्ष के विभिन्न अंगों का सम्बन्ध स्थायी करता है। उनका ज्ञान निश्चित और पूर्ण होता है। अतः विश्लेषण विधि सिद्ध कारक होती है।

मीमांसा—विश्लेषण विधि से अध्ययन नवीन ज्ञान प्रदान करने में सहायक होता है। इसके द्वारा वस्तु के विभिन्न अंगों, स्वरूपों और आकारों का अध्ययन हो जाता है। पेड़ों का अध्ययन करने के बाद फूल, पत्ती, जड़, तने की विभिन्न सूक्ष्म ज्ञान कराती है। अर्थात् प्रारम्भ में स्थूल और पश्चात् सूक्ष्म ज्ञान की रुचि उत्पन्न स्वतः ही होती है। यह कह सकते हैं कि विश्लेषण विधि अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है जो वस्तुओं का सही ज्ञान कराती है।

प्रश्न ८६—ध्यान किसे कहते हैं ? इसकी क्या विशेषतायें हैं ? रुचि से क्या सम्बन्ध है ? बालकों का ध्यान प्रौढ़ व्यक्तियों के ध्यान से कैसे भिन्न है और शिक्षक किस प्रकार अपनी ओर बालकों का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं ?

(उ० प्र० १९४१, ४३, ४८ व ५७)

भूमिका—मानसिक शक्तियों को किसी विशेष वस्तु या विषय पर केन्द्रित करने से हमें उसका स्पष्ट और वास्तविक ज्ञान होता है। ज्ञान का होना इसी बात पर निर्भर होता है। यही ध्यान कहलाता है। प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में ध्यान का विशेष स्थान है। सारी सफलता इसी ध्यान पर आधारित रहती है।

चेतना को दो क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है— (१) केन्द्रवर्ती और (२) प्रान्तवर्ती। केन्द्रवर्ती चेतना ही ध्यान कहलाती है। परन्तु प्रान्तवर्ती चेतना का कोई निश्चित विभाजन नहीं होता क्योंकि प्रान्तवर्ती चेतना क्षण भर में केन्द्रवर्ती बन जाती है। हमारा मन सदैव निर्णय करता रहता है। अतः अधिक आकर्षक तथा रुचिकर वस्तु पर हमारा ध्यान स्थिर हो जाता है।

विशेषताएँ—ध्यान में निम्न विशेषताएँ उपलब्ध हैं :

(१) ध्यान एक मानसिक सरल क्रिया है जिस पर हमारा ज्ञान लगभग अर्थ रूप से आधारित रहता है।

(२) ध्यान में चुनाव की क्रिया चलती रहती है। इन्द्रियों के सम्मुख उत्तेजनाएँ सदैव ध्यान को बाध्य करती रहती हैं। जैसे कक्षा के पाठ में रुचि न हो तो ध्यान अन्यत्र केन्द्रित हो जाता है। अतः व्यक्ति उपस्थित उत्तेजनाओं में चुनाव करता रहता है।

(३) ध्यान में प्रसार थोड़ा होता है। एक समय में थोड़े पदार्थों पर ही ध्यान दिया जा सकता है। जैसे आधे सेकंड में ५-६ अक्षरों से अधिक ध्यान नहीं जाता है।

(४) ध्यान गतिशील होता है। घड़ी की चाल की आवाज यदि ध्यान से सुनें तो सुनाई देती है। इससे आभास होता है कि यह गतिशील है।

(५) नई वस्तु की ओर व्यक्ति का ध्यान जल्दी से चला जाता है। वह उसके गुणों का एवं अंगों का विश्लेषण तत्काल करने लगता है और उसका ज्ञान करता है। इससे स्पष्ट होता है कि ध्यान विश्लेषणात्मक है।

(६) ध्यान करने के पश्चात् ज्ञान और चेतना प्राप्त होती है।

(७) किसी पदार्थ या वस्तु की ओर ध्यान करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है।

(८) ध्यान स्थिर करने के लिए शारीरिक परिवर्तन करने पड़ते हैं। जैसे भाषण सुनने के लिए आगे बढ़ना या वक्ता की ओर देखना। आँख खुल जाती है, माथे पर सिकुड़न आ जाती है। शिक्षक कक्षा में ध्यान न देने वाले विद्यार्थियों को इसी आधार पर सहज ही पकड़ लेता है।

मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल के मतानुसार—"ध्यान केवल उस चेष्टा व इच्छा को ही कहते हैं जिसका प्रभाव ज्ञान क्रिया पर पड़ता है। या उस चेष्टा अथवा क्रिया का ही बौद्धिक पहलू ध्यान कहलाता है।"

रुचि—यह निश्चय है कि मनुष्य की जिस वस्तु में रुचि होगी उसकी ओर ध्यान स्वतः ही आकर्षित हो जाता है। बालकों की खेल में स्वाभाविक रुचि होती है। उनका ध्यान खेल में जल्दी चला जाता है।

भेद—रुचि दो प्रकार की होती है : (१) जन्मजात और (२) अर्जित।

जन्मजात रुचि—मूल प्रवृत्तियों तथा सामान्य प्रवृत्तियों पर आधारित जन्मजात रुचि होती है। जैसे—माँ अपने बच्चे की आवाज शोर होने पर भी सुन लेती है। छपी पुस्तक में अपना नाम जल्दी दिखायी पड़ जाता है।

अर्जित रुचि—जन्मजात रुचि के आधार पर ही अर्जित रुचि स्थिर होती है जैसे बालकों में पढ़ने का शौक अर्जित रुचि है। यह उत्पन्न की जाती है, न कि प्रकृतिक होती है। जन्मजात रुचि न होने पर रुचि उत्पन्न करना अर्जित रुचि के अन्तर्गत आता है। अतः शिक्षा स्वभावतः अर्जित रुचि है।

रुचि एवं ध्यान का सम्बन्ध—ध्यान का रुचि से सम्बन्ध है। सिनेमा देखने की रुचि रखने वाला व्यक्ति विज्ञापनों को देखने के लिए सदैव आकर्षित होता है अर्थात् विज्ञापन उसे आकर्षित कर लेते हैं। छोटे बालकों का ध्यान शैक्षिक दृष्टि से पढ़ाई की ओर अर्जित करने के लिए उनके पाठ्य में गाने, रंगदार तस्वीरें, चित्र आदि सम्मिलित कर आकर्षित बनाया जाता है।

निरन्तर अभ्यास करने पर किसी भी विषय को रुचिपूर्ण बनाया जा सकता है। ध्यान और रुचि के बल पर गणित में कमजोर बालक तीव्र बुद्धि प्राप्त कर सकता है, उसे प्रश्न हल करने में उतनी ही सरसता होगी जितनी कि कहानी या उपन्यास पढ़ने में।

बालक और प्रौढ़ व्यक्ति के ध्यान में भिन्नता—बालक की रुचि मूल प्रवृत्तियों की वस्तुओं की ओर होती है अतः उनका ध्यान भी उसी ओर विशेष रूप से आकर्षित होता है। परन्तु प्रौढ़ व्यक्ति के ध्यान का आधार उनकी अर्जित रुचियाँ होती हैं। चित्रकारी, पढ़ने आदि में बालकों की अपेक्षा प्रौढ़ व्यक्तियों का ध्यान स्वाभाविक ही चला जाता है।

बालकों को ध्यान देने के लिए प्रयास नहीं करना होता है। उत्तेजना की प्रबलता या मानवीयता उनका ध्यान आकर्षित करती है जबकि प्रौढ़ व्यक्तियों का अध्ययन प्रयत्नात्मक होता है।

बालक का ध्यान एक वस्तु पर अधिक देर तक नहीं ठहरता है। दूसरे उनमें आत्मबल और इच्छा शक्ति कम होती है। प्रौढ़ व्यक्ति का ध्यान अधिक देर तक एक वस्तु पर केन्द्रित रह सकता है।

बालक का एक समय में अधिक वस्तु पर ध्यान नहीं ठहरता जबकि प्रौढ़ व्यक्ति एक से अधिक वस्तु पर ध्यान रख सकता है।

मानसिक विकास की कमी के कारण बालक का ध्यान सूक्ष्म वस्तुओं और विचारों पर नहीं लगता। उनमें एकाग्रता लाने की शक्ति भी कम होती है। प्रौढ़ व्यक्तियों में इसके विपरीत होता है।

ध्यान आकर्षित करने की विधियाँ—शिक्षक बालकों का ध्यान खेल, रंगीन तसवीरों, गानों और विधायकता के आधार पर आकर्षित कर सकते हैं। शिक्षक को सप्रयास बालकों का ध्यान एक वस्तु से हटा कर दूसरी ओर केन्द्रित करना पड़ता है। परन्तु उनका मन किसी रुचि के साथ सम्बन्धित कर दिया जाय तो सुगमता से अधिक समय तक एक विषय पर केन्द्रित किया जा सकता है। आदत, स्थायी-भाव व अर्जित ध्यान पहले ही प्रत्यात्मक होते हैं जो बाद में निश्चयात्मक कहे जाते हैं।

खेल-कूद द्वारा जिज्ञासा और विधायकता की प्रवृत्तियों का लाभ उठाकर बाह्य विधियों द्वारा शिक्षा देना नम्रता द्वारा ही सम्भव है। यह प्रणाली प्रारम्भिक शिक्षा में उत्तम है परन्तु इससे बालकों में प्रयास, ध्यान की शक्ति तथा इच्छा शक्ति का उचित रूप से विकास नहीं हो पाता। अतः रुचि उत्पन्न करनी चाहिए। बालकों का ध्यान केन्द्रित करने के लिए शिक्षकों को मूल प्रवृत्तियों का आश्रय लाभदायक होता है। अतः शिक्षक बालकों से प्रश्न करें और सम्बन्धित उदाहरणों को रुचिपूर्ण बनायें। प्रत्येक इन्द्रियों द्वारा ज्ञान कराना बालक के ध्यान की अपेक्षा

अधिक स्थिर होता है अर्थात् बालक का ध्यान कराके ज्ञान देने से इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्रदान करना श्रेष्ठ है।

शिक्षक को बालकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए सतर्क रहना पड़ता है। शिक्षक को अपने आप विश्वास होना आवश्यक है। यदि वह आत्म विश्वास से बालकों को प्रशिक्षण न देगा तो बालक उसकी ओर ध्यान न देंगे।

मीमांसा—बालकों में ध्यान देना और उनका ध्यान आकर्षित करना दोनों ही एक समस्या हैं। ध्यान के लिए बालकों में प्रेरणा उत्पन्न करनी पड़ती है। प्रेरणा के लिए बालकों को पुरस्कृत करना, कक्षा में प्रथम आना, नाम या यश की इच्छा आदि प्रमुख साधन हैं।

प्रश्न ८७—थकान किसे कहते हैं ? यह कैसे होती है और कक्षा में इसे रोकने के लिए क्या उपाय हैं ?

भूमिका – निरन्तर ध्यान किसी एक वस्तु, पदार्थ या विषय पर केन्द्रित करने के कारण शक्ति का व्यय होता है। या यह कह सकते हैं कि मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं द्वारा शक्ति का व्यय होता है। जब शक्ति अधिक मात्रा में व्यय हो जाती है तो थकान का अनुभव होने लगता है।

थकान में आराम करने की आवश्यकता होती है। आराम करने से शक्ति पुनः लौट आती है। आराम करने की आवश्यकता का कारण यह है कि थकान की अवस्था में कार्य सुचारु रूप से नहीं हो पाता और ध्यान केन्द्रित नहीं हो पाता, मन बार-बार उचाट खाता है।

थकान के भेद—थकान दो प्रकार की होती है : प्रथम तो वह थकान है जिसमें अधिक काम करने की क्षमता नहीं रहती। किसी कार्य को निरन्तर करने से दिल उचाट हो जाता है, काम की इच्छा नहीं होती और न उसमें ध्यान ही लगता है। इस प्रकार की थकान को दूर करने के लिए कुछ काल तक आराम करना अति आवश्यक है।

दूसरे प्रकार की थकान का कारण अरुचिकर कार्य या विषय होता है। इसमें थकान सी अनुभव होती है जम्भाई, आने लगती है और नींद आँखों में भर जाती है। कक्षा में अरुचिकर पाठ पढ़ाया जा रहा हो तो सुस्ती व थकान आने लगती है। भाषण यदि अरुचिकर हो तो शीघ्र ही थकान अनुभव होने लगती है। इस थकान को विषय परिवर्तन द्वारा दूर किया जा सकता है। जैसे गणित का प्रश्न करते समय थकान अनुभव हो तो कहानी या उपन्यास पढ़ने से दूर हो जाती है।

बालकों में अरुचि के कारण थकान उत्पन्न हुई हो तो शिक्षक का कर्तव्य है कि विषय में नवीनता प्रस्तुत करें। पढ़ाने की विधि में परिवर्तन करें। विषय की अरुचि को दूर करें अर्थात् रुचिपूर्ण बनायें। वास्तविक थकान तो आराम करने से ही दूर होती है।

प्रश्न ८८—सीखना किसे कहते हैं ? सीखना कितने प्रकार का होता है ? सीखने में उन्नति किस प्रकार की जा सकती है तथा इसका मानव जीवन में क्या महत्त्व है ? (उ० प्र० १९५७, ६६, ६२ व ६४)

भूमिका—मानव जीवन का आधार सीखना है। परिस्थिति में सफलता-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सीखना आवश्यक है। सर्व प्रथम शैशवावस्था में बालक उठना, बैठना, चलना खाना, पीना, पहनना आदि सीखता है। बाल्यावस्था में बात चीत करना, व्यवहार करना, मिलन आदि सीखता है, किशोरावस्था में जीवन के लिए सामाजिक, राजनैतिक वातावरण में रहना, राष्ट्र-प्रेम, तथा जीविकोपार्जन की कला के साथ-साथ विश्व-बन्धुत्व की भावना भी सीखता है। उसे विज्ञान सम्बन्धी नवीनतम आविष्कारों का भी ज्ञान सीखना पड़ता है।

पशु और मानव के सीखने में अन्तर है। पशु का सीखना मूल प्रवृत्तियों से संचालित होता है। चूहे की अपेक्षा बन्दर में सीखने की क्षमता अधिक है, जबकि मानव प्रणियों में श्रेष्ठ सीखने के कारण ही अग्रगण्य है। मानव अधिक और शीघ्र सीख सकता है। इसका विकास सीखने पर ही आधारित है।

भेद—सीखना मानसिक एवं शारीरिक दोनों ही प्रकार का होता है। इसके अनेकों सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। परन्तु यहाँ निम्न प्रमुख चार सिद्धान्तों का हा प्रतिपादन करते हैं :

(१) कार्य करके सीखना।
(२) करते हुए देखकर सीखना।
(३) बुद्धि से स्वतः सीखना।
(४) सम्बन्ध सहज क्रिया द्वारा सीखना।

कार्य करके सीखना—किसी भी प्रतिक्रिया को सीखने के लिए हमें सबसे पहले उसको क्रियान्वित करना होता है। पहले दो-चार बार करने पर भूल होना स्वाभाविक हैं, तदनन्तर उचित ढंग से करना सीख जाते हैं। यह प्रयत्न और भूल की विधि कहलाती है ऐसा थार्नडाइक का मत है। अत. उन्होंने परिणाम, अभ्यास तथा तत्परता को नियम बताया है।

अनेक विद्वानों ने अनेकों पशु-पक्षियों व बालकों पर परीक्षण किये। सबका यही मत है कि बालक अधिक बार भूल करके सीखता है तो व्यक्ति विवेक का प्रयोग कर जल्दी सीख लेता है। पशु अनेक बार करने पर भी पूरी तरह नहीं सीख पाता फिर भी वह उसी कार्य को-अनेक बार करता है।

करते हुए देखकर सीखना—बालक बड़ों का अनुकरण करके सीखते हैं। जैसा बड़ों को करते देखते हैं वह स्वतः करने लगते हैं। अनुकरण की यह शक्ति विशेष रूप से मनुष्यों में पायी जाती है, किसी अन्य प्राणी में इतनी नहीं पायी जाती

है। बालकों की इस अनुकरणात्मक प्रवृत्ति का लाभ उठा कर उनके सम्मुख आदर्श प्रस्तुत करके उनका चरित्र ऊँचा उठाया जा सकता है।

बुद्धि से स्वतः सीखना—पशु की अपेक्षा मनुष्य में बुद्धि द्वारा सीखने की शक्ति विशेष रूप से होती है। हैगार्टी महोदय का बन्दर पर किया गया परीक्षण उल्लेखनीय है।

एक भूखे बन्दर को पोली नली के अन्दर एक केला ठूँसकर खाने के लिए दिया। बन्दर केला निकालने के लिए विभिन्न प्रयत्न करता है परन्तु असफल रहता है। अन्त में एक अन्य छड़ी की सहायता से केला पाने में सफल होता है। इसी बन्दर के सामने जब दूसरी बार यही क्रिया की जाती है तो वह पहले ही छड़ी से केला निकाल लेता है। एक अन्य बन्दर इस क्रिया को देख कर ही सीख लेता है।

यदि मनुष्य बुद्धि द्वारा प्रत्येक कार्य करने का प्रयास करे तो उसकी यह भूल होगी क्योंकि वह बहुत कम सीख पायेगा और मानव का विकास सम्भव न होगा। मनुष्य पहले विचार करता है तब कार्यान्वित करता है। इन्जीनियर मकान बनाने से पहले बुद्धि द्वारा उसका नकशा बनाता है फिर मकान। यदि प्रयत्न और भूल की रीति से मकान बनाये तो जन्म भर में मकान पूरा न बना सके।

सम्बन्ध सहज क्रिया द्वारा सीखना—किसी विशेष आवाज या संकेत द्वारा कार्य करने को कहना सम्बन्ध सहज क्रिया द्वारा सीखना कहलाता है। सरकस के जानवर इसी क्रिया के अन्तर्गत अपने कर तब दिखाते हैं। मनुष्य इस प्रवृत्ति में बहुत कम कार्य करता है।

सीखने में उन्नति करने की विधियाँ—मनुष्य जितना अधिक सीखने का प्रयत्न करता है, उतनी ही उसे सफलता प्राप्त होती है। अर्थात् हमारी मेहनत पर ही फल निश्चित होता है यदि सीखने की गति मन्द है। तो कार्य के सीखने में स्वतः ही अधिक समय लगेगा और यदि तत्पर गति से सीखने का प्रयत्न करेंगे तो शीघ्र सीख जायेंगे।

सीखने के साथ-साथ उस विद्या को स्थिर रखना भी आवश्यक है, अन्यथा जो कुछ लिखा जा चुका है उसे भूल जाना कोई कठिन बात नहीं। अतः सीखने की उन्नति निम्न तथ्यों पर आधारित होती है:

मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य, पूर्व के अनुभव, अपनी रुचि तथा उद्देश्य।

यदि स्वास्थ्य ठीक है तो कार्य के सीखने में थकान का अनुभव नहीं होगा और मन में उचाट नहीं उत्पन्न होगी। पूर्व अनुभव कार्य सीखने में सहायक होंगे और जो कुछ सीखा जा चुका है वह स्थिर रहेगा। कार्य में रुचि और प्रेरणा तीव्रता उत्पन्न करती हैं। उद्देश्य द्वारा पूर्ति की इच्छा बलवती होती है और सफलता प्राप्त होती है।

विधियाँ—शिक्षा के लिए हरबर्ट (Herbert) महोदय ने ५ विधियों का

उल्लेख किया है : (१) तैयारी, (२) निरीक्षण, (३) तुलना और निष्कर्ष, (४) नियम निर्धारण, (५) प्रयोग ।

तैयारी—जिस पाठ को पढ़ाना हो उसे बालकों के सम्मुख प्रस्तुत करने से पहले बड़ी कुशलता और सुचारुता से तैयार करना चाहिए। प्रत्येक नवीन वस्तु बालक के पूर्व प्राप्त ज्ञान से कुछ न कुछ, थोड़ा या बहुत सम्बन्ध रखती है। अतः शिक्षक इस बात का ध्यान रखें कि बालक को पहला कितना ज्ञान है।

निरीक्षण—शिक्षा में आवश्यक प्रश्न, उदाहरण तथा शिक्षा सामग्री आदि देनी चाहिए। भूगोल पढ़ाते समय मानचित्र, इतिहास पढ़ाते समय घटनाओं का वर्णन और विज्ञान की शिक्षा देते समय यन्त्रों व उपकरणों का सहारा लेना आवश्यक है। बालकों को इन यन्त्रों और सहायक उपकरणों को निरीक्षण के लिए दिया जाय। इस निरीक्षण से ज्ञान सरलता से प्राप्त हो जाता है।

तुलना और निष्कर्ष—निरीक्षण के उपरान्त बालक अपने किये प्रयोगों में या देखी गयी वस्तुओं में तुलना करके वास्तविक निष्कर्ष निकालता है। शिक्षक इस कार्य में सहायता दे सकते हैं। निष्कर्ष के उपरान्त नियम भी बनाये जा सकते हैं।

नियम निर्धारण—तुलना के बाद निष्कर्ष निकलता है। इस निष्कर्ष को विधिवत लिखा जाय और उचित परिभाषा का रूप दिया जाय। विद्यार्थियों द्वारा निष्कर्ष में त्रुटि रह सकती है, परन्तु कई बार दुहराने पर उचित निष्कर्ष निकल आता है जो वास्तव में नियम बन जाता है।

प्रयोग—कहने का तात्पर्य यह है कि बार-बार दुहराना ही प्रयोग कहलाता है। विभिन्न विधियों द्वारा निष्कर्ष निकाल कर अर्थात् प्रयोग करके ही नियम बनते हैं।

प्रयोग करने के पश्चात् नियम सिद्ध हो जाते हैं और यह ज्ञात किया जा सकता है। कि विद्यार्थी का ज्ञान स्तर कितना है।

मीमांसा—मानव समाज में सीखने की कला का अत्यन्त ही महत्त्व है। मनुष्य के जन्म से ही सीखने की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। सीखना वातावरण में संघर्ष उत्पन्न करता है। संघर्ष से क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं की उत्पत्ति होती है। यह क्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ ज्ञात, अज्ञात, नियन्त्रित और अनियन्त्रित सभी प्रकार की हो सकती हैं।

प्रश्न ८९—सीखने के नियमों को उदाहरण तथा प्रयोग द्वारा स्पष्ट कीजिये।
(उ० प्र० १९५६, ५८, ६२)

मनुष्य का विकास सीखने के द्वारा ही होता है। मानव जीवन का प्रत्येक अंग सीखने से सम्बन्धित है। यदि मानव में सीखने की शक्ति का ह्रास हो जाय तो जीवन पशुओं से निम्नतर हो जाय।

नियम—सीखने के तीन नियम हैं : (१) अभ्यास, (२) परिणाम और (३) तत्परता।

अभ्यास—कार्य का निरन्तर बार-बार दुहराना ही अभ्यास का नियम है।

अभ्यास करने के पश्चात् भूल की सम्भावना कम हो जाती है। जैसे मनुष्य को दो का पहाड़ा तो सदैव याद रहता है परन्तु २७ का पहाड़ा भूल जाता है। खेलने का अभ्यास न रहने पर खेल में असफलता मिलती है। पढ़ने या लिखने का अभ्यास न रहे तो कठिनाई लगती है। यह उपयोग और अनुपयोग का नियम कहलाता है।

परिणाम—जिस कार्य को सीखने में हम सन्तोष और सुख प्राप्त करते हैं वही हम सीखते हैं। अरुचिपूर्ण कार्य को सीखने से हमारी प्रवृत्ति निर्बल होती है। नये कार्य को सीखने में अनेकों प्रयत्न व चेष्टायें करनी होती हैं। बालक को चमकती आग पकड़ने की इच्छा होती है। परन्तु एक बार आग की गर्मी का अनुभव हो जाने पर वह फिर नहीं छूता। जिस कार्य के करने में पुरस्कार या प्रशंसा मिलती है, बालक उसे बार-बार करता है। दण्ड या पुरस्कार के सहारे बालकों में सीखने की आदत डाली जा सकती है। इस नियम को सन्तोष और असन्तोष का नियम भी कहते हैं।

तत्परता—पहले से तैयारी करके करने के इच्छुक को कार्य को करने से आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार के कार्य जल्दी सीख लिए जाते हैं। शिक्षक को पढ़ाते समय इन नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए। जिस कार्य के सीखने के लिए हम तत्पर होंगे उसे हम जल्दी सीख लेंगे चाहे वह कितना ही कठिन कार्य क्यों न हो। यह एक महत्त्वपूर्ण नियम है।

उपरोक्त नियमों के पालन करने की जटिलता बढ़ती जा रही है क्योंकि सामाजिक जटिलता भी बढ़ रही है। नित्य नई समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं जिनका ज्ञान हमें मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के द्वारा ही हो सकता है। बालकों की शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण अंग है। शिक्षा देने की विधियों का भी परिवर्तन हो गया है। मनोविज्ञान एक प्रयोगात्मक विषय है अतः इसके लिए अलग से कक्ष होना अनिवार्य है।

विद्यार्थियों को परीक्षण में विषयों द्वारा दिये गये उत्तर नियमानुसार लिखने चाहिए। विभिन्न परीक्षणों की तालिका व नियम निम्न अनुसार होने चाहिए :

प्रयोग क्रम संख्या १
स्वतन्त्र साहचर्य क्रमिक विधि

तिथि..................दिन......................समय...............

परीक्षण अवधि...................बजे से...................बजे तक

परीक्षार्थी का नाम.....................................

परीक्षार्थी की सामान्य दशा (थकान, स्वास्थ्य आदि)

उद्देश्य—व्यक्ति के विचारों, शृंखला तथा उनके क्रम को समझना।

उपकरण—कलम, कागज, बन्द घड़ी, शब्दों की सूची। इस सूची के विषय का पहले से पता नहीं लगना चाहिए।

विधि—सर्वप्रथम परीक्षक को यह देखना चाहिए की कमरे में किसी प्रकार

का कोई शोर न हो। परीक्षार्थी को आराम कुर्सी पर आराम से बैठना चाहिए ताकि उसके ऊपर किसी तरह का नियन्त्रण न हो। परीक्षार्थी को पहले ही प्रयोग की विधि समझा देनी चाहिए। अर्थात् परीक्षक जब कोई शब्द बोले, तो पल भर में परीक्षार्थी के मन में जितने शब्द आएँ उन्हें बिना झिझक के बोल दे।

अब असली प्रयोग आरम्भ होता है। परीक्षक अपनी सूची में से (जैसे पुस्तक) शब्द बोलता है और परीक्षार्थी को एक मिनट का समय मिलता है और वह अपने विचारों को बोलता जाता है और परीक्षक लिखता जाता है। एक मिनट के हो जाने पर परीक्षार्थी बोलना बन्द कर देता है। आधे मिनट का आराम देने पर परीक्षक परीक्षार्थी को सावधान कर फिर दूसरा शब्द बोलता है।

निरीक्षण का विवरण—

क्रम संख्या	उत्तेजक शब्द	प्रतिक्रिया शब्द	अन्तर्दर्शन (साहचर्य का नियम)
१	ताजमहल	रामू पेड़ बेबी स्टेशन गाड़ी	रामू गर्मियों की छुट्टी में ताजमहल देखने के लिए आगरा गया। सरो के पेड़ देखकर उसका मन मोहित हो गया। लौटती बार उसकी बहिन बेबी आगरा फोर्ट स्टेशन पर खो गयी। वह उसको खोजता रहा और गाड़ी स्टेशन पर आ गयी। वह उस गाड़ी से अपने घर न जा सका।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि परीक्षार्थी के मन में अधिकतर विचार कालगत तथा स्थानगत सहचारिता के नियम के आधार पर हुए।

प्रतिक्रिया काल का औसत निकालने के लिए प्रतिक्रिया शब्दों को जोड़कर उत्तेजक शब्दों के जोड़ से भाग देना चाहिए। जो उत्तर आयेगा वही औसत होगा।

उत्तेजक शब्द ५
प्रतिक्रिया शब्द ३०

$$= \frac{५}{३०} \times ५०$$

अर्थात् एक शब्द का औसत समय ८ सेकंड हुआ।

प्रयोग क्रम संख्या २

पूर्णतया अवरोधित साहचर्य परीक्षण

यह परीक्षा पहले परीक्षण से प्रायः मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें एक शब्द की एक ही प्रतिक्रिया हो सकती है।

तिथि............दिन................ समय................

परीक्षण अवधि............बजे से ....बजे तक

परीक्षार्थी का नाम...........

परीक्षार्थी की सामान्य दशा..........(थकान, स्वास्थ्य आदि)

उपकरण—शब्दों की समस्याओं की सूची स्टाप घड़ी, कलम, कागज।

विधि—परीक्षार्थी को समस्या दे दी जाती है। ध्यानपूर्वक पढ़ने के बाद उसका उत्तर जो ध्यान में आ जाये बता देता है। परीक्षण में विरोधी या सामान्य शब्द दोनों ही हो सकते हैं। परीक्षार्थी समस्या को हल करने के लिए तीन बार समझा दिया जाता है। इस प्रकार उसका प्रतिक्रिया काल लिख लिया जाता है।

क्रम संख्या	उत्तेजक शब्द व समस्या	प्रतिक्रिया शब्द	प्रतिक्रिया काल	उत्तर सही या गलत
१	एक बन्दर एक खम्बे पर एक मिनट में ४ फुट ऊपर बढ़ता है और एक फुट नीचे सरक जाता है, तो १० मिनट में वह कितने फुट बढ़ेगा।	३०		सही

प्रतिक्रिया काल का औसत जितना समय कुल (जैसे चार प्रश्न के लिये ४० सैकण्ड) हो, उसे प्रश्नों की संख्या से भाग देकर निकाल लेना चाहिए।

प्रयोग क्रम संख्या ३ व ४

अवधान का विस्तार तथा पढ़ने में प्रत्यक्षीकरण का अध्ययन करना

तिथि............दिन...........समय...........

परीक्षण अवधि.........बजे से...........बजे तक

परीक्षार्थी का नाम...........

परीक्षार्थी की सामान्य दशा.........(थकान, स्वास्थ्य आदि)

समस्या—(१) सार्थक और निरर्थक शब्दों के सम्बन्ध में परीक्षार्थी के ध्यान विस्तार की परीक्षा करना।

(२) पढ़ने के क्रम को समझना।

(३) प्रत्यक्षीकरण में परिस्थिति को सम्पूर्णतया ध्यान में लाना।

उपकरण—१: टैचिस्टेस्कोप—(यह एक यन्त्र का नाम है। इसमें एक पर्दा लगा होता है। उसके बीच में एक छेद रहता है। उस छेद में से परीक्षक अक्षर व शब्द एक निश्चित समय तक दिखाता है।

२. विशेष प्रकार के बने हुए सार्थक व निरर्थक शब्दों के कार्ड।

निरर्थक शब्द—

दो अक्षर	भट,	डम,
तीन अक्षर	प ल श	य म द
चार अक्षर	ल प त द	ट क प च
पाँच अक्षर	त थ र ख न	क द ल च ख
छः अक्षर	व ट श ड़ ल न	श ह म य छ य

सार्थक शब्द—

दो अक्षर	पंखा	मुर्गा-
तीन अक्षर	तरल	कदम
चार अक्षर	मदरसा	सरसता
पाँच अक्षर	रसोईखाना	घर पर जा
छः अक्षर	राष्ट्रपति-भवन	परीक्षण गति

विधि—परीक्षक सभी प्रकार के कार्ड अपने पास रखता है। परीक्षार्थी को सब बातें अच्छी तरह समझाई जाती हैं। परीक्षार्थी टेचिस्टोस्कोप के सामने आराम से बैठकर टेचिस्टोस्कोप के छेद से देखता है। परीक्षक परीक्षार्थी को सावधान कर देता है। फिर उस छेद को आधे सैकण्ड के लिए खोल दिया जाता है। यदि वह दिखाये गये कार्ड को ठीक से पढ़ लेता है तो उसको उससे अधिक बड़े अक्षर दिखाये जाते हैं। इस प्रकार जब तक वह सफल रहता है तब तक उससे बड़ी संख्या के शब्द दिखाये जाते हैं। उपरोक्त दो प्रकार के अक्षरों के अतिरिक्त परीक्षक कुछ गलत शब्द भी दे सकता है।

परीक्षक विवरण—

क्रम सख्या	अक्षर व शब्द जो दिखाये गये	अक्षर व शब्द जो पढ़े गये	शुद्ध का प्रति
३	ल प द त	ल प द त	१००
	त थ र ख न	त थ र ख न	१००
	ब ट श ड़ ल न	व प म ट ल	५०
	राष्ट्रीय-भवन	राष्ट्रीय-भवन	१००

इससे विभिन्न बातों का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ—

१. परीक्षार्थी का निरर्थक शब्दों का ध्यान विस्तार ५ है, जबकि सार्थक शब्द जोकि छः अक्षरों के बने हुए थे, को परीक्षार्थी पढ़ने में सफल हो जाता है।

प्रयोग क्रम संख्या ५

याद करने की विधियाँ

याद करने की प्रमुख तीन विधियाँ हैं :

(१) खण्ड, समग्र, मिश्रित, प्रगतिशील विधि ।

(२) विभक्त तथा अविभक्त विधि ।

(३) पठन तथा उदाहरण ।

खण्ड तथा समग्र विधि—किसी कविता को एक साथ, पहली पंक्ति से अन्तिम पंक्ति तक याद करना समग्र विधि कहलाता है और यदि उस कविता को कुछ भागों में बाँट कर एक भाग अलग से याद किया जाय, तो उसे खण्ड विधि कहेंगे ।

कविता के कठिन भागों को खण्ड विधि से याद करने की आवश्यकता होती है क्योंकि समग्रविधि में सरल भागों को भी उतनी बार दुहराना पड़ता है, जितनी बार कठिन भागों को । इसमें समय तो अधिक लगता ही है, मन भी [illegible] है ।

समग्रविधि से पूरी कविता को एक साथ पढ़ने से [illegible] समझा जा सकता है । खण्ड विधि द्वारा याद करने पर [illegible] अंश आता है, इसके बतलाने में भी कठिनाई हो जाती है ।

दोनों विधियों को मिलाकर मिश्रित विधि का अनुसरण करके याद करना सरल है । कविता को पहले एक-दो बार अच्छी तरह [illegible] । फिर सुविधानुसार उसके खण्ड कर लेने चाहिए । इन खण्डों को अलग-अलग याद कर लेना चाहिए । अन्त में पूर्ण कविता को दो-तीन बार याद कर लेना चाहिए । इस विधि के द्वारा याद करने में समय कम लगता है । खण्ड और समग्र विधि की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं ।

प्रगतिशील विधि—गोपालस्वामी महोदय ने याद करने की [illegible] विधि का उल्लेख किया है । इसमें कविता को पहले तीन या चार खण्डों में विभाजित किया जाता है । सबसे पहले खण्ड को याद करते हैं फिर दूसरे को, तत्पश्चात् पहले और दूसरे को, फिर तीसरे को याद करते हैं और फिर पहले, दूसरे, तीसरे को साथ साथ याद करते हैं ।

विभक्त और अविभक्त विधि—परीक्षणों से पता चलता है कि यदि हम कविता को याद करने के लिए एक ही बैठक में [illegible] तो वह उतना लाभदायक नहीं होगा जितना २ या ३ दिन में रोज [illegible] ।

जोस्ट महाशय ने इस प्रकार का प्रयोग निरर्थक शब्दों के याद करने में किया है ।

२४ बार पढ़ना बांटा जाना	अ के नम्बर	ब के नम्बर
३ दिन तक प्रतिदिन ८ बार पढ़ना	१८	[illegible]
४ दिन तक प्रतिदिन ६ बार पढ़ना	३६	[illegible]
२ दिन तक प्रतिदिन १२ बार पढ़ना	५३	[illegible]

निरर्थक शब्द—

दो अक्षर	भट,	डम,
तीन अक्षर	प ल श	थ म द
चार अक्षर	ल प त द	ट क प च
पाँच अक्षर	त थ र ख न	क द ल च ख
छः अक्षर	व ट श ड़ ल न	श ह म य छ य

सार्थक शब्द—

दो अक्षर	पंखा	मुर्गा
तीन अक्षर	तरल	कदम
चार अक्षर	मदरसा	सरसता
पाँच अक्षर	रसोईखाना	घर पर जा
छः अक्षर	राष्ट्रपति-भवन	परीक्षण गति

विधि—परीक्षक सभी प्रकार के कार्ड अपने पास रखता है। परीक्षार्थी को सब बातें अच्छी तरह समझाई जाती हैं। परीक्षार्थी टेचिस्टोस्कोप के सामने आराम से बैठकर टेचिस्टोस्कोप के छेद से देखता है। परीक्षक परीक्षार्थी को सावधान कर देता है। फिर उस छेद को आधे सैकण्ड के लिए खोल दिया जाता है। यदि वह दिखाये गये कार्ड को ठीक से पढ़ लेता है तो उसको उससे अधिक बड़े अक्षर दिखाये जाते हैं। इस प्रकार जब तक वह सफल रहता है तब तक उससे बड़ी संख्या के शब्द दिखाये जाते हैं। उपरोक्त दो प्रकार के अक्षरों के अतिरिक्त परीक्षक कुछ गलत शब्द भी दे सकता है।

परीक्षक विवरण—

क्रम सख्या	अक्षर व शब्द जो दिखाये गये	अक्षर व शब्द जो पढ़े गये	शुद्ध का प्रति
३	ल प द त	ल प द त	१००
	त थ र ख न	त थ र ख न	१००
	ब ट श ड़ ल न	व प म ट ल	५०
	राष्ट्रीय-भवन	राष्ट्रीय-भवन	१००

इससे विभिन्न बातों का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ—

१. परीक्षार्थी का निरर्थक शब्दों का ध्यान विस्तार ५ है, जबकि सार्थक शब्द जोकि छः अक्षरों के बने हुए थे, को परीक्षार्थी पढ़ने में सफल हो जाता है।

प्रयोग क्रम संख्या ५

याद करने की विधियाँ

याद करने की प्रमुख तीन विधियाँ हैं :

(१) खण्ड, समग्र, मिश्रित, प्रगतिशील विधि।
(२) विभक्त तथा अविभक्त विधि।
(३) पठन तथा उदाहरण।

खण्ड तथा समग्र विधि—किसी कविता को एक साथ, पहली पंक्ति से अन्तिम पंक्ति तक याद करना समग्र विधि कहलाता है और यदि उस कविता को कुछ भागों में बाँट कर एक भाग अलग से याद किया जाय, तो उसे खण्ड विधि कहेंगे।

कविता के कठिन भागों को खण्ड विधि से याद करने की आवश्यकता होती है क्योंकि समग्रविधि में सरल भागों को भी उतनी बार दुहराना पड़ता है, जितनी बार कठिन भागों को। इसमें समय तो अधिक लगता ही है, मन भी उकता जाता है।

समग्रविधि से पूरी कविता को एक साथ पढ़ने से पूरा अर्थ अच्छी तरह समझा जा सकता है। खण्ड विधि द्वारा याद करने पर किस अंश के बाद कौन-सा अंश आता है, इसके बतलाने में भी कठिनाई हो जाती है।

दोनों विधियों को मिलाकर मिश्रित विधि का अनुसरण करके याद करना सरल है। कविता को पहले एक-दो बार अच्छी तरह देख लेना चाहिए। फिर सुविधानुसार उसके खण्ड कर लेने चाहिए। इन खण्डों को अलग-अलग याद कर लेना चाहिए। अन्त में पूर्ण कविता को दो-तीन बार याद कर लेना चाहिए। इस विधि के द्वारा याद करने में समय कम लगता है। खण्ड और समग्र विधि की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

प्रगतिशील विधि—गोपालस्वामी महाशय ने याद करने की उत्तरोत्तर विधि का उल्लेख किया है। इसमें कविता को पहले तीन या चार भागों में विभाजित किया जाता है। सबसे पहले खण्ड को याद करते हैं फिर दूसरे को, तत्पश्चात् पहले और दूसरे को, फिर तीसरे को याद करते हैं और फिर पहले, दूसरे, तीसरे को साथ-साथ याद करते हैं।

विभक्त और अविभक्त विधि—परीक्षणों से पता चलता है कि यदि हम कविता को याद करने के लिए एक ही बैठक में तीन या चार घण्टे लगा देंगे तो वह उतना लाभदायक नहीं होगा जितना ६ या ७ दिन से रोज बीस-बीस बार पढ़ना।

जोस्ट महाशय ने इस प्रकार का प्रयोग निरर्थक शब्दों के याद करने में किया है।

२४ बार पढ़ना बांटा जाना	अ के नम्बर	ब के नम्बर
३ दिन तक प्रतिदिन ८ बार पढ़ना	१८	७
४ दिन तक प्रतिदिन ६ बार पढ़ना	३९	३१
२ दिन तक प्रतिदिन १२ बार पढ़ना	५३	५५

विभक्ति विधि द्वारा पढ़ने में थकान वहुत कम होती है। यदि हम किसी विषय को थोड़ी देर के बाद छोड़ देते हैं, तो अवकाश के समय भी उस विषय के संस्कार मन में दृढ़ होते रहते हैं।

पठन और उदाहरण—इसमें पढ़ी हुई कविता को पुस्तक बन्द करके दोहराते हैं, जहाँ भूलते हैं वहाँ पुस्तक देख लेते हैं।

दोनों विषयों पर गेटस महाशय ने परीक्षण करके यह निष्कर्ष पाया कि पठन की विधि की अपेक्षा उदाहरण में जल्दी याद किया जा सकता है, विधियों पर प्रयोग करके उसका परिणाम निम्न प्रकार से याद करने की सूची तैयार करनी चाहिए।

तिथि.......................दिन..............................समय.................

परीक्षार्थी..............विषय का नाम......................

कविता का विवरण	कविता की लम्बाई	किस विधि द्वारा याद किया	कितना समय लगा

तालिका से परिणाम का निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

प्रयोग क्रम संख्या ६

प्रयत्न व भूल की विधि द्वारा सीखना

तिथि.......................दिन...................समय..................

परीक्षण अवधि................बजे से.............बजे तक............

परीक्षार्थी का नाम......................................

उद्देश्य—प्रयत्न व भूल विधि से सीखने में हाथ और आंख के समन्वय को समझना।

थार्नडाइक के अभ्यास और प्रभाव के फलस्वरूप सीखने के नियम की प्रमाणिकता को समझना।

उपकरण—दर्पण, बन्द घड़ी, अक्स करने के लिए कागज, दफ्ती का स्क्रीन, दोहरी रेखा का अक्स किये जाने वाला चित्र, पिन। सबसे पहले परीक्षक चित्र को अक्स किये जाने वाले कागज पर पिन की सहायता से लगाता है। अब इसमें परदे को इस प्रकार लगाया जाता है कि चित्र की शीशे में केवल परछाईं दिखायी दे। इसी प्रतिबिम्ब को देखकर परीक्षार्थी को चित्र बनाना है। चित्र के बीचोंबीच एक निशान (×) लगा दिया जाता है और इस निशान की सीध में सिरे की ओर एक और निशान बना लेता है।

शुरू करने का आदेश पाने पर परीक्षार्थी पैंसिल × चिन्ह से ट्रेस करना आरम्भ कर देता है। शीशे की सहायता से घड़ी की सुई की दिशा की तरफ चलकर फिर उसी बिन्दु पर आ जाना होता है। चित्र को जल्दी से ट्रेस करने की कोशिश की जाती है परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कम से कम गलती हो। जब परीक्षार्थी प्रारम्भ बिन्दु पर पहुँच जाता है तो बन्द घड़ी में समय नोट कर लिया जाता है। यदि पैंसिल दो रेखाओं से बाहर चली जाये तो उसकी भूल गिनी जाती है। परीक्षार्थी शीशे में देखकर अपनी भूल समझकर फिर अपनी पैंसिल ठीक स्थान पर ले जाता है। यह प्रयोग कई प्रकार किया जा सकता है। कुछ प्रयत्न बांये हाथ से और कुछ दांये हाथ से किए जाते हैं।

परीक्षण का विवरण—

प्रयास का क्रम	हाथ	समय	भूलों की संख्या	अन्तर्दर्शन
१ २ ३ ४ ५	बायाँ या दायाँ			
१ २ ३ ४ ५				

निष्कर्ष—सीखने की वक्र रेखा को खींचने के लिए दो ग्राफ (१) परीक्षण में व्यय हुए समय को, और (२) प्रयास में ये गलतियाँ दिखाने के लिए बनाये जाते हैं। परीक्षण को देखकर यह ग्राफ बनाने से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं :

(१) पहले-पहल पैंसिल का चलाना कठिन होता है और पैंसिल बार-बार रेखाओं पर से जाती है व हाथ शीशे में देखी गई दिशा के विपरीत होता है।

(२) कार्य नया होने के कारण भूलों का होना स्वाभाविक है।

(३) पहले प्रयास में समय की अवधि तथा भूलों की संख्या सबसे अधिक आती है।

(४) धीरे-धीरे आँख और हाथों में सहयोग होने लगता है।

(५) दोनों हाथों के लिए गये समय की तुलना करने में ज्ञात होता है कि प्राणी को मस्तिष्क की केन्द्रीय क्रिया-शीलता के कारण दाहिने हाथ से प्रयास कर लेने पर बांये हाथ से करने में थोड़ी आसानी हो जाती है अथवा बांये हाथ से प्रयास का दांये हाथ पर प्रभाव पड़ता है।

प्रयोग क्रम संख्या ७
Learning by Substitution method
(स्थापना विधि द्वारा सीखना)

तिथि·······दिन·······समय·······

परीक्षण अवधि·······बजे से·······बजे तक·······

परीक्षार्थी का नाम·······

समस्या—सीखने की वक्र रेखा का अध्ययन करना।

उपकरण—बन्द घड़ी और छपे अक्षरों की सूची जिसकी तालिका ऊपर दी हुई हो। सूची और तालिका निम्न भाँति बनाई जा सकती हैं :

तालिका—म ल च त ख म ग र क त
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

सूची—च ग त क व ट ल र म ख
क त च ट म ग च ल व त
व ग ट ल क त ग ख च त इत्यादि

विधि—यह परीक्षण सामूहिक रूप से किया जा सकता है। यदि यह परीक्षण कक्षा के सभी विद्यार्थियों पर करना हो, तो उतनी ही सूचियां तैयार कर लेनी चाहिये फिर प्रत्येक विद्यार्थी को एक-एक सूची तालिका दे देनी चाहिये। उनको परीक्षक सारी परीक्षा विधि पहले ही समझा दें। सूची में दिये गए अक्षरों के नीचे तालिका के अनुसार मूल्य देने होते हैं। परीक्षक उनको आरम्भ करने का आदेश देता है और ३० सेकण्ड के पश्चात् वह उन्हें बन्द करने का आदेश देता है। फिर ३० सैकण्ड तक परीक्षार्थी आराम करता है। फिर कार्य आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार अन्त तक परीक्षक ३० सैकण्ड तक आराम तथा ३० सैकण्ड तक कार्य करने को देता है।

विवरण—एक विद्यार्थी के कार्य अंकपत्र।

	१ मिनट							
विद्यार्थी क्रम—	१	२	३	४	५	६	७	८
संख्या	१	१३	१४	१५	१४	१६	२०	१८	२०
	२	....	....	....	....	....	....	....	....

इसी प्रकार अन्य विद्यार्थियों के अंक लिखे जा सकते हैं।

पूरी कक्षा की सीखने की गति का औसत अंकों को जोड़कर विद्यार्थियों की संख्या से भाग देकर निकाला जा सकता है या इन्हीं को ग्राफ के रूप में चित्रित करके ज्ञात कर सकते हैं।

निष्कर्ष—वक्र रेखा से मालूम पड़ता है कि सीखने की रफ्तार पहले बहुत

धीमी होती है। कुछ अभ्यास हो जाने से सीखने की गति तीव्र हो जाती है और वक्र रेखा पर चढ़ती है। इसके बाद सीखने की गति फिर धीमी हो जाती है।

प्रयोग क्रम संख्या ८

तात्कालिक स्मृति विधि—श्रवण और दृष्टि सम्बन्धी

तिथि.......दिन.......समय.......

परीक्षण अवधि.......बजे से.......बजे तक

परीक्षार्थी का नाम.......

समस्या—क्या विभिन्न मनुष्यों की तात्कालिक स्मृति विभिन्न होती है? क्या उनमें बहुत अन्तर होता है?

उद्देश्य—किसी व्यक्ति की तात्कालिक स्मृति का पता लगाना। विभिन्न वर्गों अथवा आयु के मनुष्यों की तात्कालिक स्मृति का पता लगाना।

उपकरण—(i) मेट्रोनोम (समय नापने वाला यंत्र)

(ii) अंकों की सूची (उदाहरण नीचे दिए गए हैं)

सुनने के लिए

i. (अ) अंक सीधे क्रम में :

दो अंक ३—५, ६—६, १०—१२, ११—१३ आदि।

तीन अंक ३—७—१०, ६—८—६, ७—६—१० आदि।

चार अंक १—४—६—८, ३—६—८—१०, ४—७—६—१४, ६—६—१३—१५ आदि, आदि।

(ब) अंक उल्टे क्रम में—(परीक्षार्थी अंकों को उल्टे क्रम में बोले)

दो अंक ३—७, ५—८, ८—११

तीन अंक १—२—५, ४—७—८, ५—८—११

ii. (अ) अक्षर सीधे क्रम में—

दो—A—C, D—E, B—D, G—I

तीन—A—D—E, B—D—E, K—O—P

चार—B—E—I—O, A—D—G—K, L—O—R—T आदि, आदि।

(ब) अक्षर उल्टे क्रम में—(परीक्षार्थी उन्हें उल्टे क्रम में बोले)।

दो—A—C, P—L, G P

तीन—A—C—D, F—P—Q, H—P—M आदि, आदि।

चार—A—B—E—H, B—D—E—H, D—F—H—M आदि, आदि।

यदि परीक्षार्थी को अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषा का ज्ञान हो, तो उसे उसी भाषा के अक्षर देने चाहिये।

दृष्टि के लिए—

अक्षरों के नमूने

A H N O H F Q I M

P S T K N M P G H

Z X H Z B P O C L

T X W K

L Y F H

Z V N

विधि—परीक्षार्थी के आराम से बैठ जाने पर परीक्षक परीक्षार्थी को अंक सुनाता है और परीक्षार्थी उन्हें दुहराने लगता है। पहले यह सीधे दुहराने के लिए होता है और बाद में उल्टा-परीक्षक अंकों की संख्या को बढ़ाता जाता है। जब परीक्षार्थी उन अंकों के दोहराने में असमर्थ होता है, तो परीक्षक शब्दों की वह संख्या नोट कर लेता है जो परीक्षार्थी दुहरा लेता है परन्तु उससे बड़ी संख्या नहीं दुहरा पाता। इस प्रयोग को कई बार किया जाता है। परीक्षार्थी को आदेश दिया जाता है कि वह संख्या की प्रतिमा को मस्तिष्क में लाने का प्रयत्न करें और जैसे संख्या बोली जाती है वैसे ही उन्हें दुहरायें।

जब परीक्षार्थी की उस शब्दों की संख्या का पता चल जाता है जहाँ से आगे उसकी स्मृति असमर्थ होती है तो उसका औसत ले लिया जाता है। परीक्षार्थी का अन्तदर्शन के लिए भी कहा जाता है।

श्रवण प्रयोग के समान ही दृष्टि प्रयोग भी किया जाता है। इससे परीक्षार्थी के सम्मुख लिखे अंक रखकर उन्हें दोहराने के लिए कहा जाता है। समय को मेट्रोनोम से ज्ञात करते हैं।

प्रयोगों को निम्न तालिका में नोट कर लिया जाता है—

निरीक्षण—

क्रम संख्या	संख्याएँ व अक्षर जो पढ़े गये अथवा दिखाये गये	संख्या अक्षर या चित्र जिन्हें दुहराया गया	स्मृति का विस्तार	अन्तदर्शन	टिप्पणी
१					सफलता
२					
३					असफलता
४					
५					

सावधानियां—

(१) परीक्षक परीक्षार्थी को किसी उत्तेजित स्थिति में न रखे। उसका पूर्ण स्वस्थ होना आवश्यक है।

(२) परीक्षक का उच्चारण पूर्णतया स्पष्ट हो।

(३) परीक्षक सब अंकों व शब्दों को एक लय में बोले। किसी अंक व अक्षर पर दबाव न दे।

(४) अक्षर, अंक या चित्र दिखाते समय समयांतर बराबर होना चाहिये। किसी भी वस्तु को विभिन्न समय तक न दिखाया जाये।

प्रयोग क्रम संख्या ६
स्थायी स्मृति विधि

तिथि········दिन········समय········

परीक्षण अवधि········बजे से········बजे तक

परीक्षार्थी का नाम··················

समस्या—परीक्षार्थी की स्थायी स्मृति का अध्ययन करना। क्या यह सीमित होती है ? क्या विभिन्न मनुष्यों की स्थायी स्मृति विभिन्न होती है ?

उद्देश्य—परीक्षार्थी की स्थायी स्मृति का अध्ययन या विभिन्न मनुष्यों की स्थायी स्मृति का अध्ययन।

उपकरण—Stop Watch (विराम घड़ी), कागज, पेंसिल, असम्बन्धित शब्दों के जोड़े।

४ जोड़े	८ जोड़े	१२ जोड़े
(१) पैंसिल—पत्ता	(१) कालेज—कागज	(१) लोटा—फीता
(२) घड़ी—घोड़ा	(२) पतंग—पत्थर	(२) गिलास—घास
(३) कमल—पैर	(३) साधू—इनाम	(३) चीनी—कोयला
(४) सोना—लड्डू	(४) स्कूल—मेंढक	(४) उल्लू—जहाज
	(५) लड़की—किताब	(५) बैंगन—मलाई
	(६) खटोला—भैंस	(६) चाट—दीपक
	(७) कागज—कुत्ता	(७) कोयल—मकड़ी
	(८) तितली—घर्म	(८) मलाई—मोटर
		(९) बिल्ली—बनमानुष
		(१०) बन्दर—राम
		(११) मधु—चींटी
		(१२) मच्छर—प्याला

विधि—परीक्षार्थी को चाहिए कि परीक्षक की ओर ध्यान से सुने। परीक्षक म परीक्षार्थी को आश्वस्त कर ले।

परीक्षक घड़ी की सहायता से नियत अवधि के अन्दर शब्दों के जोड़ों को दुहराता है। परीक्षार्थी ध्यान से सुनकर परीक्षक के सब शब्दों को सुना देता है। प्रत्येक जोड़े के पहले अक्षर को बोलता है और परीक्षार्थी पूरा जोड़ा दुहराता है। इसी प्रकार सारे जोड़ों को परीक्षार्थी बताता है। परीक्षार्थी को प्रत्येक शब्द जोड़े को लिखने के लिए ५ सेकंड का समय दिया जाता है। बोलने के स्थान पर लिखना अधिक उपयोगी होता है।

प्रत्येक जोड़े को कम से कम ५ बार दुहराना चाहिए और परीक्षक को नोट करना चाहिए कि परीक्षार्थी कितने शब्दों को सही-सही दुहराता है।

यह प्रयोग १, २, ३..................आदि दिनों या सप्ताह बाद करना चाहिए। इससे निश्चित होगा कि समय और शब्दों की आवृत्ति में क्या सम्बन्ध है? समय और आवृत्ति का एक ग्राफ खींचकर निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

सावधानियाँ—

(१) परीक्षक का उच्चारण स्पष्ट होना चाहिए।

(२) किसी अक्षर पर दवाव अधिक न हो।

(३) समय का ध्यान रखना आवश्यक है।

(४) प्रयोग समय के समान अन्तर के बाद करना चाहिए।

(५) ग्राफ शुद्धतापूर्वक बनाये जायें।

निष्कर्ष—इसमें परीक्षार्थी की स्थायी स्मृति को अंक में प्रदर्शित कर सकते हैं। विभिन्न पुरुषों, बालकों और स्त्रियों की स्मृति ज्ञात की जा सकती है।

प्रयोग क्रम संख्या १०

क्रमबद्ध रंग विरोध विधि

तिथि....................दिन....................समय....................

परीक्षण अवधि....................बजे से....................बजे तक

परीक्षार्थी का नाम..

समस्या—रंग सम्बन्धी प्रतिमा का पुरुष विशेष पर प्रभाव समझना।

उद्देश्य—क्रम बद्ध विरोध पश्चात् प्रतिमा की प्रक्रिया का अध्ययन करना।

उपकरण—मेज पर एक भूरे रंग के कागज का टुकड़ा N के आकार के विभिन्न रंग के कागज के टुकड़े, चतुर्भुज आकार के टुकड़े, रंग निम्नलिखित होने चाहिए :

हरे पर लाल, सफेद पर काला, बैंजनी पर पीला, नीले पर पीला। इन रंगों को उलटे क्रम में भी ले सकते हैं।

विधि—परीक्षार्थी मेज पर रखे भूरे कागज पर एक चिह्न लगा लेता है। तब परीक्षणकर्त्ता लाल पृष्ठभूमि पर कागज को इस प्रकार रखता है कि N के

बीच को चिह्न कागज के चिह्न पर गिरे। २० सैकिण्ड बाद परीक्षक कागजों को उठा लेता है। परीक्षार्थी भूरे रंग के कागज पर बने चिह्न को देखता रहता है।

उसके बाद परीक्षार्थी यह बताता है कि उसे कौन-कौन से रंग दिखाई देते हैं। परीक्षार्थी उस बिन्दु को उस समय तक देखता रहे जब तक कि उसकी संवेदना का अन्त न हो जाये।

रंग के 'दीखने' और 'न दीखने' की संख्या को लिखना चाहिए। उनकी एक तालिका तैयार करनी चाहिए।

यह प्रयोग प्रत्येक रंग के साथ क्रियान्वित किया जाय। 'दीखने' और 'न दीखने' की संख्याओं की तालिका बनाई जाय।

प्रत्येक परीक्षण के बाद परीक्षार्थी और परीक्षक अपना-अपना स्थान बदल लें।

निरीक्षण

क्रम संख्या	उद्दीपक का रंग	पश्चात् प्रतिमा का रंग	पश्चात् प्रतिमा का स्वरूप	समयान्तर और विचलन	दीखने का समय	निष्कर्ष
१					तुरन्त,	
२					कुछ, या	
३					कुछ समय के	
४					पश्चात्	
५						

सीमांसा—उपरोक्त प्रयोगों के निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बालक का ज्ञान किस स्तर पर पहुँच गया है, उसमें कितनी कमी है और मनोवैज्ञानिक विधि द्वारा किस प्रकार पूरी की जा सकती है? उसको पूरा करने के उपरान्त बालक की पूर्ति की जा सकती है। यदि सही तौर पर पूर्ति हो जाय तो बालक का विकास अवश्य उचित होगा और राष्ट्र का लाभ होगा।

अध्याय १६

मानव प्रवृत्तियाँ एवं उनका विकास

(Human Instincts & Their Developments)

प्रश्न ९०—प्रतिमा क्या है ? इसके कितने भेद हैं और शिक्षक के लिए इसका क्या महत्त्व है ?

भूमिका—प्राचीन काल में स्मृति को आत्मा की स्वतन्त्र शक्ति मानते थे। लेकिन आधुनिक मनोवैज्ञानिक युग में इस बात को स्वीकार नहीं करते। यह तो एक प्रमुख तथ्य है कि मनुष्य की आधारभूत शक्तियाँ ही पहले के अपने अनुभवों को याद रखती हैं। मनुष्य के संस्कारों पर उन अनुभवों की छाप लगी होती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स के मतानुसार :

"यदि स्मृति हमारे मानस की स्वतन्त्र शक्ति है तो केवल आज्ञा देने से ही हमें याद हो जानी चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मस्तिष्क में संस्कारों को संचित करने की एक प्रक्रिया होती है जिसे संचय शक्ति कहते हैं। मस्तिष्क के जिस भूरे भाग को कारटेक्स कहा जाता है वह असंख्य तन्तुओं से मिलकर बना है। उसमें हमारे अनुभव संचित होते हैं। अनुभव संचित ही नहीं होते बल्कि तन्तु कोष्ठों की रचना में परिवर्तन भी करते हैं। यह परिवर्तन संस्कार लेखन कहलाता है। यही संस्कार जब भी अपने पूर्व स्वरूप में जागरूक होते हैं तो प्रतिमा कहलाते हैं।"

प्रतिमा के भेद—मानव शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हीं के आधार पर प्रतिमाएँ भी पाँच ही प्रकार की होती हैं :

(१) दृष्टि प्रतिमा, (२) ध्वनि प्रतिमा, (३) स्पर्श प्रतिमा, (४) रस प्रतिमा, (५) गन्ध प्रतिमा।

दृष्टि प्रतिमा—कुछ व्यक्तियों की दृष्टि प्रतिमा अत्यन्त स्पष्ट और तीव्र होती है। किन्हीं-किन्हीं में तो वह प्रत्यक्षीकरण के रूप में पहुँच जाती है क्योंकि उन्हें यह अनुभव होने लगता है कि यह न तो कोरी कल्पना है और न ही विभ्रम। जो प्रतिमाएँ प्रत्यक्ष रूप में पायी जाती हैं उनको स्पष्ट दृष्टि प्रतिमा कहते हैं।

प्रतिमा की परीक्षा चित्र या वस्तु को देखकर जानी जाती है। चित्र या वस्तु से दृष्टि हटाने पर भी वही चित्र दिखायी देता है। बालक ऐसा ही देखता है जब कि प्रौढ़ व्यक्ति कुछ भी नहीं बता पाता।

किसी की दृष्टि प्रतिमा तीव्र होती है तो किसी की स्पर्श प्रतिमा। प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिमा विभिन्न होती है। निम्न वर्ग के प्राणी कुत्तों में गन्ध प्रतिमा तीव्र होती है। चींटी सूँघने की शक्ति तेज रखती है।

शिक्षा पर प्रभाव—शिक्षा पर प्रतिमाओं का प्रभाव उपयोगी सिद्ध होता है पूर्व प्रशिक्षित पाठ को याद रखने के लिए यह अनिवार्य है कि बालक प्रतिमाओं पर विशेष ध्यान दे। दूसरे की बात समझने के लिए प्रतिमा का प्रयोग करना चाहिए। शिक्षक का कर्तव्य हो जाता है कि वह यह ज्ञात करें कि बालक में कौन-सी प्रतिमा का बाहुल्य है उसी के आधार से शिक्षा दे।

तीव्रता जानने की विधियाँ—सर्वप्रथम शिक्षक बालकों से लाल रंग की वस्तुओं के नाम लिखाएँ। यह कार्य एक निश्चित समय में कराया जाय। तदनन्तर बालक से एक ही ध्वनि के शब्दों को उतने ही समय में लिखवाये। अन्य प्रतिमा सम्बन्धी कार्य भी उसी अवधि में लिखाये और समस्त प्रतिमा सम्बन्धी कार्यों की तुलना करके यह जाना जा सकता है कि बालक किस प्रतिमा में तीव्र है।

मीमांसा—शिक्षक यदि प्रतिमाओं का उपयोग नहीं करें तो बालकों की यह शक्ति नष्ट हो जाती है। शिक्षक इनका उपयोग करे और बालकों की प्रतिमाओं को प्रोत्साहित करे।

प्रश्न ९१—स्मृति में प्रत्यक्ष सम्बन्धों का क्या महत्व है? उदाहरण सहित प्रत्यक्ष सम्बन्धों के नियमों का वर्णन कीजिये। (उ० प्र० १९४३, ५१)

भूमिका—मस्तिष्क जब किसी वस्तु या पदार्थ की प्रतिमा बनाता है, तो उससे सम्बन्धित विभिन्न अन्य बातें स्वतः ही याद आ जाती हैं। फलतः यह प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों कर होता है। विद्वानों का मत है कि जब दो अलग-अलग वस्तु या पदार्थ एक साथ देखी जाती हैं तो नाड़ी मण्डल एवं मस्तिष्क में स्थित सम्बन्धित क्षेत्रों में कुछ परिवर्तन हो जाता है। और उन दोनों वस्तुओं के संस्कारों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। एक प्रकार के संस्कार जाग्रत होने के पश्चात् अन्य संस्कार भी अपने आप याद हो जाते हैं।

उपरोक्त मत शरीरशास्त्र के ज्ञाताओं का है परन्तु मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि विचारों का सम्बन्ध कुछ नियमों से नियन्त्रित होता है। भौतिक सम्बन्ध के कारण पूर्व समय में याद की गयी कविता जब पुनः दुहराते हैं तो उस काल की अन्य कविताएँ भी याद आ जाती हैं। उन्होंने इन सम्बन्धों के दो नियमों का उल्लेख किया है : (१) प्रत्यय सम्बन्ध का मुख्य नियम और (२) प्रत्यय सम्बन्ध का गौण नियम।

मुख्य नियम—मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न मत हैं। कुछ तो तीन प्रकार के नियम उल्लेख करते हैं और अन्य चार प्रकार के तो कुछ दो ही प्रकार के

नियमों को मान्यता प्रदान करते हैं। यहाँ तीन प्रकार के नियमों का उल्लेख करते हैं :

(१) अव्यवधानता।

(२) समानता।

(३) विरोध।

अव्यवधानता—एक साथ दो वस्तुओं को देखने से उनके संस्कार भी मस्तिष्क में एक साथ ही पड़ते हैं। फलतः दोनों का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कालान्तर में एक की याद आने पर दूसरे की याद स्वतः ही आ जाती है।

उदाहरणार्थ—मेरी शादी उस साल जनवरी में हुई थी जिस साल गाँधीजी की मृत्यु हुई थी। इसमें एक की याद आते ही दूसरी बात अपने आप याद हो जाती है। यही अव्यवधानता है। इसके भी दो भेद होते हैं : (१) देशगत और (२) कालगत।

जब दो वस्तुएँ एक ही स्थान पर पायी जायँ, तो यह सम्बन्ध देशगत कहलाता है; जैसे—कक्षा के किसी सहपाठी के मिलने पर अन्य सहपाठी की याद भी आ जाती है। एक ही समय पर घटित घटनाओं का सम्बन्ध कालगत कहलाता है। जैसे उपरोक्त वाक्य में गाँधीजी की मृत्यु और शादी का सम्बन्ध है।

समानता—इस नियम के अन्तर्गत यदि दो समान वस्तुएँ हैं तो एक की याद आने पर दूसरे की भी याद आ जाती है। जैसे दो भाइयों के समान आचरण एक दूसरे की याद दिला देते हैं। अहिंसा का शब्द बापू की याद दिला देता है। समानता के कई रूप हो सकते हैं। अर्थ समानता में एक शब्द जिसके दो अर्थ होते हैं दोनों की याद दिलाता है। एक ध्वनि यदि विभिन्न शब्दों की हो तो दोनों शब्द याद हो जाते हैं। उपमा अलंकर समानता के नियम के ही अन्तर्गत आता है।

विरोध—अनेक विद्वान विरोध के नियम को स्वतन्त्र नियम न मानकर समानता के नियम के ही निषेधात्मक रूप में मानते हैं। जिस प्रकार समानता एक की याद आने पर दूसरे की याद दिलाती है, इसी प्रकार परस्पर दो विरोधी वस्तुओं में से एक की याद आने पर दूसरे की याद आ जाती है। जैसे कुसुम स्त्री को देखने से सुन्दरि का आभास होता है।

गौण नियम—गौण नियम के पाँच भेद बताये गये हैं—

(१) नवीनता।

(२) पुनरावृत्ति।

(३) प्राथमिकता।

(४) प्रबलता।

(५) रुचि।

नवीनता—अनेक बातों के समान होने के साथ-साथ हमें पिछली बात की

याद ताजा बनी रहती है। जैसे—परीक्षा में जाने से पूर्व परीक्षार्थी का विचार रहता है कि अभी का याद किया हमें परीक्षा में सफलता देगा।

पुनरावृत्ति—जो बात कई बार दुहराई जाय वह याद रहती है। अर्थात् उसके संस्कार मस्तिष्क में स्थायी हो जाते हैं। एक बिछुड़े मित्र के मिलन पर दूसरे मित्र की भी याद आती है।

प्राथमिकता—जिन घटनाओं का प्रभाव हमारे शरीर या मस्तिष्क पर पड़ता है वह याद बनी रहती है। या यह कहा जा सकता है कि प्रथम प्रभाव ही अन्तिम भाव बन गया है।

प्रबलता—जिस विचार के याद आने पर उससे सम्बन्धित विचार याद आये तो प्रबलता के सम्बन्ध के कारण होता है।

रुचि—रुचिपूर्ण बात या पदार्थ का सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क में स्थायी हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों के आधार पर मनःस्थिति का निम्न पाँचवाँ ही नियम है। किसी बात की याद आने पर केवल रुचिपूर्ण बातें ही याद आती हैं।

प्रश्न ६२—अच्छी स्मरण शक्ति की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
(उ० प्र० १९४६, ४९ व ५०)

भूमिका—मानव का स्वभाव है कि पिछले अनुभव से वह लाभ उठाये। इस लाभ उठाने को ही स्मृति कहते हैं। विभिन्न विद्वानों ने स्मृति की परिभाषा विभिन्न रूप से की है।

जेम्स (James) महोदय ने स्मृति की परिभाषा व्यक्त करते हुए कहा है :

"स्मृति मानस की किसी पूर्वावस्था का ज्ञान है, जबकि वह चेतना में से एक बात निकल जाती है।"

प्रसिद्ध विद्वान वुडवर्थ (Woodworth) के मतानुसार :

"स्मृति सीखी हुई वस्तु का सीधा उपयोग है।"

जितनी भी स्मृति की परिभाषाएँ हैं सबका यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भूतकाल में किये गये अनुभव वर्तमान में दुहराना ही स्मृति कहलाता है।

स्मृति के लक्षणों को बतलाते हुए जेम्स महोदय का कहना है कि सुशिक्षित स्मृति प्रत्यय सम्बन्धों के सुसंगठन पर आश्रित होती है। कुछ व्यक्तियों को शीघ्र याद हो जाता है, दूसरों को देर से। अतः इसके चार प्रमुख लक्षण हैं :

(१) शीघ्र याद करना।

(२) देर तक याद करना।

(३) व्यर्थ की बातों को भूलना।

(४) उपादेयता।

स्मृति की दो विशेषताएँ हैं : (१) प्रत्यय सम्बन्धों का स्थायित्व और (२) संख्या। स्मृति के दो ही भेद हैं : (१) तत्कालीन और (२) स्थिर।

तत्कालीन स्मृति ही स्थिर-स्मृति होती है और स्थिर-स्मृति का आधार सम्बन्ध होते हैं। जिन वस्तुओं के प्रत्यय सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क में बन जाते हैं वहीं हमें याद रह सकती हैं।

शीघ्र याद करना—स्मृति का सर्वप्रथम लक्षण यह है कि विषय अति कम समय में याद हो जाय। बालक याद तो कर लेते हैं परन्तु कालान्तर में भूल जाते हैं अतः केवल शीघ्र याद करना ही अच्छाई नहीं, अच्छाई तो इसमें है कि याद किया हुआ विषय देर तक याद रहे। हम कह सकते हैं कि जल्दी याद करना और भूल जाना कोई विशेषता नहीं रखता। श्रेष्ठता और विशेषता यह है कि चाहे देर में जल्दी हो या जल्दी याद हो पर काफी देर तक याद रह सके।

देर तक याद रखना—ऊपर यह निष्कर्ष निकाला था कि देर तक याद रखना ही श्रेष्ठ है। जेम्स महोदय इसी लक्षण पर सम्बन्धों के स्थायित्व पर विशेष ध्यान देते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि कुछ व्यक्तियों की स्मृति इतनी तीव्र होती है कि बचपन की याद की गयी बुढ़ापे तक कंठाग्र रहती हैं।

व्यर्थ की बातों को भूलना—भूल जाना एक बुरी बात मानी जाती है। परन्तु अच्छी स्मृति के लिए बुरी या व्यर्थ की बातों का भूल जाना आवश्यक माना गया है। जीवन में समस्त सुखद बातें और अन्य व्यर्थ की बातें भी यदि याद रहें तो हमारी स्मृति में कार्य शिथिलता आ जायगी तथा मानसिक असन्तुलन उत्पन्न होगा। अतः व्यर्थ की बातों को भूल जाना ही उत्तम है।

उपादेयता—श्रेष्ठ स्मृति के लिए उपादेयता सर्वप्रमुख लक्षण है। बहुत शीघ्र याद हो जाना और देर तक याद बना रहना ही उचित नहीं बल्कि उपयोग के समय उसका स्मरण हो जाना भी आवश्यक है। समय पर याद न आये तो वह याद किया गया तत्व या बात बेकार है। कभी-कभी याद न आने पर माथा ठोंकते, पुस्तकें पलटते और दूसरों को याद दिलाने के लिए सहयोग माँगते तथा यह कहते देखा गया है कि "अरे याद ही नहीं रहा, मुँह में अटका है या जीभ पर रखा है, बाहर नहीं निकल रहा है।" अतः उपादेयता एक प्रमुख लक्षण है।

याद करने की विधियों तथा प्रयोगों का वर्णन प्रश्न ८९ में देखिए।

प्रश्न ९३—स्मृति के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए तथा नियमों का उल्लेख कीजिए।

स्मृति पहले किये गये कार्यों के संस्कारों से लाभ उठाना कहलाता है। मनुष्य में केवल संस्कार जागृत ही नहीं होते हैं बल्कि संस्कारों को पहचाना भी जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्याभिज्ञा और प्रत्याह्वान भी स्मृति के ही अंग हैं।

प्रमुख रूप से फ्रेंच दार्शनिक बर्गशॉ (Bergshaw) के मतानुसार स्मृति के दो विभाग हैं :

(१) आदत जन्य स्मृति।
(२) कल्पनात्मक स्मृति।
अन्य रूप--
(१) तात्कालिक स्मृति।
(२) स्थिर स्मृति।
(३) रटन स्मृति।
(४) तर्क स्मृति।
(५) सामान्य स्मृति।
(६) विशेष स्मृति।

इन समस्त विभागों की कोई निश्चित्त विभाग रेखा नहीं है। इन विभागों मे इतनी समानता एवं घनिष्टता है कि अलग-अलग कहना या विभाजन स्थापित करना कोई महत्त्व नहीं रखता है। जैसे—रटन स्मृति, तात्कालिक स्मृति या आदत जन्य स्मृति में अन्तर स्पष्ट नहीं होता है।

रटन-स्मृति—रटी हुई बात को रटन-स्मृति कहते हैं। शिक्षा में कंठाग्र करने का प्रचलन अत्यधिक बढ़ता जा रहा है। विद्यार्थी वर्ग अर्थ, प्रश्न, कविता आदि रट लेते हैं और परीक्षा के समय उगल देते हैं। इस विधि से याद करने का महान् दोष यह है कि यदि बीच में एक शब्द भी भूल जायँ तो सारा का सारा ही भूल जाते हैं।

तात्कालिक स्मृति—उसी समय का याद किया हुआ संस्कार लेखन के आधार पर हो, तो तात्कालिक स्मृति कहलाता है। तन्तु कोष्ठों पर संस्कारों का तात्कालिक प्रभाव डालने की शक्ति संस्कार प्रशक्ति कहलाती है। प्रत्येक मनुष्य में तात्कालिक स्मृति का विभिन्न रूप होता है। इसका प्रभाव अधिक समय तक स्थिर नहीं रहता। अतः इसे सत्य स्मृति नहीं कहा जा सकता है।

स्थिर स्मृति—इसका आधार तो प्रत्यक्ष सम्बन्ध होते हैं। इस विधि से अधिक समय तक याद रहता है। प्रत्यक्ष सम्बन्ध जितने अधिक दृढ़ होंगे, स्मृति भी उतनी ही स्थायी होगी। वास्तव में स्मृति तो प्रत्यक्ष सम्बन्धों पर आश्रित स्मृति होती है। प्रत्येक विचार एक दूसरे से सम्बन्धित होने के कारण रुचिपूर्ण होते हैं। अतः याद भी अधिक समय तक रहते हैं।

सामान्य स्मृति—किसी विषय को याद करके दोहराना सामान्य स्मृति कहलाता है।

विशेष स्मृति—किसी भूले हुए विषय के बारे में याद करना विशेष स्मृति कहलाता है।

प्रश्न ९४—स्मृति के अंगों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कीजिये कि यह किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है?

स्मृति के अंग--जेम्स महोदय के अनुसार—"स्मृति मानव की किसी पूर्वावस्था का ज्ञान है जबकि वह चेतना में से एक बार निकल जाती है।" पूर्व अनुभव के संस्कार हमारे तन्तु कोष्ठों पर पड़ते हैं और कालान्तर में पुनः जागृत होते हैं। विचारों एवं अनुभवों का साहचर्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। स्मृति का आधार यही साहचर्य है। स्मृति के प्रमुखतः चार अंग हैं :

(१) सीखना,
(२) संचित करना,
(३) प्रत्याह्वान,
(४) पहचान।

सीखना एवं संचित करना—प्रश्न ८९ में पूर्ण विवरण पढ़िये।

प्रत्याह्वान—पुराने अनुभवों का पुनः जागृत होना प्रत्याह्वान कहलाता है। इसमें प्रत्यक्ष सम्बन्ध के नियम कार्य करते हैं और जागृत प्रतिमायें पहचानी जा सकती हैं। अर्थात् किसी देखी हुई चीज को पुनः देखने पर कहा जा सकता है कि यह पहले किस समय और किस स्थान पर देखी जा चुकी है।

स्मृति को बढ़ाना—विद्वानों में स्मृति शक्ति के वढ़ाये जाने के विषय में विभिन्न मत हैं। इस विषय पर कई प्रयोग भी किये गये हैं, परन्तु एक ही निष्कर्ष प्राप्त हुआ है।

जेम्स (James) महोदय का कथन है कि परिश्रम चाहे कितना ही अधिक क्यों न किया जाय, मनुष्य की सामान्य संचय शक्ति वढ़ाई नहीं जा सकती है। संचय शक्ति एक प्राकृतिक देन है। इस पर शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का प्रभाव पड़ता है। जैसे—थकी हुई अवस्था में पढ़ा हुआ पाठ याद नहीं रहता है। विभिन्न व्यक्तियों का मत है कि प्रातः काल याद किया हुआ पाठ शीघ्र याद हो जाता है। उस समय शरीर व मस्तिष्क स्वस्थ व ताजा होता है।

स्टाइट (Staite) महोदय के अनुसार—सामान्य संचित शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं लगाया जा सकता, परन्तु विशेष शक्ति में सुधार अवश्य किया जा सकता है। उन्होंने उदाहरण दिया है—एक विद्यार्थी विज्ञान के नियमों को याद नहीं रख सकता है, परन्तु कविता अच्छी तरह याद कर सकता है। इसका कारण यही है कि बालक की कविता में रुचि अधिक होती है इसलिए ही याद बनी रहती है।

मैकडूगल और स्मिथ ने परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि अभ्यास करने से सामान्य शक्ति में परिवर्तन किया जा सकता है। उनका कथन है कि स्मृति के बारे में कुछ लिखते समय स्मृति के भिन्न-भिन्न अंगों का ध्यान रखना आवश्यक है। स्मृति के अंग याद करने पर तीसरे अंग पुनरावर्तन में निश्चयपूर्वक सुधार किया जा सकता है, परन्तु संचय शक्ति के प्रति निश्चय नहीं किया जा सकता है।

वैलन्टाईन ने अपने परीक्षणों के आधार पर कहा है कि स्मृति संक्रमण सम्भव है कि नहीं, अर्थात् यदि एक विषय को अच्छी तरह याद किया जा सकता है तो दूसरे विषयों को भी याद कर सकते हैं। कक्षा के तीन विभाग करके यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि अभ्यास से स्मरण शक्ति में वृद्धि हो सकती है।

मीमांसा—विभिन्न विद्वानों के विश्लेषण का अध्ययन करने पर यह पूर्णतया निश्चय किया जाता है कि स्मृति की वृद्धि के लिए विषय में रुचि बढ़ाना आवश्यक है। विचारों को सुस्पष्ट और सुसंगठित करने का प्रयास भी अति आवश्यक है।

प्रश्न ९५—बालकों को याद करने और याद न करने के विषयों का उल्लेख कीजिए।

भूमिका—बालक को इस बात का कोई ज्ञान नहीं होता है कि उसे किस बात, प्रसंग, कविता या कहानी को याद करना है और किसे नहीं। इस बात में विभिन्न विद्वानों में अनेकों मतभेद हैं। दूसरे समय के अनुसार भी विषयों की प्रधानता अथवा मान्यता भी बदल जाती है। अतः इस बात का निर्णय करना आवश्यक है कि बालकों को याद करने और याद न करने के विषय कौन-से हैं ?

आज से सदियों पहले स्मरण शक्ति पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उस समय लिखने का या पुस्तक के रूप में संग्रह करने का इतना प्रचलन न था। ऐतिहासिक, भौगोलिक तथ्यों को स्मरण करना भी आवश्यक माना जाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षाशास्त्र में तथ्यों का कंठाग्र करना प्रमुख उद्देश्य था।

तदनन्तर शिक्षा के उद्देश्यों के साथ स्मरण करने के विषय में भी परिवर्तन हुए। वर्तमान काल में कण्ठाग्र करने पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है अतः उसकी आवश्यकता में कमी आ गयी है। अब सोचने-विचारने का क्रम अधिक है। दूसरे प्रयोगात्मक कार्य और ज्ञान के अन्वेषण का महत्त्व बढ़ गया है अतः कंठाग्र करना कम हो गया है। बालकों को प्रयोग तथ्यों का संचय करना अधिक सिखाया जाता है। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य यह है कि बालक स्वयं ही अपने पाठ का प्रयोगात्मक विधि से अध्ययन करके नोट्स तैयार करे और जब तक याद न हो जायें अगला पाठ न पढ़े।

कंठाग्र करने योग्य विषय—बालकों को समस्त तथ्य एवं ज्ञान कण्ठाग्र करने आवश्यक हैं, इससे समय की बचत होती है। शैशवावस्था में पहाड़े अर्थात् गुणनफल एवं इकाइयाँ कण्ठाग्र करनी चाहिए। बाल्यावस्था में तारीख, मास, वर्ष, भूगोल में प्राकृतिक भूखण्ड एवं शहर आदि, तथा किशोरावस्था में रासायनिक चिन्ह, समीकरण आदि वैज्ञानिक तथ्य कंठाग्र, करने चाहिए। इससे समय की बचत के साथ-साथ भाषा की भी बचत होती है।

साधारणतया नवीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए यथेष्ट समय मिलता है। प्राचीन काल में तो नवीन ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षा का प्रमुख अंग था। आजकल

प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले तथ्य व ज्ञान कण्ठाग्र करने आवश्यक हैं परन्तु यह समस्त ज्ञान केवल संचित ज्ञान के रूप में ही होता है। उदाहरणार्थ बालक को भाषा में शुद्ध उच्चारण बोलना एवं सही शब्द लिखना आवश्यक है। शिक्षकों का कर्तव्य है कि बालक को सही भाषा लिखने के लिए प्रोत्साहित करें और उन्हें इसका पूरा-पूरा विवरण बोध करा दें।

भाषा ज्ञान के लिए व्याकरण एक आवश्यक अंग है, अतः व्याकरण के नियमों को कण्ठाग्र करना आवश्यक है। सही लिखने के लिए समय पर सही नियम याद होना आवश्यक है। व्याकरण के मूल नियम यन्त्र की तरह याद कर लेने चाहिए।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में विज्ञान का अध्ययन करने के उसके समस्त तथ्यों एवं नियमों को कण्ठाग्र करना आवश्यक है। याद करने के लिए तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान हो ताकि शीघ्र और सरलता से याद हो जायें।

प्रश्न ९६—कल्पना से आपका क्या अभिप्राय है? शिक्षा में इसका क्या प्रभाव पड़ता है? (उ० प्र० १९५४, ६१ व ६३)

भूमिका—शिक्षाशास्त्र में कल्पना का अभिप्राय कवियों की विचार शक्ति से लिया जाता है, परन्तु मनोविज्ञान में कल्पना का व्यापक अर्थ है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से-स्मृति भी एक कल्पना ही मानी गयी हैं।

परिभाषा—संकुचित अर्थ के अनुसार याद की हुई वस्तुओं को एक नवीन रूप देना ही कल्पना है। स्मृति में क्रम और रूप नहीं होता है जबकि कल्पना में क्रम और रूप से कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाता है। कल्पना की क्रिया एक मानसिक क्रिया है, परन्तु स्मृति की तरह यह देश एवं काल के बन्धन से मुक्त रहती है।

कल्पना एवं स्मृति का सम्बन्ध—कल्पना का आधार संसार के व्यावहारिक अनुभव होते हैं। कल्पना का विस्तार या प्रभाव कितना ही वृहत रूप क्यों न हो, आधार में परिवर्तन नहीं होता। मन उन्हीं कल्पनाओं की साकारता स्थिर करता है जिनका आधार इन्द्रियाँ ही होती हैं। कल्पना भविष्य का संकेत करती है, परन्तु स्मृति भूतकाल की याद दिलाती हैं।

कल्पना का शिक्षा पर प्रभाव—बचपन का भी एक काल्पनिक संसार होता है, जिसमें बालकों का राज्य होता है। बालक की कल्पना में वास्तविक संसार भी निहित होता है। उसकी दृष्टि में जो कुछ भी स्पष्ट प्रतिमायें साकार होती और मस्तिष्क पर प्रभाव डालती हैं वह सब वुद्धि और विवेक का प्रकाशन उसकी कल्पना द्वारा ही होता है। वास्तविक और कल्पना में अधिक अन्तर लाना बालक के लिए लाभदायक नहीं, अतः माता-पिता अथवा अभिभावक या शिक्षक का कर्तव्य है कि पठन-पाठन या खेल-कूद में बालक की कल्पना का उचित उपयोग किया जाय। बालक को डाँटने से उसके हृदय तथा भावनाओं पर आघात लगता है अतः मानसिक विकास के लिए बालक को उसकी कल्पना के लिए डाँटना अनुचित है।

प्रश्न ९७—प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृति और कल्पना की तुलनात्मक परिभाषा लिखिये। कल्पना का वर्गीकरण आप किस प्रकार करेंगे। (उ० प्र० १९५५)

प्रत्यक्ष ज्ञान—इन्द्रिय-संवेदन तभी होता है जब हमारा इन्द्रियों के सम्पर्क में वाह्य उत्तेजना आती है। स्मृति और कल्पना के सहारे ही संवेदन को प्रत्यक्ष अनुभव कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में स्मृति और कल्पना का हाथ रहता है, यह कहना अनुचित न होगा। अपने पुराने अनुभव की याद करके कल्पना द्वारा वर्तमान के अनुभव को पहचान कर ही हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

स्मृति—पूर्व संस्कारों एवं अनुभवों को किसी अवसर पर दुहराना स्मृति कहलाती है। स्मृति के चार अंग होते हैं: याद रखना, संचित करना, प्रत्याह्वान एवं पहचान। कल्पना और स्मृति में क्रम और रूप का अन्तर होता है। स्मृति की स्थान व काल की सीमा होती है जबकि कल्पना की नहीं। स्मृति को पूर्व अनुभव के आधार पर उसी क्रम और रूप में दोहराया जाता है, जबकि कल्पना में पूर्व अनुभव के आधार पर नवीन रचना की जाती है।

कल्पना—मानव के जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग कल्पना है। बिना इसके मनुष्य को कोई अनुभूति व ज्ञान ही नहीं होती है। कल्पना का महत्त्व मानसिक जीवन में अत्यधिक है।

मैकडूगल के मतानुसार कल्पना का वर्गीकरण

कल्पना पुनरुत्पादनात्मक और उत्पादनात्मक में कोई अन्तर नहीं है। कल्पना के प्रमुखतः दो भेद बताये हैं:

(१) रचनात्मक, और

(२) सृजनात्मक।

ड्रेवर के मतानुसार कल्पना का वर्गीकरण—प्रत्यक्ष ज्ञान मानसिक रूप से होता है। मूल में इसके दो भेद हैं: पुनरुत्पाद कल्पना या स्मृति और दूसरा उत्पादक कल्पना अर्थात् वास्तविक कल्पना। उत्पादक कल्पना भी दो प्रकार की होती हैं—(१) आदानात्मक और (२) सृजनात्मक। सृजनात्मक कल्पना के दो भेद हैं—(१) कार्य साधक और (२) सरल कल्पना। दोनों प्रकार के उपभेदों के दो-दो भेद और होते हैं। विचारात्मक और क्रियात्मक कार्य साधक के भेद हैं तथा कला सम्बन्धी और मन तरंगनी सरल कल्पना के भेद हैं। इसका सही अध्ययन निम्न तालिका से हो सकता है:
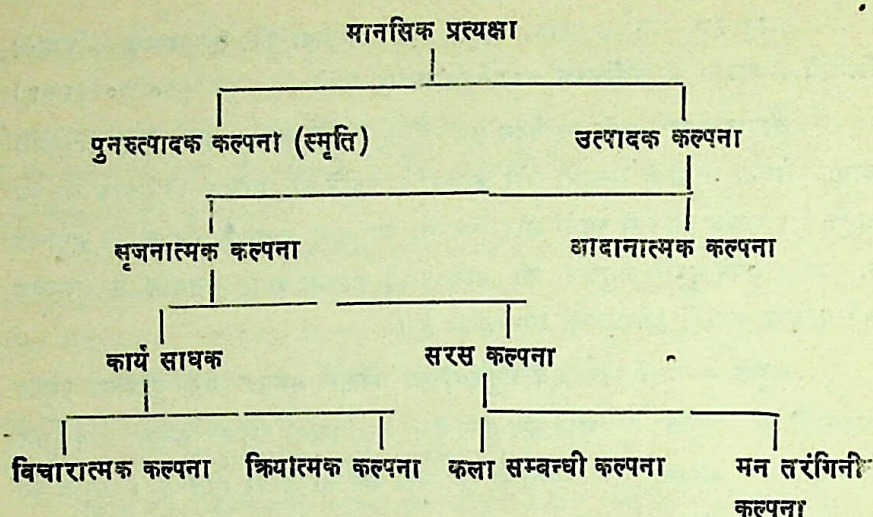
पुनरुत्पादक कल्पना—इसमें और स्मृति में समानता है कोई भेद नहीं।

उत्पादक कल्पना—वास्तविक कल्पना है जिसमें नई सृष्टि होती हैं।

आदानात्मक कल्पना—देखी हुई वस्तु के आधार पर किसी दूसरी वस्तु की कल्पना करना आदानात्मक कल्पना है। जैसे नारंगी का अनार बना देना।

सृजनात्मक कल्पना—किसी नई बात का सृजन करना सृजनात्मक कल्पना है।

कार्यसाधक कल्पना—लाभकारी कार्य का सृजन करना कार्यसाधक कल्पना है। जैसे मकान या बगीचे का नक्शा बनाना।

सरस कल्पना—साधारण कल्पना का सृजन करना सरस कल्पना है। जैसे कहानी लिखना।

विचारात्मक कल्पना—किसी नियम आदि की कल्पना करना विचारात्मक कल्पना है। जैसे अन्य ग्रहों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए नियम बनाना।

क्रियात्मक कल्पना—लाभकारी नियमों को कार्यान्वित करने की कल्पना करना क्रियात्मक कल्पना है। चन्द्रमा पर जाकर लौट आने का नियम बनाकर राकेट बना कर लौट आना।

कला सम्बन्धी कल्पना—सरस कल्पना के रूप में श्रेष्ठतम साहित्य का निर्माण करना कला सम्बन्धी कल्पना है।

मन तरंगिनी कल्पना—सरस कल्पना के अन्तर्गत हवाई किला बनाना मन-तरंगिनी कल्पना है जो केवल भविष्य के सपने ही दिखाती हैं।

प्रश्न ६८—बालक की कल्पना का विकास करने के लिए क्या उपाय करने चाहिए? (उ० प्र० १९६४)

भूमिका—आधुनिक वैज्ञानिक युग में कार्य-साधक ही महत्त्वपूर्ण है। जीवन

की विशाल और जटिल समस्याओं को सफलता प्राप्त करने के लिए बालकों को कार्य-साधक कल्पना का प्रोत्साहन मिलना अति आवश्यक है। बालक की कल्पना का विकास उसी अवस्था में सम्भव है।

विकास के लिए शिक्षक के कार्य—शिक्षक बालक की शिक्षा में साधक कल्पना और सरस कल्पना का उचित प्रयोग करें ताकि बालक की उन्नति हो। शिक्षालयों के निम्न क्रियात्मक कार्य अवश्य होने चाहिए :

(१) **प्रशिक्षण काल में परिवर्तन**—बालक शिक्षा कार्य से विमुख हो जाते हैं क्योंकि उन्हें लगातार मौखिक कार्य करना पड़ता है। अतः स्कूल कार्य में दो घण्टे प्रतिदिन हस्त-कार्य कराया जाना आवश्यक है। इससे बालकों की साधक कल्पना जाग्रत हो जाती है। वह हस्त कार्य सीखकर जीविकोपार्जन योग्य होते हैं और उनकी हीन भावना कम होती है।

(२) **सहानुभूति कल्पना का उपयोग**—स्कूल में बालक एक कैदी का सा व्यवहार पाने लगता है। इसमें आवश्यक परिवर्तन करना आवश्यक है। उसे स्वतन्त्र और स्वयं उत्तरदायित्व की भावना का जीवन व्यतीत करने का अवसर मिले तो बालक की साधक कल्पना को प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

प्रश्न ६६—मनोवृत्ति के पहलुओं का उल्लेख करते हुए इन्द्रिय संवेदन तथा संवेग का अन्तर स्पष्ट कीजिए। उनकी विशेषतायें भी बताइये।

(उ० प्र० १९५९ व ६१)

मनोविज्ञान हमारी मनोवृत्तियों का पूरा-पूरा ज्ञान कराता है। इससे हमें यह ज्ञान हो जाता है कि प्रत्येक मनोवृत्ति के तीन पहलू हैं :

(१) ज्ञानात्मक,

(२) भावात्मक और

(३) क्रियात्मक।

यह तीनों पहलू परस्पर भिन्न नहीं हैं। जैसे—भाव से हम ज्ञान को अलग नहीं कर सकते। यदि पेंसिल छीलते समय ब्लेड से हाथ कट जाये तो दर्द का अनुभव होता है। दुःख होता है और हमें ज्ञान द्वारा दवाई लगाने की आवश्यकता होती है।

समस्त प्राणी सुख, दुख, क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, राग आदि का अनुभव करते हैं। यह अनुभव भी दो प्रकार के होते हैं : (१) इन्द्रिय संवेदन और (२) संवेग। यदि पेट में दर्द हो या हाथ दब जाय तो इसके दर्द की अनुभूति हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती है अतः यह इन्द्रिय संवेदन है। भावों से उत्पन्न होने वाली जिसका मन से सम्बन्ध हो आन्तरिक अनुभूति संवेग कहलाती है। जैसे हमें कोई दुखद समाचार मिले समाचार सुनते ही दुख होगा। हमें खाना-पीना अच्छा नहीं लगेगा। यह संवेग की क्रिया है। मानसिक दुख का एक मिश्रित संवेदन जिसमें सुख-दुख की अनुभूति हो,

जिसकी उत्पत्ति भावों से हो संवेग कहलाता है। संवेग में शारीरिक क्रियायें होती हैं और विकारों के कारण उसमें गति भी हो जाती है।

मैक्डूगल महोदय ने संवेग के १४ भेद बतलाये हैं। डाक्टर भगवानदास के मतानुसार संवेगों के केवल दो भेद हैं। राग और द्वेष को वह दार्शनिक मानते हैं। हमारी प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का सम्बन्ध किसी न किसी संवेग से रहता है।

इन्द्रिय संवेग की विशेषताएँ—बचपन में भावों का अधिक विकास नहीं हो पाता है। इस अवस्था में समस्त संवेदन इन्द्रियाँ ही होता है। बालक भूख लगने पर रोता है, तब खाना मिलने पर चुप हो जाता है। बालक की यह इन्द्रिय संवेदन अत्यन्त स्वार्थमयी होती है।

बचपन में इन्द्रिय संवेदन की गति भी तीव्र होती है। बालक को भूख लगी तो वह खाना न मिलने तक रोता रहेगा। उसका अपने संवेदन पर कोई अधिकार नहीं, वह रोना रोक नहीं सकता।

दूसरे यह संवेदन अधिक समय तक स्थिर नहीं रहते। भूख लगने पर रोना प्रारम्भ कर देता है परन्तु खाना मिलते ही शान्त हो जाता है। या उसे किसी खिलौने से या सुन्दर दृश्य से बहलाया जाय तो चुप हो जाता है।

बालक को भूतकाल या भविष्य की चिन्ता नहीं होती। उसके समस्त इन्द्रिय संवेदन वर्तमान से सम्बन्धित होते हैं। काला कुत्ता देख कर डरता है, दीपक की लौ को छूने से डरता है। उसके दुःख-सुख का सम्बन्ध भावों से जुड़ने लगता है। दीपक की लौ को छूने से जल जाने पर या किसी अन्य व्यक्ति के डांटने पर वह दुख का अनुभव करता है। उसके संवेगों पर प्रभाव स्थायी होता है।

संवेगों की विशेषताएँ—संवेगों में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं :

(१) वैयक्तिक।

(२) संवेदनात्मक।

(३) क्रियात्मक।

(४) तीव्रता।

(५) शारीरिक प्रकाशन।

प्रत्येक प्राणी अपने दुःख-सुख की अनुभूति करता है। यह व्यक्तिगत अनुभूति आन्तरिक होती है। इस प्रकार के संवेग का जब तक शारीरिक प्रकाशन न हो, दूसरे व्यक्ति अनुभव नहीं कर सकते।

हमारे संवेदनात्मक सम्बन्ध उस व्यक्ति से स्थापित होते हैं जिसके साथ हमारे विचार व वस्तु द्वारा उत्पन्न संवेग का सम्बन्ध होता है।

उदाहरणार्थ—गली के पत्थर को तोड़ने या उठा ले जाने का हमें दुख न होगा परन्तु हमारे दरवाजे के आगे पड़े पत्थर के तोड़ने या उठा ले जाने का दुःख होगा क्योंकि उस पर पैर रखकर सीढ़ी का उपयोग करते थे। हमें उस पत्थर से प्यार या लगाव था।

जन साधारण की भाषा को संवेग क्रिया द्वारा ही प्रेषित माना गया है। किसी को पीटने पर क्रोधित होना या शेर को देखकर डरना। अतः पीटने एवं देखने की क्रिया के साथ क्रोध एवं डर का संवेग प्रेरित होता है। यह स्पष्ट है कि संवेग के साथ कर्म प्रेरणा जुड़ी रहती है। कार्य के पूर्ण हो जाने पर संवेग का आवेग स्वतः ही कम हो जाता है।

संवेग में सर्व प्रथम अधिक तीव्रता होती है। कभी व्यक्ति क्रोध, घृणा अथवा आवेग में आकर ऐसे कार्य भी कर लेता है जो जीवन-पर्यन्त हानिकारक बने रहते हैं। संवेग की तीव्रता इतनी भयानक होती है कि उस काल विचार शक्ति प्रायः लुप्त हो जाती है।

प्रायः यह देखा जाता है कि क्रोधित व्यक्ति के हाथ, पैर, आँखें भौंहें व साँस हिलती हैं, हाथों की मुट्ठी बंध जाती हैं, पैर·होंठ काँपने लगते हैं, साँस व खून का दौरा तीव्र हो जाता है। भौंहें तन जाती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि संवेग के समय व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक परिस्थिति स्थिर नहीं रहती, उसमें परिवर्तन अवश्य होते हैं। इस अवस्था में हमारी ग्रन्थियाँ असाधारण रूप से कार्य प्रारम्भ कर देती हैं। इस प्रसंग में जेम्स लैंग का कथन सत्य है कि शारीरिक विकारों के कारण ही हमें संवेग होते हैं।

प्रश्न १००—स्वस्थ संवेगात्मक शिक्षा के लिए किन बातों का होना आवश्यक है ?

भूमिका—बालकों को शिक्षा देते समय उन तत्वों की ओर विशेष ध्यान देना अति आवश्यक है, जो उन्हें लाभ पहुँचाये। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बालकों के शरीर पर संवेगों का पूर्ण प्रभाव रहता है अतः स्वस्थ संवेग बालकों के मानसिक विकास में अवश्य सहयोग प्रदान करेंगे। बालकों को शिक्षा देते समय स्वस्थ संवेगात्मक होना अति आवश्यक माना गया है। इस अवस्था में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये :

बालक को जो भी पुस्तक पढ़ाई जाय वह रुचिपूर्ण हो। पुस्तक सावधानी से लिखी जाय, छपाई सुन्दर हो और आकर्षक हो। तभी बालक उसे बार-बार पढ़ेगा और अध्ययन में यह क्रिया सहायक होगी।

आनन्द उत्पन्न होना एक वैयक्तिक वस्तु है। आनन्द का संवेगात्मक क्रिया से सम्बन्ध होता है, जो व्यक्ति को आनन्द और आंतरिक सुख की अनुभूति करता है। इसी कारण किसी वस्तु या पदार्थ को देखकर, पढ़कर या उस पर विचार-विमर्श करके, सुनकर हमें जो आनन्द प्राप्त होता है वह किसी अन्य श्रेष्ठ वस्तु से नहीं हो सकता। विद्वान् व अनुभवी व्यक्तियों के मतानुसार अन्य वस्तुएँ जैसे मित्र बनाना, कला की परख करना, सिनेमा या नौटंकी में भाग लेना व्यक्तिगत उत्कृष्टता या सनक है। अतः शिक्षा में रुचि उत्पन्न करने के लिए उत्कृष्ट भावना की ओर ध्यान देना अति आवश्यक है।

बालक में संवेगात्मक अनुभूतियों की प्रधानता रहती है, परन्तु युवावस्था में बौद्धिक आलोचना प्रारम्भ होती है। जैसे घर पर ड्रामा करना, राजा-रानी का खेल खेलना आदि अवस्था के ही कारण होते हैं न कि निर्बलता के द्योतक। अतः संवेगात्मक विकास के लिए बालक को प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

शिक्षक बालक के लिए एक सहपाठी है। बालक में आलोचना करने व कठिन विषय को समझने की शक्ति धीरे-धीरे आती है। अतः शीघ्रता करना व्यर्थ है। बालक बड़ा होने पर निस्वार्थ भाव से माँ का आदर स्वयं करने लगता है क्योंकि बचपन में माँ का प्यार मिलता है।

बालक की स्वयं कार्य करके सीखने की प्रवृत्ति होती है। वह दूसरों का अनुकरण भी करता है। बालक प्रोत्साहित होने पर स्वयं रचनात्मक कार्य करने लगता है। उसका ध्यान जिस पुस्तक में लगता है उसे बड़े ध्यान से पढ़ता है और नवीन बातें सीख लेता है। अतः स्वतः कार्य करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना आवश्यक है। बल्कि उनकी अधिक आलोचना करना हानिकारक होता है। प्रारम्भ में बालकों का ध्यान रचनात्मक कार्य में अवश्य लगाना चाहिये। उनकी प्रशंसा करके उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिये। यदि उनके कार्य में कोई त्रुटि हो तो समय-समय पर सुधारना आवश्यक ही नहीं उपयोगी भी है।

शिक्षा में साहित्य सम्बन्धी उपकरण देना आवश्यक होता है। इससे बालकों में रुचि और प्रेम बढ़ता है। आयु के अनुसार उपकरणों में परिवर्तन होता रहता है। उपकरण भी आकर्षक एवं ज्ञानवर्धक होने चाहिये तथा उस प्रकार के हों जो बालक को अनुभव करने से वंचित न रखें।

अनुभवों की पृष्ठभूमि जितनी विस्तृत होगी उतनी ही बालक में कला के कार्य को परखने की क्षमता उत्पन्न होगी। यदि बालक सस्ता साहित्य पढ़ेंगे तो अच्छे साहित्य से उनका मन हट जायगा, ऐसा कहना अनुचित है। समय-समय पर अन्य मित्रों के सहयोग में बालक में स्वतः ही परिवर्तन आ जायगा और वह अच्छे साहित्य की ओर उन्मुख होने लगेगा। उसे सस्ता साहित्य पुराना और एक सनकी के दिमाग की उपज लगने लगेगा।

मीमांसा—संवेगात्मक शिक्षा के लिए बालक को रुचिपूर्ण साहित्य, आकर्षक पुस्तकें और मनोरंजन के उपकरण के साथ-साथ शिक्षकों का व्यवहार, प्रोत्साहन और पुरस्कार मिलना अति आवश्यक तत्व हैं।

प्रश्न १०१—स्थायी भाव किसे कहते हैं ? आत्म-सम्मान का स्थायी भाव किस प्रकार बनता है ? **(उ० प्र० १९५५, ५७ व ५९)**

भूमिका—मनोवैज्ञानिक युग से पहले संवेग और स्थायी भाव में कोई अन्तर नहीं माना जाता था। कालान्तर में शैण्ड (Shand) महोदय ने स्थायी भाव की परिभाषा करते हुये व्यक्त किया हैं—स्थायी भाव संवेगात्मक भावनाओं का वह

संगठित रूप है जो किसी वस्तु के चारों ओर एकत्रित हो जाता है। जिन संवेगों का प्रभाव स्थायी होता है और उसका सम्बन्ध वस्तु विशेष से सम्बन्धित रहता है वही स्थायी भाव कहलाता है।"

उदाहरण—देश प्रेम एक स्थायी भाव है। देश की उन्नति सुनकर प्रसन्नता होती है। वाह्य आक्रमण या आन्तरिक तनाव, बाढ़, अकाल आदि के कारण हानि होने पर मन दुखी होता है। देशभक्त के लिए मन प्रेम तथा आदर से भर जाता है। देश की निन्दा करने वाले के प्रति मन क्रोधित होता है। इससे यह निर्णय होता है कि देश-प्रेम एक स्थायी भाव है और उसके साथ विभिन्न संवेगों का सम्बन्ध है।

बुरे तथा जटिल स्थायी भावों को ग्रन्थि कहते हैं। ऐसे स्थायी भाव शारीरिक एवं मानसिक विकारों के कारण होते हैं।

आत्म-सम्मान स्थायी-भाव बनने का क्रम—प्रत्येक स्थायीभाव स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है और सर्वप्रथम आत्मा का ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञान का समाज से सम्बन्ध होता है। ज्ञान के तथ्य अर्थात् समस्त वस्तुओं का आत्मा से सम्बन्ध होता है अतः समाज का आत्मा से सम्बन्ध हुआ। जब स्थायी भावों का सम्बन्ध व्यक्ति से हो जाता है, तो आत्म-सम्मान के स्थायी भाव का उदय होता है। स्थायी भाव में तीन क्रियायें होती हैं : (१) वस्तु का बौद्धिक ज्ञान, (२) वस्तु के प्रति संवेगों का पैदा होना और (३) संवेगों का संगठित होना। इन तीनों क्रमों का भी आत्म सम्मान के स्थायी भाव से उत्पन्न होने के लिए आवश्यक है।

उदाहरण—बालक को एक बार खिलौना लेने के लिए डांट दिया जाय तो वह दुबारा नहीं उठता क्योंकि उसे यह आभास हो जाता है कि खिलौने पर फिर गट पड़ेगी कोई उसे ठोक देगा या डांटेगा। बुरा काम करने से उसके आत्म-सम्मान को ठेस लगती है। इसके विपरीत प्रशंशा पाने पर बालक उत्साहित होता है और वह कार्य करने को उत्सक रहता है जिसमें उसे प्रशंसा मिले। समाज की प्रशंसा या निन्दा ही उसका मापदण्ड होता है।

प्रायः बालकों में हीन भावना की ग्रन्थि पैदा हो जाती है। बालक अपने आपको छोटा व हीन समझने लगता है, अतः उचित विकास के लिए यह भावना-ग्रन्थि उत्पन्न होने का अवसर न आने दें।

मीमांसा—उपरोक्त अध्ययन के द्वारा यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि माता-पिता को इन ग्रन्थियों का पता लगाकर अवश्य प्रतिरोध करना चाहिए। बालकों को संवेगों के प्रकाशन का अवसर नहीं देना चाहिए। गुरुजन एवं पूज्यजन उनका विश्वास करें और स्नेह प्रदर्शित कर विकास के लिए प्रोत्साहित करें।

प्रश्न १०३—चरित्र क्या है ? चरित्र के क्रम का उल्लेख कीजिए।

भूमिका—चरित्र का अर्थ साधारण रूप में यह कहकर ही प्रदर्शित किया जाता है कि चरित्र अच्छा नहीं या वह व्यक्ति शरीफ नहीं, 'बदमाश, उचक्का या

चोर है' आदि-आदि अपशब्दों से विभूषित किया जाता है परन्तु मनोविज्ञान में चरित्र का अर्थ अत्यन्त व्यापक है।

परिभाषा—सैमुअल स्माइल्स (Samuel Smiles) के मतानुसार :

"चरित्र आदतों का सम्मुच्चय है।"

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक झा (Jha) के मतानुसार :

"चरित्र अर्जित गुणों का पूर्ण योग तथा एक मानसिक स्वरूप है जो स्थायी होता है और सदा हमारे व्यवहारों को प्रभावित करता रहता है।"

चरित्र का क्रम—चरित्र जन्म से नहीं बल्कि अर्जित किया जाता है। इसके द्वारा हमारा आचरण प्रेरित होता है। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान रूसो ने चरित्र के लिए एक उचित उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार हाथ में सर्वप्रथम कोई वस्तु आती है तो अति सुन्दर होती है, परन्तु कई हाथों में पड़कर वह भ्रष्ट या असुन्दर हो जाती है। इसी तरह चरित्र निर्माण करने पर मनुष्य देवता बनता है। चरित्र में आदतों का अधिकांश योग रहता है। आदतों के ही अनुसार चरित्र बनता है और उसका नामकरण होता है। चोरी करने की आदत रखने वाले व्यक्ति को ही चोर कहा जाता है।

चरित्र-निर्माण की विधि—माता-पिता और शिक्षकों को चाहिए कि बालक में श्रेष्ठ आदतें डालें। बचपन की सीखी हुई बातें आदत बनकर जीवन भर साथ देती हैं। आदतें यान्त्रिक रूप में होती हैं जबकि चरित्र में प्रत्येक नवीन परिस्थिति का मुकाबला करने की शक्ति विद्यमान होती है। यही शक्ति बालक को स्थायी रूप में प्राप्त होती है।

चरित्र के भेद—संवेदन की दृष्टि से ड्रेवर (Drever) महोदय ने चरित्र को तीन भागों में विभक्त किया है :

(१) अपरिपक्व संवेदन अवस्था।

(२) स्थायी भाव की अवस्था।

(३) आदर्श उत्पन्न हो जाने की अवस्था।

ज्ञान की दृष्टि से चरित्र के तीन क्रमों का उल्लेख किया है :

(१) इन्द्रियानुभव-अवस्था।

(२) भावानुभव अवस्था।

(३) तर्कानुभव अवस्था।

परन्तु मैक्डूगल महोदय ने चरित्र-विकास के लिए चार क्रम निर्धारित किये हैं :

(१) सुख-दुख से निर्धारित चरित्र।

(२) पारितोषिक एवं दण्ड से निर्धारित चरित्र।

(३) प्रशंसा एवं निन्दा से निर्धारित चरित्र।

(४) आत्म-सम्मान के स्थायीभाव से निर्धारित चरित्र।

सुख-दुख का बालक पर तात्कालिक प्रभाव होता है। सुख प्राप्त होने वाला

कार्य बार-बार करता है, परन्तु दुख देने वाले कार्य से दूर रहता है। यही प्रभाव बालक के चरित्र निर्माण में सहायक होता है।

बालक पर दूसरा प्रभाव पारितोषिक एवं दण्ड का होता है। पारितोषिक प्राप्त होने वाला कार्य बार-बार करता है, परन्तु दण्ड के भय से बुरी आदतों से दूर रहता है।

चरित्र-निर्माण में प्रशंसा एवं निन्दा का प्रभाव पारितोषिक एवं दण्ड की ही तरह होता है। वह प्रशंसा करने वाले कार्य भविष्य में दुहराता है परन्तु निन्दनीय कार्यों से बचने लगता है।

बालक में आत्म-सम्मान का स्थायी भाव जब उत्पन्न होता है तो उसकी चरित्र निर्माण की अन्तिम अवस्था होती है। आत्मादर्श के कारण बालक करने योग्य कार्य करता है और उन्हें अपना कर्त्तव्य समझता है। आदर्श के विरुद्ध कार्य करना अहित कर समझता है।

मीमांसा—बालक के जीवन को आदर्शनीय बनाने के लिए चरित्र निर्माण करना उसकी आदतों के समान ही आवश्यक है।

प्रश्न १०४—बालक के चरित्र-निर्माण के लिए शिक्षक के क्या कार्य हैं ?

भूमिका—मानव-जीवन की अत्यन्त मूल्यवान वस्तु चरित्र है। चरित्र के बारे में एक अंग्रेजी कहावत प्रचलित है जिसका भावार्थ है कि—"मनुष्य का धन नाश होने पर कुछ भी नहीं होता, स्वास्थ्य का नाश होने पर कुछ हानि हुई समझना चाहिए परन्तु यदि चरित्र का नाश हो जाय तो मानव का सब कुछ नाश हो गया ऐसा समझना चाहिए।" यह कहावत अक्षर-प्रति-अक्षर सत्य है। हमारे चरित्र से ही आचरण एवं व्यवहार प्रेरित होते हैं। अतः शिक्षकों का कर्तव्य है कि बालक के चरित्र का सुचारु रूप से गठन करें। उन्हें प्रशिक्षित करने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना परमावश्यक है :

(१) चरित्र एवं आदत।
(२) चरित्र एवं इच्छा शक्ति।
(३) चरित्र एवं स्थायीभाव।
(४) चरित्र एवं मानसिक ग्रन्थियाँ।
(५) चरित्र एवं विकास।

अच्छे चरित्र के लिए अच्छी आदतों का होना आवश्यक है। अर्थात् मानव जीवन में आदतों का महत्त्व अधिक है। अतः शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों में अच्छी-अच्छी आदतें डालें। उन्हें समयानुसार कार्य करना, चोरी न करना, झूठ न बोलना, गुरुजनों एवं पूज्यजनों का आदर करना आदि अच्छी आदतें बचपन में ही सिखा देनी चाहिए।

शिक्षक बालक में दृढ़ इच्छा शक्ति उत्पन्न करे जिससे वे जीवन की हर परि-थति का सामना करने में समर्थ हों क्योंकि संसार में असम्भव से असम्भव कार्य

दृढ़ इच्छा शक्ति द्वारा ही सम्पन्न हो सकते हैं। जैसे गांधी जी ने अपनी पोती मनु में निडर रहने की भावना उत्पन्न की थी। एक बार नोआखाली में पद-यात्रा के समय मनु पिछले गाँव में गांधी जी का नहाने का पत्थर छोड़ आई थी। बापू ने नाराज होकर मनु से कहा—"मनु फौरन अकेले जाओ और पत्थर को लेकर आओ।" मनु अकेले जाने के लिए नारी संकोच के कारण उद्यत न थी परन्तु गांधीजी ने दृढ़ शक्ति का आश्वासन उत्पन्न करके मनु को भेजा। लौटने पर बापू ने मनु को समझाया—"बेटी कभी भी कोई वस्तु छोटी नहीं समझनी चाहिए। हर वस्तु बेहद सम्भाल कर रखनी चाहिए। और हाँ, लड़कियों को कहीं अकेले जाने में डरने की क्या बात ?"

इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि चरित्र निर्माण के लिए आदत और शक्ति दोनों ही अति आवश्यक हैं।

मानव आचरण एवं व्यवहार के मूल प्रेरक स्थायी भाव होते हैं। देश प्रेम, आदर भाव का स्थायी भाव आदि हमारे चरित्र को दृढ़ करते हैं। मैकडूगल महोदय ने चरित्र के स्थायी भाव को संगठन माना है। अतः शिक्षक बालक में स्थायी भाव निर्माण अवश्य करे।

परन्तु मानसिक ग्रन्थियाँ व्यक्ति के चरित्र निर्माण में बाधक होती हैं। ग्रन्थियाँ कभी-कभी शारीरिक एवं मानसिक रोगों का कारण बन जाती हैं। यह ग्रन्थियाँ बालक के साथ आवश्यकता से अधिक कठोर व्यवहार के कारण उत्पन्न होती हैं। भावना ग्रन्थियों का प्रभाव बिना जाने अपना प्रभाव डालती हैं। अतः शिक्षक का कर्तव्य होता है कि बालक में इस प्रकार की भावना ग्रन्थियों को उत्पन्न होने से रोकें।

बालक को दण्डित करना अति आवश्यक है। यह प्राचीन धारणा इस आधुनिक युग में मनोविज्ञान के कारण उचित नहीं मानी गयी। बालकों को अच्छे कार्यों के लिए प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। दण्डित करने से बालक जिद्दी हो जाते हैं। अतः शिक्षक को प्रत्येक प्रशिक्षण प्रेम एवं सहानुभूति से देना चाहिए। इसी प्रकार के शिक्षक बालकों से आदर एवं सम्मान प्राप्त करते हैं।

विभिन्न अवस्था में शिक्षकों के कर्तव्य—शैशवावस्था में बालक के लिए माता-पिता ही शिक्षक का कार्य करते हैं। उन्हें यह ध्यान करना चाहिए कि बालकों में उचित संवेगात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न हो। इसके लिए तीन बातें करनी आवश्यक हैं :

(१) बालकों की आन्तरिक संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को संगठित एवं संवेगात्मक दृष्टिकोण या स्थायी भावों में प्रवाहित करना चाहिए।

(२) इसे प्रवाहित करने की क्रिया द्वारा संतुष्टीकरण करना चाहिए।

(३) बौद्धिक प्रशिक्षण दिया जाय जो उचित स्थायी भावों को दृढ़ बनाये।

बाल्यावस्था में शिक्षक की देख-रेख में बालक रहने लगता है। बालक गुटों में व समूह में अपना समय व्यतीत करता है। अतः शिक्षक को इन्हीं माध्यमों से

शिक्षा देनी चाहिए। बालक को वीर एवं निडर बनने में सक्रिय सहयोग दें। उनमें स्थायी भाव उत्पन्न करें।

किशोरावस्था में बालक नियमों की मान्यता को नहीं मानता बल्कि वह स्वयं अपने बनाये हुए नियमों को ही मानता है। अतः शिक्षक के दो महत्त्वपूर्ण काम हो जाते हैं :

(१) बाल्यावस्था से किशोरावस्था में परिवर्तन सुविधानुसार होने में सहयोग दें।

(२) बालक स्वयं जिन नियमों को निर्वाचित करें उन्हें समाज और चरित्र निर्माण करने के पक्ष में प्रकाशित किया जाय।

(३) किशोर बालकों को छोटे बालकों का संरक्षक नियुक्त करके उन्हें स्वयं उत्तरदायी होना सिखाया जाय।

मीमांसा—बालक का चरित्र-निर्माण करने के लिए शिक्षक महान् योग दे सकते हैं। राष्ट्र की उन्नति बालकों के चरित्र पर ही निर्भर होती है। अतः शिक्षक उनके चरित्र निर्माण में पूर्ण रूप से सहयोग करें।

प्रश्न १०५—आपके मतानुसार बाल-विकास में कौन-कौन शारीरिक दोष उत्पन्न होते हैं ? दोषों के भेद, कारण एवं उपचार का वर्णन कीजिए।

भूमिका—जन्म लेने से पूर्व बच्चा माँ के पेट में ही बढ़ता, पलता और विकसित होता है। अर्थात् गर्भाधान से लेकर जन्म लेने के काल तक बालक की एक अवस्था होती है। जन्म लेने के उपरान्त से पाँच वर्ष की आयु तक अर्थात् स्कूल जाने के लिए समर्थ न होने तक बालक की दूसरी अवस्था है। तीसरी अवस्था में बालक शिक्षालय में शिक्षा प्राप्त करता है। यह तीनों अवस्थाएं बारी-बारी से विकसित होती हैं। इन अवस्थाओं में बालक में दोष भी उत्पन्न हो जाते हैं, यही विकास सम्बन्धी दोष कहलाते हैं। समस्त दोषों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(१) शारीरिक विकार अथवा दोष।
(२) संवेगात्मक दोष।
(३) बौद्धिक दोष।

इस प्रश्न के अन्तर्गत केवल शारीरिक दोषों के भेद, कारण एवं उपचार का अध्ययन करेंगे।

भेद—समस्त शारीरिक दोषों को शरीर रचना के अनुसार दो भागों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) इन्द्रिय सम्बन्धी दोष।
(२) शारीरिक व्याधि सम्बन्धी दोष अथवा रोग।

(१) इन्द्रिय सम्बन्धी दोष—मानव शरीर में दस इन्द्रियाँ होती हैं, जिनमें ५ कर्मेन्द्रियाँ तथा ५ ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। अतः इन्द्रिय सम्बन्धी दोषों का सरल अध्ययन करने के लिए हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :

(क) कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी दोष।
(ख) ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी दोष।

(क) कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी दोष—कर्मेन्द्रियाँ हाथ, पैर, वाणी, दाँत आदि में

दोष उत्पन्न हो जाने से बालक उनका उचित प्रयोग करने में असमर्थ रहता है। यह विकलांग बालक बिना हाथ के कार्य करने, बिना पैर के चलने, बिना वाणी के बोलने और दांत के बिना खाने से सही-सही कार्य सम्पन्न नहीं कर पाते हैं।

कारण—कर्मेन्द्रिय-दोष उत्पन्न होने के दो प्रमुख कारण होते हैं। यह दोष या तो जन्म से होता है या किसी अर्जित कारण द्वारा। जन्मजात दोष में माता-पिता के लक्षण से ऐसा होता है क्योंकि कुछ दोष पीढ़ी दर पीढ़ी चले आते हैं। या गर्भावस्था में माँ के रोगी हो जाने के कारण भी बालक का समुचित विकास नहीं हो पाता अतः बालक में शारीरिक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। माँ के चोट लग जाने पर भी बालक पर उसका प्रभाव पड़ता है। अर्जित कारण समाज, परिवार, संस्था आदि के मिलने पर हो जाते हैं। बालक अपनी बराबर वाले अन्य बालकों के साथ खेलते में चोट खा जाय, किसी भयंकर रोग सग्रसित हो जाय तो शरीर विकलांग हो सकता है। विकलांग होने पर बालक को मृत्यु-पर्यन्त दुख भोगना पड़ता है।

निवारण—वर्तमान वैज्ञानिक युग में विकलांग दोष से मुक्ति पाने के लिए अनेकों उपचार सम्भव हो गये हैं। जन्मजात विकलांग बालकों का उपचार तो कुछ कठिनाई से हो पाता है परन्तु अर्जित दोषों का सुधार करना सम्भव है। जन्म से दुबली या कमजोर हड्डी को बदला जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हाथ, पैर, वाणी का दोष आपरेशन आदि साधनों द्वारा दूर किये जा सकते हैं। शैशवावस्था में दांत नये-नये निकलते हैं अतः इनका यदि कोई दोष उत्पन्न हो जाय तो बड़े होने पर उपचार हो सकता है।

(ख) ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी दोष—मानव के शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही सम्बन्धित दोष ज्ञानेन्द्रिय-दोष कहलाते हैं। आँख, नाक, कान, जीभ एवं त्वचा सम्बन्धी दोष पर विचार करना है।

आँख सम्बन्धी दोष—आँख में अनेक रोग होते हैं परन्तु प्रमुख दो रोग हैं। पहले तो बिलकुल दिखायी न देना, दूसरे कुछ थोड़ा दिखायी देना। कम देखने की भी दो अवस्था हैं जिसमें किसी को दूर का नहीं दीखता, किसी को पास का दिखाई नहीं पड़ता है। इनके अतिरिक्त अन्य रोग जैसे रतौंदी, सुर्खी, परवाल आदि होते हैं।

कारण—जन्म से अन्धे पैदा होने के अतिरिक्त अन्य दुश्कर रोग चेचक, टी० बी०, मोतीझरा आदि भी अन्धे हो जाने के कारण होते है। चोट लग जाने से भी आँखें बिगड़ जाती हैं।

निवारण—नेत्र चिकित्सा की सुविधाओं के कारण दूरदृष्टि और समीप दृष्टि के रोग औषधियों और चश्मे द्वारा दूर किए जाते हैं। रौंहा, रतौंधी का रोग चिकित्सा और भोजन की कमी को पूरा करके दूर करते हैं। विज्ञान की उन्नति में वर्तमान काल में पूरी-पूरी आँख ही बदल दी जाती है। यदि दृष्टि सम्बन्धी मस्तिष्क का भाग ही कार्यशील न हो तो आँख के दोष का उपचार करना असम्भव होता है।

बधिर एवं मूक बालक—कान से न सुनने वाले व मुख से न बोल पाने वाले बालक बधिर एवं मूक बालक कहलाते हैं। किन्हीं-किन्हीं बालकों में एक ही दोष पाया जाता है। बधिर दो श्रेणी के होते हैं। प्रथम तो बिलकुल न सुन पाने वाले और दूसरे कम सुनने वाले।

कारण—जन्मजात बधिर एवं मूक जन्म से ही होते हैं। बधिर बालक यदि बचपन से ही नहीं सुनता या कम सुनता है तो वह बोलने में भी असमर्थ रहता है या

बोलना नहीं सीख पाता। कान पर चोट लगने या भयंकर रोग से पीड़ित होने से बालक रोगी हो जाते हैं। कभी-कभी दुर्घटनाओं के कारण भी बालक बधिर एवं मूक हो जाते हैं।

निवारण—जन्म-जात बधिर एवं मूक प्राणियों के रोग की अभी तक कोई उपचार विधि नहीं आविष्कृत हुई है। परन्तु आंशिक रोग का उपचार हो जाता है। कान का आपरेशन, चिकित्सा एवं श्रवण यन्त्र द्वारा सुनने का उपचार हो जाता है। बोलने के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं परन्तु हकलाने, तुतलाने आदि दोषों का निवारण हो जाता है।

वाणी सम्बन्धी दोष—हकलाना, तुतलाना, हलकी आवाज, अस्पष्ट उच्चारण आदि वाणी सम्बन्धी दोष हैं। इन रोगों के कारण बालक स्वतन्त्रता से एवं स्वच्छन्दता से अपने विचारों को प्रकट नहीं कर सकते और उनमें हीनता की भावना का उदय हो जाता है।

कारण—शारीरिक रचना में यदि कोई दोष है तो अंग ठीक प्रकार से कार्य नहीं करते हैं या सही भाषा का उच्चारण नहीं हो पाता है। भयंकर रोगों के कारण स्नायुविकार हो जाते हैं अथवा मस्तिष्क में वाणी के संचालित भाग में दोष आ जाने पर वाणी का उचित प्रयोग नहीं हो सकता। लाड़-प्यार, दूसरों को चिढ़ाने या नकल करने की भावना से भी बालकों में रोग बन जाता है।

निवारण—जीभ के निचले भाग को काटने से बोलने की शक्ति आ जाती है। चिकित्सा द्वारा स्नायु-विकार का उचित उपचार हो सकता है। हकलाने व तुतलाने का दोष प्रशिक्षण द्वारा दूर किया जा सकता है। परन्तु रचना सम्बन्धी विकार के दूर करने का कोई साधन नहीं है।

(२) शारीरिक विकास—शरीर के रोगों को पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं :

(क) पोषण सम्बन्धी दोष।
(ख) रक्त सम्बन्धी दोष।
(ग) श्वाँस सम्बन्धी दोष।
(घ) स्नायु सम्बन्धी दोष।
(ङ) दुर्बलता सम्बन्धी दोष।

(क) पोषण सम्बन्धी दोष—उचित समय पर संतुलित भोजन न मिलने के कारण पारिवारिक परिस्थितियों के बालकों में पोषण सम्बन्धी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार के बालकों में शारीरिक स्फूर्ति और शक्ति का ह्रास हो जाता है।

कारण—प्रमुखतया पारिवारिक आर्थिक समस्या, अधिक सन्तान, माता-पिता का रोगी होना या उनका मर जाना ही समुचित पोषण पाने में बाधक होते हैं।

निवारण—ऐसे रोगी बालकों के लिए शिक्षा और स्वास्थ्य की उचित व्यवस्था होना आवश्यक है। भारत सरकार ने उनके पालन एवं शिक्षण की व्यवस्था के लिए कई केन्द्र स्थापित किये हैं।

(ख) रक्त सम्बन्धी दोष—रक्त में दोष से बालक का शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास नहीं होता है। हीनता, पीलिया, दाद-खाज व खुजली, फोड़े-फुन्सी आदि रोग रक्त दोष के कारण ही होते हैं।

कारण—उचित एवं उपयुक्त भोजन न मिलने के कारण रक्त में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी की अवस्था में सुचारु रूप से तीमारदारी न होने पर रक्त दोष उत्पन्न होते हैं।

निवारण—सर्वप्रथम बालक के उचित एवं उपयुक्त भोजन की व्यवस्था करना आवश्यक है। बालक को व्यायाम, घूमना, खेलना-कूदना आदि समय पर अवश्य मिले ताकि वह रोग ही उत्पन्न न हो। रक्त दोष उचित चिकित्सा से दूर हो सकते हैं।

(ग) श्वांस सम्बन्धी दोष—श्वांस का रोग हो जाने पर बालक का स्वास्थ्य निरन्तर गिरता रहता है। फेफडे में खराबी के कारण दमा हो जाता है। या वायु की नली में दोष आने पर शक्ति कम हो जाती है, सीने में दर्द रहता है।

कारण—यह रोग वंश परम्परानुसार भी प्राप्त होता है। चोट लगने या राजयक्ष्मा के कारण भी श्वांस रोग हो जाता है। फुफ्फस की कमजोरी के कारण भी बच्चों में श्वांस रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

निवारण—चिकित्सालय में श्वांस रोग का उचित उपचार हो जाता है अतः चिकित्सा एवं भोजन व्यवस्था में आवश्यक सुधार करना बालकों की जीवन रक्षा के लिये अति आवश्यक है।

(घ) स्नायु सम्बन्धी दोष—पोषण की कमी, रक्त की कमी या अनुचित भोजन व्यवस्था के कारण स्नायु सम्बन्धी दोष उत्पन्न होते हैं। हाथ-पैरों का सुन्न हो जाना, सिर में दर्द होना, हाथ-पैर में झटके लगना या बेहोश हो जाना स्नायु दोष हैं।

कारण—भोजन की कमी के कारण स्नायु दोष उत्पन्न होते हैं। अनुचित सुरक्षा के कारण भी स्नायुदोष उत्पन्न हो जाते हैं।

निवारण—चिकित्सा में उपचार सुगमता से हो जाते हैं। बालकों की भोजन व्यवस्था अनुकूल करने से उपचार शीघ्र हो जाता है।

(ङ) दुर्बलता सम्बन्धी दोष—बालकों में दुर्बलता का रोग या तो जन्मजात होता है या उपरोक्त किसी दोष के कारण हो जाता है।

इसके निवारण के लिए रोग का उपचार आवश्यक है। साथ ही शक्ति-वर्धक औषधियों के सेवन से और उचित भोजन से दुर्बलता दूर हो सकती है।

प्रश्न १०६—बाल-विकास में कौन-कौन से संवेगात्मक दोष उत्पन्न होते हैं? संवेगात्मक विकारों एवं असामान्यताओं के कारणों एवं निवारण का उल्लेख कीजिए।

भूमिका—जन्म के उपरान्त माता-पिता बालक का पालन-पोषण करते हैं। यदि पालन-पोषण में किसी प्रकार की कमी आ जाती है तो बच्चे के स्वास्थ्य पर ही उसका प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि मानसिक विकास पर भी प्रभाव पड़ता है। यही नहीं बालक की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवहारिक आदि स्थितियों पर भी प्रभाव पड़ता है। फलतः बालकों में संवेग सम्बन्धी विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

संवेगात्मक विकारों को पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है:

(१) हिस्टीरिया,
(२) मनादौर्बल्य,
(३) आकुलता,

(४) बाध्यता और
(५) असामान्य भय ।

(१) हिस्टीरिया—उन्माद का रोग प्राचीन धारा के अनुसार केवल स्त्रियों को ही होता है। परन्तु वैज्ञानिक युग में यह सिद्ध किया जा चुका है कि उन्माद का रोग पुरुषों में भी होता हैं। रोग अत्यधिक प्रबलता से पाया जाता है।

लक्षण—वेदना, स्पर्श, पीड़ा, दृष्टि अथवा श्रवण सम्बन्धी संवेदनाओं का न होना संवेदना सम्बन्धी अभाव हैं। कभी-कभी अति संवेदना में थोड़े से दर्द का प्रभाव अधिक अनुभव होता है। रोगी के शरीर का भाग लकवा से मारा जाता है। बात-चीत की क्षमता या काम करने की क्षमता कम हो जाती है। सोते-सोते बात करना, चलना या स्मृति का नष्ट हो जाना उन्माद रोग के लक्षण हैं।

कारण—उन्माद रोग मानसिक तनाव के कारण उत्पन्न होते हैं। निराशा, अधिक दबाव, अत्यधिक शोक, अनुचित शासन, पाचन क्रिया की समुचित व्यवस्था न होने के कारण होता है।

उपचार—बालक का मनोविश्लेषण करके उचित चिकित्सा करनी आवश्यक है। उसे सन्तुलित भोजन एवं उचित उपचार मिलना अति आवश्यक हैं। बालक को समयोचित निर्देशन द्वारा आराम पहुँचाना भी आवश्यक है। किसी प्रकार भी उनको मानसिक आघात नहीं मिलना चाहिए।

(२) मनोदौर्बल्य—बालक सदैव यदि यह शिकायत करें कि वह थक गया। उसकी थकान शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार की हो सकती है। उसका मन न लगना, काम करते-करते उकता जाना, पाचन-क्रिया का मन्द हो जाना, मनोरंजन में अधिक व्यस्त रहना; सहानुभूति की इच्छा करना मनोदौर्बल्य अर्थात् मन की दुर्बलता के कारण ही होते हैं। बालक की यही दशा इस रोग के लक्षण हैं।

कारण—पाचन-क्रिया के मन्द होने पर शरीर में शिथिलता आ जाती है। मौन इन्द्रियों में विकार उत्पन्न हो जाता है, पेशाब या दस्त के रोग लग जाते हैं। स्नायुविक दुर्बलता के थकान का अनुभव होता है। अभियोजनशीलता की कमी के कारण भी थकान हो जाती है।

उपचार—पाचन-क्रिया की चिकित्सा एवं पौष्टिक भोजन आवश्यक है। बालक को विश्राम मिले। उसके स्नायुविक दोषों का उपचार किया जाय। मनोरंजन के साधन उपलब्ध हों एवं दुःखद घटनाओं से दूर रखें ताकि उसे मानसिक आघात न लगे।

(३) आकुलता—चिन्ता या आकुलता मानसिक रोग है। हर समय चिन्ताएँ सताती हैं और कार्य करने में मन नहीं लगता। उसे मानसिक रूप से किसी असफलता का भय लगा रहता है।

लक्षण—दिल की धड़कन तीव्र हो जाती है। सिर में दर्द रहने लगता है। भूख नहीं लगती। खाने के बाद उल्टी हो जाती है। दम घुटने लगता है। शक्तिहीन शरीर आलसी बन जाता है।

कारण—बालक की इच्छाओं का दमन होने से चिन्ता छा जाती है। उसके संवेगों में परस्पर संघर्ष हो जाने पर या अधिक अनुशासन के अन्तर्गत रहने से उसकी

इच्छाओं का दमन होता है। परिवार की परिस्थिति में उसकी इच्छा पूर्ति नहीं हो पाती है या अन्य कोई पारिवारिक भय चिन्ता का कारण बन जाता है।

उपचार—उचित भोजन, मनो-चिकित्सा, मनोरंजन, सहानुभूति, प्रेम तथा साहचर्य से उसकी चिन्ता का निवारण किया जा सकता है।

(४) **बाध्यता**—क्रियात्मक या विचारात्मक बाध्यता रोग के दो रूप हैं। रोगी के मन में ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं जिन्हें वह रोग नहीं पाता है। मुक्ति पाने की इच्छा करने पर भी विचारों से दुःखी रहता है। कार्य को कुछ इस प्रकार करता है कि उसे उसका औचित्य ही प्रतीत नहीं होता। अकेले में बात करना, चलते-फिरते शरीर में विचित्र मुद्राएँ करना, कुर्सी पर बैठकर पैर हिलाते रहना आदि रोग बाध्यता के अन्तर्गत ही आते हैं।

लक्षण—बालक बार-बार हाथ-पैर धोता है या रखी वस्तु को गिनने लगता है। इधर-उधर से उठाकर चोरी करता है अथवा क्रोध अधिक लाता है।

कारण—पारिवारिक कलह के कारण या कठोर अनुशासन के कारण बाध्यता का रोग उत्पन्न होता है। कभी-कभी वंशपरम्परागत भी रोग होते पाया जाता है। मूल प्रवृत्तियों की अतृप्ति भी बाध्यता को जन्म देती है।

उपचार—बालक को उचित निर्देशन देकर उसका चिकित्सा एवं तीमारदारी द्वारा उपचार करके सुधार किया जा सकता है। बालक के लिए अनुकूल वातावरण एवं मनोरंजन के साधन आवश्यक हैं जो उसका सही सहयोग कर सकें।

(५) **असमान्य भय**—असामान्य भय बाल्यावस्था में ग्रन्थि बन जाने के कारण होता है। यह निरर्थक भय है। एक निरर्थक रोगी ही जान सकता है। चेतन में किसी वस्तु से डरना अचेतन अवस्था का ही कोई कारण या अनुभव हो सकता है।

लक्षण—निरर्थक भय ऊँचे स्थान, खुले स्थान, बन्द कमरे, जल, अन्धकार, भीड़ या एकान्त आदि से लगता है।

कारण—बचपन में असुरक्षित रहने से अथवा इच्छाओं का दमन होने के कारण भय उत्पन्न हो जाता है। बालक में क्षीण स्नायु पड़ जाते हैं या प्रतिकूल परिस्थितियों में साहचर्य होता है।

उपचार—बालक का मनोविश्लेषण करके उसका निर्देशन एवं मनोरंजन, सम्मोहन आदि द्वारा भय निकाला जा सकता है।

प्रश्न १०५—बाल-विकास में कौन-कौन से बौद्धिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। उनका क्या कारण व निवारण है।

भूमिका—बालक में बौद्धिक विकार जन्मजात होते हैं या वह शैशवावस्था में उत्पन्न होते हैं। बौद्धिक विकारों के कारण बालक का शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक विकास रुक जाता है।

मानसिक दुर्बलता की परिभाषा करते हुए प्रसिद्ध विद्वान ईगर डाल (Edger Dall) ने व्यक्त किया है :

"Mental deficiency is a state of social in competence obtaining at maturity, resulting from developmental mental arrests of constitutional, hereditary or acquired origin. The codition is essentially incurable through treatment."

मानसिक दुर्बलता तीन भागों में प्रमुखतः विभक्त की जा सकती है :
(१) मूर्ख, (२) मूढ़, और (३) जड़।

बुद्धि लब्धि—मूर्ख की बुद्धि लब्धि औसतन ५० से ७० के मध्य होती है। मूढ़ की बुद्धि लब्धि २५ से ४० के मध्य होती है, जबकि जड़ की बुद्धि लब्ध ० से २५ तक होती है।

मूर्ख—बालक मूर्खावस्था में उचित शिक्षा नहीं ले पाते और न शारीरिक क्रियाओं पर नियन्त्रण। उनकी समाज विरोधी या अपराध करने की प्रवृत्ति तीव्र होती है। इनमें संवेगशीलता भी अधिक होती है और वह निर्देश ग्रहण कर सकते हैं।

मूढ़—मूढ़ बालक में अपना कार्य करने की भी बुद्धि नहीं होती। वह केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही बोलते हैं। उचित प्रशिक्षण देने पर अपनी रक्षा कर सकते हैं और छोटे-छोटे कार्य भी कर सकते हैं। क्योंकि इनके शरीर में विकास होता है।

जड़—जो बालक जन्मजात शारीरिक एवं मानसिक रोग से पीड़ित होते हैं और उनमें शक्तिमयी बुद्धि का अभाव होता है, अपना कार्य जैसे भोजन, शरीर सफाई भी नहीं कर सकते हैं, वह जड़ कहलाते हैं। प्रथम तो बोलना नहीं सीखते। सीखने का प्रयास करें तो टूटे-फूटे शब्द ही बोल पाते हैं।

कारण—वंशपरम्परा के कारण बालक बौद्धिक विकार से ग्रसित होते हैं। बौद्धिक विकार के अन्य कारणों में मस्तिष्क के कोषों का विघटन, जल वृद्धि या कोषों की अधिक वृद्धि भी हो सकती है। बालक के शरीर में 'फिनाइल पाइरुविक' क्षार की वृद्धि भी बौद्धिक विकार उत्पन्न करने का कारण है। बालक के जन्म लेने से पूर्व माँ के पेट में भ्रूण का अनुचित विकास अथवा ग्रन्थियों का कम विकास भी बौद्धिक विकार उत्पन्न कर सकता है। भोजन की कमी से भी बालक में बौद्धिक विकार आ जाते हैं।

उपचार—माता-पिता की शिक्षा और गर्भ की रक्षा करने से जन्मजात रोग उत्पन्न नहीं होते। उचित भोजन, गृह प्रशिक्षण, आर्थिक पूर्ति तथा शिक्षालयों द्वारा उचित शिक्षा देकर बौद्धिक विकार दूर किये जा सकते हैं।

प्रश्न १०८—प्रवृत्तियों के शोध का क्या अभिप्राय है? जिज्ञासा और आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्तियों का कैसे शोध किया जा सकता है?

(उ० प्र० १९४५)

भूमिका—मानव जीवन के विकास हेतु मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन लाना आवश्यक है। मानव की मूल प्रवृत्तियाँ परिवर्तनशील होती हैं. यह इनकी विशेषता है। यदि ऐसा न होता तो आज मानव का विकास असम्भव था। परिवतन चार प्रकार से किया जा सकता है :

(१) दमन और प्रोत्साहन द्वारा।
(२) पुनः निर्देशीकरण द्वारा।
(३) निरोध द्वारा।
(४) शोध द्वारा।

शोध—सर्वप्रथम फ्रायड (Friede) ने मानसिक ग्रन्थियों का मनोविश्लेषण करते समय शोध का प्रयोग किया। उनका कथन था कि प्रत्येक कार्य में काम प्रवृत्ति

निहित रहती है। शोध के द्वारा ही प्रवृत्ति को वह रूप दे दिया जाता है जो उसका वास्तविक रूप दिखायी नहीं पड़ता है।

उपरोक्त चारों परिवर्तनों में शोध ही उत्तम विधि है। काम प्रवृत्ति का नियन्त्रण करना ही शोध कहलाता है। काम शक्ति का शोध करके समाज के उपयोगी कार्य में लगाना आवश्यक है। कविता, कला, संगीत आदि काम प्रवृत्ति के ही शोधित रूप हैं। इनके द्वारा स्वयं को आनन्दानुभूति तो होती ही है, दूसरों को भी सुख प्रदान होता है।

जिज्ञासा की शोध विधि—जिज्ञासा अपने वास्तविक रूप में व्यर्थ एवं निष्प्रयोजन होती है। जिज्ञासा के वशीभूत बालक जिस वस्तु को देखेगा उसके ही सम्बन्ध में प्रश्न करेगा। प्रश्न का उत्तर मिलने पर जिज्ञासा शान्त होती है, न मिलने पर निराशा का उदय होता है। अतः शिक्षकों का परम कर्तव्य है कि निष्प्रयोजन जिज्ञासा का अर्थपूर्ण जिज्ञासा में शोध करें। बालकों में नवीन वस्तुओं के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करें बालक अनुसन्धान करें, प्रकृति के नियमों का मूल्यांकन करें और शिक्षक ऐसा करने में सहयोग दें अर्थात् बालक की जिज्ञासा का परिवर्तन कर समाज के हित में बालक को प्रशिक्षण दें।

आत्म-प्रकाशन की शोध विधि—बचपन में अनुचित दमन के कारण बालक निष्ठुर और घमण्डी बन जाता है क्योंकि उसकी आत्मा का उचित प्रकाशन नहीं हो पाया। यदि बालक झगड़ा करके अपना आत्म-प्रदर्शन करता है और उसे मार-पीटकर उसकी इच्छा का दमन कर दिया जाय तो इसके परिणाम भयंकर निकलते हैं। मुसोलिनी, हिटलर आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अतः शिक्षालयों में बालकों को आत्म-प्रकाशन का अवसर देना चाहिए। इस प्रवृत्ति को अच्छे कार्यों में लगाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

मीमांसा—मनोविश्लेषण द्वारा बालक की मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन करके शिक्षक बालकों को आदर्शनागरिक बना सकता है। अन्य परिवर्तन विधियों की अपेक्षा शोध द्वारा यह कार्य सरलता से किया जा सकता है। बालक में राष्ट्र अथवा देश-प्रेम, समाज-सेवा, जीविकोपार्जन आदि भावनायें शोध क्रिया द्वारा उत्पन्न की जा सकती हैं।

३५
रूसो
(Rousseau : 1712-1778)

प्रश्न संख्या—३५

रूसो के शैक्षणिक विचार के विभिन्न पक्षों की विवेचना कीजिए। क्या आप उनसे पूर्ण सहमत हैं ? रूसो के शिक्षा क्षेत्र में प्रभाव स्पष्ट कीजिए।

Discuss the various aspects of educational views of Rousseau. Are you fully satisfied with them ? Clarify the influence of Rousseau in the field of education.

भूमिका (Introduction)

[अ] रूसो का जीवन चरित्र (Life-sketch of Rousseau)

विश्व के महान् शिक्षाशास्त्री रूसो (Rousseau) का जन्म १७६२ में जेनेवा (Geneva) नामक नगर में हुआ था। जिस प्रकार प्रायः महापुरुषों का वाल्यकाल कष्टमय बीतता है उसी प्रकार बालक रूसो को भी नाना प्रकार की यातनायें सहनी पड़ीं। जन्म लेते ही वालक रूसो माता-विहीन हो गया। उसका पिता घड़ीसाज था था जो भावुक एवं लापरवाह था। माता के अभाव में उसका पालन-पोषण उसकी लापरवाह चाची ने किया। इस प्रकार इस उपेक्षित का किसी ने उचित मार्ग-प्रदर्शन न किया। फलस्वरूप उसमें नाना प्रकार की बुरी आदतें पड़ गईं। बालक रूसो की पुस्तकों के अध्ययन में इतनी अधिक रुचि थी कि उसने ६ वर्ष की ही उम्र में वहुत से उपन्यास पढ़ डाले। पुस्तक-प्रेमी बालक रूसो ने कुछ धार्मिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों का भी अध्ययन किया जिनका कि उस पर वहुत प्रभाव पड़ा। शिक्षा के लिए दंडवादी कठोर अनुशासन के प्रति उसे इतनी अधिक घृणा हो गई कि वह शिक्षालय की शिक्षा को व्यर्थ की शिक्षा कहने लगा। प्रायः वह जंगल में जाकर जेनेवा के सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों को देखकर गद्गद् हुआ करता था, फलस्वरूप वह चिन्तनशील और भावुक हो गया। एक बार उसे मिथ्यारोपण के कारण कारावास में कठोर सजा दी गयी, फलस्वरूप उस युवा हृदय पर इतनी ठेस पहुँची कि वह उस समय के राजनीतिक एवं सामाजिक संगठनों का कट्टर शत्रु बन गया। इस प्रकार उसका २१ वर्ष तक अनिश्चित् जीवन वीतता रहा। इसके उपरान्त उसने ४ वर्ष तक एक शिल्पी के यहाँ कार्य किया परन्तु उसने उस निर्दयी स्वामी के यहाँ से नौकरी छोड़ दी। २५ वर्ष की अवस्था में उसे उस समय के महान् लेखकों से मिलनें का एवं साहित्यिक ग्रन्थों का अध्ययन करने का सुअवसर मिला। फलस्वरूप उसने भी लिखना प्रारम्भ कर दिया।

उस समय फ्रांस में लुई पन्द्रहवाँ (Louise XV) का राज्य था जो कि अत्यन्त विलासी, कठोर, निर्दयी एवं गरीबों का शोषक था। फलस्वरूप रूसो ने उसके विरुद्ध आवाज उठाई ताकि दुःखी एवं पीड़ित जनता की स्थिति में आवश्यक सुधार हों। उसने उसके शोषण के विरोध में नाना प्रकार के लेख लिखे जिनके कारण राज्य में महान् क्रान्ति हुई। उसने अपने जीवन के जो कटु अनुभव किये उनके अनुसार उसने यह कहा कि "प्रकृति की प्रत्येक वस्तु सुन्दर आती है और समाज उसे विकृत कर देता है।"* 'दि प्रोग्रेस आफ अर्टस् एण्ड साइन्स' एवं 'दि ओरीजन आफ इनइक्वेलिटी अमेंग मेन' नामक दो ग्रन्थों में रूसो ने प्रकृति जीवन का महत्व प्रस्तुत करते हुए दिखलाया है कि जो मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानता पाई जाती है जो कि वर्तमान काल की प्रगतिशील सभ्यता के कारण हैं। 'सोसल कन्ट्रेक्ट' नामक पुस्तक में रूसो ने राजनीति एवं नैतिकता में सम्बन्ध प्रस्तुत किया है। जहाँ तक शिक्षा सम्बन्धी विचारों का सम्बन्ध है ने अपने 'एमील' नामक महान् ग्रन्थ में प्रस्तुत किये हैं। इसी ग्रन्थ के कारण रूसो महान् शिक्षाशास्त्री एवं शिक्षा-सुधारक के रूप में विश्व में प्रसिद्ध हुआ। 'एमील' का शिक्षा में जो क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा है वह शिक्षा के क्षेत्र में महान् उन्नति का कारण बना परन्तु इस ग्रन्थ को लोगों ने धर्म-विरोधी ग्रन्थ मानकर स्थान-स्थान पर जलाया। रूसो को परेशान होकर फ्रांस छोड़ना पड़ा। उसे पुलिस से बचने के लिये नाना प्रकार की ठोकरें खानी पड़ीं। वह १७७६ में इंग्लैंड पहुँचा और ४ वर्ष के पश्चात् १७७० में फिर फ्रान्स वापस लौटा। यहाँ पर ऊसने कन्फेशन्स (Confessions) नामक ग्रंन्थ को पूरा करना चाहा परन्तु दुर्भाग्यवश विश्व का महान शिक्षाशास्त्री रूसो १७७८ ई० में विश्व में महान् विचार छोड़कर संसार से चल बसा। अब रूसो की आत्मा प्रकृति में मिल गई थी उसके विचार विश्व को प्रभावित कर रहे थे उसी समय १७९३ में फ्रान्स के अधिकारियों ने रूसो के गड़े हुए शव को निकाल कर उसे सम्मानीय कब्रिस्तान में स्थान दिया।

ब] रूसो की रचनाएँ (Works of Rousseau)

(१) **दि प्रोग्रेस आफ आर्ट्स एण्ड साइन्स** (The Progress of Arts and Science)

(२) **दि ओरिजिन आफ इनइक्वेलिटी एमंग मेन** (The Origin of Inequality among Men)

(३) **'दि न्यू हेलोयस'** (The New Heloise)

(४) **'सोसल कान्ट्रेक्ट'** (Social Contract)

(५) **'एमील'** (Emile)

---

*"Everything is good as it comes from the hands of author of nature, but everything degenerates in the hands of man."
—Rousseau.

अब हम पहले रूसो के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्ष प्रस्तुत करेंगे तत्पश्चात् रूसो के विचारों की आलोचना और अन्त में रूसो का प्रभाव स्पष्ट करेंगे।

रूसो के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्ष

(Various Aspects of the Educational Views of Rousseau)

रूसो के शैक्षणिक विचारों को हम निम्न पक्षों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) शैक्षणिक सिद्धान्त (Educational Principles)
(२) शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education)
(३) पाठ्यक्रम का निर्माण (Construction of Curriculum)
(४) स्त्री शिक्षा सम्बन्धी विचार (Views about Women Education)
(५) निषेधात्मक शिक्षा का सिद्धान्त (Principle of Negative Education)
(६) शिक्षण पद्धति (Method of Education)
(७) अनुशासन (Discipline)

(१) रूसो के शैक्षणिक सिद्धान्त

(Educational Principles of Rousseau)

[अ] प्रकृति की ओर लौटो के सिद्धान्त का प्रतिपादन

(To Propound the Principle of Back to Nature)

प्रकृतिवाद के प्रवर्तक रूसो ने प्रचलित आडम्बरपूर्ण एवं कृत्रिम शिक्षा प्रणाली का निषेध करते हुए कहा है कि प्रकृति से प्राप्त होने वाली वस्तु सर्वदा सुन्दर होती है परन्तु मनुष्य के हाथ में पड़ कर वह विकृत हो जाती है। उसका विचार था कि जो शिक्षा मानव द्वारा बनाई गई है वह बिल्कुल व्यर्थ है। उसके विचार से बालकों को उनकी प्रकृति के अनुकूल शिक्षा प्रदान करना चाहिए। फलस्वरूप उसने 'प्रकृति की ओर लौटो' (Back to Nature) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार बालक को अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होने का अवसर प्रदान करो; जिससे कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार स्वयं शिक्षा ग्रहण कर लेगा।

[ब] रूसो की शिक्षा के तीन स्रोत—प्रकृति, मानव एवं पदार्थ

(Three Sources of Education : Nature, Man and Substance)

रूसो ने शिक्षा का अर्थ प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "शिक्षा बालक की प्राकृतिक शक्तियों एवं योग्यताओं के विकास का नाम है।"

रूसो के अनुसार शिक्षा के तीन स्रोत हैं—प्रकृति, मानव एवं पदार्थ।

(१) प्रकृति द्वारा शिक्षा (Education by Nature)—रूसो का विचार है कि बालकों को उनकी प्रकृति के अनुसार शिक्षा देना चाहिए जिससे कि उनके अंगों एवं शक्तियों का स्वाभाविक ढंग से विकास हो सके। बालकों के स्वाभाविक विकास के लिए शिक्षक को बालकों की आवश्यकताओं का अध्ययन करना चाहिए। रूसो के अनुसार "बालक एक ऐसी पुस्तक है जिसे शिक्षक को आद्योपान्त पढ़ना पड़ता है।" (The child is a book which the teacher has to learn from page to page) इसके साथ-साथ बालकों को ऐसा वातावरण प्रदान करना चाहिए जिससे कि वे प्रकृति के प्रेमी हो जायें और भविष्य में ये प्राकृतिक मनुष्य बन जायें। (२) मानव द्वारा शिक्षा (Education by Man)—रूसो के अनुसार जो शिक्षा बालक समाज द्वारा अर्जित करता है उसे मनुष्य द्वारा प्रदान की हुई शिक्षा कहते हैं। (३) पदार्थ द्वारा शिक्षा (Education by Object)—जो ज्ञान बालक वातावरण के सम्पर्क में रहकर सीखता है उसे पदार्थ द्वारा प्राप्त शिक्षा कहते हैं। जो शिक्षा बालक मानव एवं पदार्थ द्वारा प्राप्त करता है वह प्रकृति द्वारा प्राप्त की हुई शिक्षा से निम्न कोटि की होती है। परन्तु हमें इसका यह अर्थ न लगा लेना चाहिए कि मानव एवं पदार्थ द्वारा प्राप्त की हुई शिक्षा का कोई महत्व नहीं हैं। हमें तो केवल यह जानना यथेष्ट होगा कि रूसो ने प्रकृतिक शिक्षा को सबसे अधिक महत्व प्रदान किया है।

रूसो के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

(Aims of Education According to Rousseau)

[अ] वर्तमान सुख की प्राप्ति (To Acquire Present Happiness)

प्रकृतिवादी विचारधारा के समर्थक रूसो ने शिक्षा का उद्देश्य बालकों की अपनी प्रकृति अर्थात् अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों, इच्छाओं और रुचि के अनुसार कार्य करते हुए वर्तमान सुख की प्राप्ति के लिये अवसर प्रदान करना कहा है। उसका विचार है कि वह शिक्षा व्यर्थ जो भावी जीवन के सुख के लिए वर्तमान सुख का बलिदान करे। रूसो ने इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "हे! पिता लोगों इन सरल बालकों को उन प्रसन्नताओं को क्यों छीनते हो जो कि क्षण भर में मिट जायेंगी।..........बाल्यावस्था के शीघ्र व्यतीत हो जाने वाले दिनों को क्यों कलुषित करते हो जो फिर वापस नहीं आयेंगे। क्या तुम बता सकते हो कि तुम्हारे बालकों को कब मृत्यु बुला लेगी....................इन्हें जीवन का आनन्द लेने दो जिससे जब ईश्वर उन्हें बुलावे वे बिना जीवन के आनन्द लिए ही न मर जायँ।"

"Fathers, why rob these innocents of the joys which pass so quickly ?..............why fill with bitterness the

*"It (education) is the development of the child's nature power and abilities." —Rousseau.

fleeting days of childhood which will call your children to him .... Let them rejoice in the joy of life, so that whenever God calls them, they may not die without having tasted the joy of life." — Rousseau Emile P-43-

[ब] स्वतन्त्रता की प्राप्ति (To Acquire the Freedom)

रूसो का विचार है कि स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। फिर, यह सभ्यता तथा संस्कृति उसे क्यों दासता की बेड़ी में जकड़ देती है। अत: रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालकों की बाह्य रीति-रिवाजों, प्रथाओं, परामपराओं, कानूनों इत्यादि से स्वतन्त्र रखने में सहायता देना है ताकि वे अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास कर सकें।

[स] विभिन्न अवस्थाओं में शिक्षा के उद्देश्य
(Aims of Education in Various Stages)

रूसो ने बालक के सम्पूर्ण जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित कर विभिन्न अवस्थाओं के लिए शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य निर्धारित किए। चार अवस्थायें निम्नलिखित हैं :—

(१) शैशवावस्था (Infancy) १ से ५ वर्ष तक
(२) बाल्यावस्था (Childhood) ५ से १२ वर्ष तक
(३) किशोरावस्था (Boyhood) १२ से १४ वर्ष तक
(४) युवावस्था (Adulthood) १५ से २० वर्ष तक

रूसो ने अपनी शिक्षा योजना में उपर्युक्त ४ अवस्थाओं के लिए निम्न प्रकार से उद्देश्य निर्धारित किये हैं :—

(१) शैशवावस्था (Infancy)—रूसो का विचार है कि शिशु को एक लघु प्रौढ़ (Miniature) समझकर उसे प्रौढ़ के समान शिक्षा नहीं देना चाहिए वरन् उसकी शिक्षा स्वयं की आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए। उसका विचार है कि शैशवावस्था में बालक का शरीर इतना कोमल होता है कि उसके द्वारा कोई भी कार्य नहीं हो सकता है। उसका कथन है कि इस अवस्था में शिक्षा का मूल उद्देश्य बालक का शारीरिक विकास करना हैं। शारीरिक विकास के लिए बालक को खेलने कूदने, कार्य करने एवं व्यायाम करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। रूसो ने, शारीरिक विकास का समर्थन करते हुए लिखा है :—

"All wickedness comes from weakness, the child should be made strong so that he will do nothing which is dad."

(२) बाल्यावस्था (Childhood)—रूसो का कथन हैं कि "प्रकृति चाहती है कि बालक, बालक ही रहें, इसके पूर्व की वे मनुष्य बनें।"* उसके अनुसार इस

*"Nature desires that child should be childern before they are men." —Rousseau.

दृष्टि से बाल्यावस्था में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालकों की ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करना है जिससे कि वे अपनी ज्ञानेन्द्रियों को उचित रीति से साध सकें। ज्ञानेन्द्रियों की प्रशिक्षा के लिए बालकों को नाना प्रकार की वस्तुओं को देखने का अवसर देना चाहिए। रूसो ने इस अवस्था की शिक्षा के उद्देश्य को इस प्रकार व्यक्त किया है "शरीर का व्यायाम करो, अंगों, इन्द्रियों तथा शक्तियों का अभ्यास करो किन्तु आत्मा को अभी प्रसुप्त रहने दो।"

"Exercise the body, the organs, the senses and the powers but keep the soul lying follow as you can." —Rousseau.

(३) किशोरावस्था (Boyhood)—बालक का किशोरावस्था तक पहुँचने में शारीरिक एवं ज्ञानेन्द्रियों का विकास हो जाता है, फलस्वरूप इस समय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जो उसे परिश्रम (Labour), शिक्षा-अथवा निर्देश (Instruction) एवं अध्ययन (Study) का पर्याप्त अवसर प्रदान करे। इस प्रकार किशोरावस्था में बालक को उपयोगी एवं व्यावहारिक ज्ञान-प्रदान करना चाहिए जिससे कि वह अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

(४) युवावस्था (Adulthood)—किशोरावस्था में बालक का शारीरिक, ज्ञानेन्द्रिय एवं मानसिक विकास हो जाता है, परन्तु उसका भावात्मक विकास नहीं हो पाता फलस्वरूप युवावस्था में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक का भावात्मक विकास करना है। भावात्मक विकास के लिए बालक में सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक भावनाओं की जागृति करना चाहिए। रूसो ने ठीक ही कहा है, "हमने उसके (एमील के) शरीर, ज्ञानेन्द्रियों एवं उसकी बुद्धि का निर्माण कर लिया है अब हमें उसे हृदय प्रदान करना शेष है।"

"We have formed his body, his senses and his intelligence, it remains to give him a heart." —Rousseau

(३) रूसो के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्माण

(Construction of Curriculum According to Rousseau)

रूसो ने बालकों की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार—निम्न प्रकार से पाठ्यक्रम निर्धारित किया

(१) शैशवावस्था (Infancy)—शैशवावस्था में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक का शारीरिक विकास करना है, फलस्वरूप इस अवस्था में जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाय वह बालकों के शारीरिक विकास के लिये किया जाय। इस अवस्था में बालकों को लिखित विषयों का ज्ञान न दिया जाय, वरन् उनके स्वास्थ्य की वृद्धि के लिये ध्यान दिया जाय। रूसो का कथन है "बालक को कुशल इंजीनियर, कुशल डाक्टर आदि बनाने का विचार बाद में करना चाहिये पहले उसे स्वस्थ, शक्ति-

शाली पशु ही बनने देना चाहिये।" उसका यह कथन है "बालक को एक ही आदत डालो कि उसे कोई आदत न पड़े।"

"The only habit which the child should be allowed to form is to constructing habit whatever." —Rousseau

(२) बाल्यावस्था (Childhood)—रूसो ने जो बाल्यावस्था के लिये पाठ्यक्रम निर्धारित किया है उसके द्वारा प्रतिपादित निषेधात्मक शिक्षा का सिद्धान्त (Principle of Negative Education) पर आधारित है जिसका अर्थ है बालकों को ऐसी शिक्षा प्रदान करना जिसके द्वारा ज्ञान ग्रहण करने वाली इन्द्रियों का विकास हो। इन्द्रियों के विकास के अभाव में मानसिक विकास असम्भव है अतः इन्द्रियों के विकास के लिये, खेलना, कूदना, उठना बैठना एवं तैरना परमावश्यक है। इस अवस्था में न तो बालक को किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा देना चाहिये न उसे किसी विषय की पुस्तकों से लादना चाहिये।

(३) किशोरावस्था (Boyhood)—किशोरावस्था में बालक ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। इस काल में किशोर एमील को इस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिये जिससे उसको परिश्रम, शिक्षा एवं अध्ययन का अधिक अवसर प्राप्त हो। फलस्वरूप पाठ्यक्रम में प्राकृतिक विज्ञान, भाषा, गणित, संगीत, ड्राइंग, लकड़ी का काम, सामाजिक जीवन के किसी व्यवसाय आदि को स्थान देना चाहिये। इसके साथ-साथ किशोर को परस्पर निर्भरता का अनुमान करने, कर्त्तव्य-पालन करने, उत्तर-दायित्व को समझने आदि की शिक्षा देना चाहिये।

(४) युवावस्था (Adulthood)—युवावस्था में रूसो बालक के भावात्मक विकास के लिये पाठ्यक्रम में ऐसे विषय निर्धारित करना चाहता है जो बालक में नैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक भावनाओं को जाग्रत करें। इस दृष्टि से रूसो के अनुसार पाठ्यक्रम में इतिहास, प्राचीन कथायें हितोपदेश की कहानियाँ, शारीरिक शिक्षा, संगीत, कला एवं काम शिक्षा को स्थान देना चाहिये। रूसो ने जो युवावस्था की शिक्षा के सम्बन्ध में विचार किया है उसको प्रस्तुत करते हुए मुनरो महोदय लिखते हैं:—

"Now the youth is to be educated for life which others and is to be educated in social relationship. Love for others becomes the controlling motive, emotional development and moral perfection, the goal." —Munroe

चाहती है (५) रूसो के स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी विचार

*"I call positives About Woman Education)
mind prematurely and to ... सुखी बनाना
belong to man." ...Man Happy)

रूसो ने एमील (Amile) को तरह उसकी भावी पत्नी सोफी (Sophi) की शिक्षा के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत करते हुए नारियों की शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। रूसो का विचार है कि नारियों का अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं होता बल्कि वे तो पुरुषों की प्रकृति की पूरक मात्र होती हैं। रूसो के अनुसार नारी-शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य है पुरुष को सुखी बनाना। रूसो के शब्दों में "स्त्रियों में जिस बात की सबसे अधिक आवश्यकता है वह है नम्रता। वह मनुष्य जैसे अपूर्ण प्राणी की आज्ञा-पालन करने के लिये बनी है, उसे अन्याय के सामने नतमस्तक होना सीखना चाहिये। उसे अपने स्वयं के लिये विनम्र होना चाहिये, न कि पति के लिये।"

"What is most wanted in woman is gentleness, bound to obey a creature so imperfect as a man, should early learn to submit to injustice and to suffer the wrongs inflected on her own sake, not his."

—Rousseau

[ब] स्त्री शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम (Curriculum for Women Education)

रूसो ने सोफी (Sophie) की शिक्षा के लिये पाठ्यक्रम में निम्न विषयों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है (१) शारीरिक शिक्षा (Bodily Education)—स्त्री अपने शरीर को सुदृढ़, सुन्दर तथा आकर्षक बनाये रहे इसके लिये रूसो ने पाठ्यक्रम में शारीरिक शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। (२) गृह विज्ञान (Home Science)—स्त्रियों को गार्हस्थिक जीवन से सम्बन्धित बातों में निपुण बनाने के लिए रूसो ने पाठ्यक्रम में गृह विज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। सीना, पिरोना, काटना, खाना बनाना इत्यादि गृह विज्ञान से सम्बन्धित विषय हैं। (३) संगीत और नृत्य (Music and Dance)—पति को सदैव प्रसन्न रखने के लिये स्त्रियों को संगीत तथा नृत्य की शिक्षा आवश्यक है। (४) धार्मिक शिक्षा (Religious Education)—रूसो ने स्त्रियों के लिये धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा को भी महत्व-पूर्ण स्थान दिया है। उसका विचार है कि प्रत्येक बालिका को अपनी माता के धर्म को मानना चाहिये और प्रत्येक स्त्री को अपने पति के धर्म को।"

[स] कार्यरत होना ही स्त्रियों के लिए शिक्षा पद्धति
(To Remain Busy in the Work is the Method of Woman Education)

रूसो का विचार है कि स्त्रियों को सर्वदा कार्य में संलग्न रहना चाहिये। यह विधि ही इसकी शिक्षा की एकमात्र पद्धति है। रूसो ने लिखा है "बालिकाओं की शिक्षा का सामान्य सिद्धान्त इनमें कार्य के लिये भावना उत्पन्न कर[illegible] है। इस व्यवस्था तुम करते हो किन्तु उन्हें कार्यरत रखो।"

"The general principle to be fol[illegible] girls is to show the sense of t[illegible] keep them busy."

[ब] एमील एवं सोफी की शिक्षा में अन्तर
(Difference between the Education of Emile and Sophie)

रूसो ने एमील एवं सोफी की शिक्षा में अन्तर प्रस्तुत करते हुए लड़के एवं लड़कियों की शिक्षा में अन्तर प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार बालक का शिक्षक उसका पिता होता है और बालिका की शिक्षिका उसकी माता। उसके अनुसार 'एमील' की शिक्षा में स्वतन्त्रता आवश्यक है परन्तु उसकी पत्नी सोफी की शिक्षा में अधिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता नहीं है। उसके अनुसार 'एमील' की शिक्षा प्राकृतिक एवं आडम्बररहित होना चाहिये एवं सोफी की शिक्षा परम्पराओं पर आधारित होना चाहिये। रूसो का विचार था कि स्त्री एवं पुरुष के जीवन-लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं। "पुरुष को शक्तिशाली तथा कार्यशील होना चाहिये, स्त्री को अबला एवं निष्क्रिय। पुरुष सेवाभाव खोजता है, स्त्री प्रसन्न करना खोजती है। एक को ज्ञान की आवश्यकता है तो दूसरे को कलात्मक आकर्षण की।......स्त्री पुरुष की प्रसन्नता के लिये है।"

"The man should be strong and active, the woman should be weak and passive. The man seek to serve, the woman seek to please, ons needs knowledge the other taste... ...woman is made for man's delight." —Rousseau

(५) रूसो का निषेधात्मक सिद्धान्त
(Rousseau's Principle of Negative Education)

[अ] निश्चयात्मक शिक्षा का विरोध (Opposition of Positive Education)

रूसो के समय जो शिक्षा बालकों को दी जाती थी वह बालकों को बालक न समझकर बल्कि उसे एक लघु प्रौढ़ (Miniature adult) समझ कर दी जाती थी। जो शिक्षा प्रौढ़ जीवन के लिये आवश्यक है वह छोटे बालकों को दी जाती थी, नैतिकता एवं चरित्र की शिक्षा बालक के मन के अनुकूल नहीं थी। बालक के शारीरिक विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। इस समय की शिक्षा का विरोध करते हुए रूसो लिखता है, "उस क्रूर शिक्षा के सम्बन्ध में हम क्या विचार करें जो वर्तमान को अनिश्चित भविष्य पर बलि दे देती है, बालक पर भली-भाँति के बन्धन लाद देती है, उस काल्पनिक सुख के लिये जो शायद उसे कभी न मिलेगा बहुत पहले से उसे दुःखी बना कर दी जाती है।" उसने अपने समय की शिक्षा को निश्चयात्मक शिक्षा (Positive Education) के नाम से सम्बोधित किया। रूसो ने निश्चयात्मक शिक्षा की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है, "मैं निश्चयात्मक शिक्षा उस शिक्षा को कहता हूँ जो कि समय के पहिले ही मस्तिष्क को विकसित करना चाहती है और बालकों को प्रौढ़ों के कर्तव्यों से सम्बन्धित शिक्षा देती है।"*

*"I call positive education one that tends to form the mind prematurely and to instruct the child in the duties that belong to man." —Rousseau

निश्चयात्मक शिक्षा निम्न बातों पर बल देती है। (१) पुस्तकीय शब्द ज्ञान, (२) कठोर अनुशासन, (३) नैतिकता तथा धर्म, (४) सामाजिक शिक्षा, तथा (५) अच्छी आदतों का निर्माण।

[ब] निषेधात्मक शिक्षा का समर्थन (Vindication of Negative Education)

रूसो प्रचलित शिक्षा प्रणाली से बहुत असन्तुष्ट था। वह नहीं चाहता था कि बालकों को उनकी प्रकृति के प्रतिकूल आदर्शों, नियमों, अनुशासन तथा शाब्दिकता की शिक्षा प्रदान की जाय। रूसो ने प्रचलित शिक्षा-सिद्धान्तों का विरोध करते हुए कहा है "शिक्षा में जितने भी प्रचलित सिद्धान्त हैं उन सबके विपरीत काम करो, तभी तुम हमेशा काम कर सकोगे।"* रूसो के इस विचार के कारण ही उसने जो शिक्षा का स्वरूप प्रस्तुत किया है उसे 'निषेधात्मक शिक्षा (Negative Education) कहते हैं।" रूसो ने निश्चयात्मक शिक्षा का विरोध करते हुए तथा निषेधात्मक शिक्षा का समर्थन करते हुए लिखा है "प्रथम सच्ची शिक्षा नकारात्मक होना चाहिये। वह शिक्षा सत्य तथा सद्गुणों को पढ़ाने में निहित नहीं है बल्कि हृदय को बुराई से बचाने और मस्तिष्क भूल करने से रोकने में निहित है। (१) पुस्तकीय या शाब्दिक ज्ञान, (२) आदत निर्माण, (३) अनुशासन, (४) सामाजिक शिक्षा, तथा (५) नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा आदि का विरोध निषेधात्मक शिक्षा के प्रमुख रूप हैं। रूसो ने निषेधात्मक शिक्षा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "मैं निषेधात्मक शिक्षा उस शिक्षा को कहता हूँ जो कि उन अंगों की पूर्णता में निहित है जो कि हमारे ज्ञान के साधन हैं अर्थात् जो शिक्षा इन्द्रियों के उचित अभ्यास से बुद्धि को विकसित करती है। निषेधात्मक शिक्षा का अर्थ आलस्य का समय नहीं है बल्कि यह उससे बहुत दूर है। सद्गुण प्रदान नहीं करती बल्कि भूल से रोकती है। यह बालक को अपने उस मार्ग के चयन के लिये स्वतन्त्र छोड़ देती है जो उसे सत्य तक ले जाये, जब वह सत्य के समझने के योग्य आयु का हो जाता है, जो उसे उत्तमता तक ले जाता है तब वह उसे प्रेम करने तथा पहचानने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।"

"I called a negative education that which tends to perfect the organs that are the instruments of konwledge before giving this knowledge directly and that endeavours to prepare the way for reason by proper exercise of the senses. A negative education does not mean the time of idleness but far from it. It does not give virtue, it protects from error. It disposes the child to take the path that will lead him to truth

---

*"Take the reverse of the accepted practice and you will almost do always right.

—Rousseau

when he has reached the age to understand it and do goodness when he has acquired the faculty of recognising and loving."

—Rousseau

(६) रूसो के अनुसार शिक्षण

(Method of Education According to Rousseau)

[अ] 'करके सीखने एवं स्वानुभव द्वारा सीखने' के सिद्धान्त का समर्थन

(Vindication of Learning by Doing and Learning by Experience)

प्रकृतिवाद के प्रवर्तक शिक्षाशास्त्री रूसो ने अपनी विधियों में 'करके सीखने' (Learning by Doing) एवं 'स्वानुभव द्वारा सीखने' (Learning by Experience) के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। उसका विचार था कि क्रिया एवं अनुभव द्वारा सीखने में केवल बालक को सुविधा नहीं रहती, वरन् बालक जो शिक्षा प्राप्त करता है वह स्थायी एवं समय पर याद होने वाली होती है। रूसो ने पुस्तकीय ज्ञान का विरोध करते हुए कहा है, "मैं पुस्तकों से घृणा करता हूँ क्योंकि जो हम नहीं जानते उसी के बारे में बातचीत करना सिखलाती हैं।" अगर रूसो ने बालकों के पढ़ने के लिए कोई भी पुस्तक स्वीकृत की है तो वह है 'रोबिन्सन क्रोसो (Robinson Crusoe) क्योंकि इस पुस्तक में मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकतायें इस प्रकार लिखी हुई है कि बालक उन्हें बहुत सरलता से समझ सकता है और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी सरलता से जान सकता है। कहने का तात्पर्य यह यह है कि रूसो ने पुस्तकीय शिक्षा का विरोध करते हुए एवं अनुभव द्वारा शिक्षा प्राप्त करने का महत्व दिया है। उन्होंने स्वयं लिखा है :—

"Let all the lessons of young people take the form of doing rather than talking, let them hear nothing from books which they can learn from experience." —Rousseau

[ब] स्वयं सोच-विचार कर परिणाम निकालने का सिद्धान्त

(Principle of Getting Conclusion by Self-thinking)

रूसो का विचार है कि बालकों को अपने अनुभवों से स्वयं सोच-विचार कर परिणाम निकालने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। फलस्वरूप वह 'एमील' को प्राकृतिक विज्ञान की शिक्षा इस प्रकार देने का प्रयास करता है कि बालक में जिज्ञासा, कौतूहल एवं अन्वेषण प्रवृत्ति का विकास कर सकें। रूसो द्वारा प्रतिपादित 'स्वयं आधार कर अपने अनुभव के परिणाम निकालने के सिद्धान्त' के आधार पर आगे

"Rousseau's conce... रिस्टिक पद्धति (Heuristic Method) का
misanthropic view of the li... 'शब्द की अपेक्षा वस्तु पर अधिक बल
quite so genial. It led to comple... स्पष्ट होता है कि बालक को शिक्षण
the preference for the life of the reclu... बनाई जाय।

निश्चयात्मक शिक्षा निम्न बातों पर बल देती है। (१) पुस्तकीय शब्द ज्ञान, (२) कठोर अनुशासन, (३) नैतिकता तथा धर्म, (४) सामाजिक शिक्षा, तथा (५) अच्छी आदतों का निर्माण।

[ब] निषेधात्मक शिक्षा का समर्थन (Vindication of Negative Education)

रूसो प्रचलित शिक्षा प्रणाली से बहुत असन्तुष्ट था। वह नहीं चाहता था कि बालकों को उनकी प्रकृति के प्रतिकूल आदर्शों, नियमों, अनुशासन तथा शाब्दिकता की शिक्षा प्रदान की जाय। रूसो ने प्रचलित शिक्षा-सिद्धान्तों का विरोध करते हुए कहा है "शिक्षा में जितने भी प्रचलित सिद्धान्त हैं उन सबके विपरीत काम करो, तभी तुम हमेशा काम कर सकोगे।"* रूसो के इस विचार के कारण ही उसने जो शिक्षा का स्वरूप प्रस्तुत किया है उसे 'निषेधात्मक शिक्षा (Negative Education) कहते हैं।" रूसो ने निश्चयात्मक शिक्षा का विरोध करते हुए तथा निषेधात्मक शिक्षा का समर्थन करते हुए लिखा है "प्रथम सच्ची शिक्षा नकारात्मक होना चाहिये। वह शिक्षा सत्य तथा सद्गुणों को पढ़ाने में निहित नहीं है बल्कि हृदय को बुराई से बचाने और मस्तिष्क भूल करने से रोकने में निहित है। (१) पुस्तकीय या शाब्दिक ज्ञान, (२) आदत निर्माण, (३) अनुशासन, (४) सामाजिक शिक्षा, तथा (५) नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा आदि का विरोध निषेधात्मक शिक्षा के प्रमुख रूप हैं। रूसो ने निषेधात्मक शिक्षा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "मैं निषेधात्मक शिक्षा उस शिक्षा को कहता हूँ जो कि उन अंगों की पूर्णता में निहित है जो कि हमारे ज्ञान के साधन हैं अर्थात् जो शिक्षा इन्द्रियों के उचित अभ्यास से बुद्धि को विकसित करती है। निषेधात्मक शिक्षा का अर्थ आलस्य का समय नहीं है बल्कि यह उससे बहुत दूर है। सद्गुण प्रदान नहीं करती बल्कि भूल से रोकती है। यह बालक को अपने उस मार्ग के चयन के लिये स्वतन्त्र छोड़ देती है जो उसे सत्य तक ले जाये, जब वह सत्य के समझने के योग्य आयु का हो जाता है, जो उसे उत्तमता तक ले आता है तब वह उसे प्रेम करने तथा पहचानने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।"

"I called a negative education that which tends to perfect the organs that are the instruments of konwledge before giving this knowledge directly and that endeavours to prepare the way for reason by proper exercise of the senses. A negative education does not mean the time of idleness b[illegible] far from it. It does not give virtue, it protect[illegible] for error. It disposes the child to take the path [illegible] that will lead him to truth [illegible]"

---

*"Take the reverse of [illegible] the accepted practice and you will almost do always [illegible] right.

—Rousseau

when he has reached the age to understand it and do goodness when he has acquired the faculty of recognising and loving."

—**Rousseau**

(६) रूसो के अनुसार शिक्षण
(Method of Education According to Rousseau)

[अ] 'करके सीखने एवं स्वानुभव द्वारा सीखने' के सिद्धान्त का समर्थन

(Vindication of Learning by Doing and Learning by Experience)

प्रकृतिवाद के प्रवर्तक शिक्षाशास्त्री रूसो ने अपनी विधियों में 'करके सीखने' (Learning by Doing) एवं 'स्वानुभव द्वारा सीखने' (Learning by Experience) के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। उसका विचार था कि क्रिया एवं अनुभव द्वारा सीखने में केवल बालक को सुविधा नहीं रहती, वरन् बालक जो शिक्षा प्राप्त करता है वह स्थायी एवं समय पर याद होने वाली होती है। रूसो ने पुस्तकीय ज्ञान का विरोध करते हुए कहा है, "मैं पुस्तकों से घृणा करता हूँ क्योंकि जो हम नहीं जानते उसी के बारे में बातचीत करना सिखलाती हैं।" अगर रूसो ने बालकों के पढ़ने के लिए कोई भी पुस्तक स्वीकृत की है तो वह है 'रोबिन्सन क्रोसो (Robinson Crusoe) क्योंकि इस पुस्तक में मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकतायें इस प्रकार लिखी हुई हैं कि बालक उन्हें बहुत सरलता से समझ सकता है और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी सरलता से जान सकता है। कहने का तात्पर्य यह यह है कि रूसो ने पुस्तकीय शिक्षा का विरोध करते हुए एवं अनुभव द्वारा शिक्षा प्राप्त करने का महत्व दिया है। उन्होंने स्वयं लिखा है :—

"Let all the lessons of young people take the form of doing rather than talking, let them hear nothing from books which they can learn from experience." —**Rousseau**

[ब] स्वयं सोच-विचार कर परिणाम निकालने का सिद्धान्त

(Principle of Getting Conclusion by Self-thinking)

रूसो का विचार है कि बालकों को अपने अनुभवों से स्वयं सोच-विचार कर परिणाम निकालने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। फलस्वरूप वह 'एमील' को प्राकृतिक विज्ञान की शिक्षा इस प्रकार देने का प्रयास करता है कि बालक में जिज्ञासा, कौतूहल एवं अन्वेषण प्रवृत्ति का विकास कर सकें। रूसो द्वारा प्रतिपादित 'स्वयं आध... कर अपने अनुभव के परिणाम निकालने के सिद्धान्त' के आधार पर आगे

"Rousseau's conc... ...िस्टिक पद्धति (Heuristic Method) का

misanthropic view of the li... ...में 'शब्द की अपेक्षा वस्तु पर अधिक बल

quite so genial. It led to comple... ...स्पष्ट होता है कि बालक को शिक्षण

the preference for the life of the rec... ...नि बनाई जाय।

[स] 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' का सिद्धान्त

(Principle of Maxim of 'From Concrete to Abstract')

रूसो ने बालकों की प्रकृति के अनुकूल स्थूल से सूक्ष्म ज्ञान के सिद्धान्तों को अपनी शिक्षण पद्धति में स्थान दिया। इस सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए उसने लिखा है "सामान्यतया किसी स्थूल वस्तु के लिये चिन्ह का प्रयोग मत करो। इसका प्रयोग तभी करो जब स्थूल वस्तु सम्मुख लाना सम्भव न हो क्योंकि चिन्ह बालक के ध्यान को आकर्षित करता है एवं वास्तविक वस्तु को भूल जाता है। हमें चाहिये कि संवेदना को विचारों में परिणत कर दें.........हम पहली के माध्यम से दूसरे तक पहुँचते हैं।"

"In general never substitute a sign for the thing itself, save it when it is impossible to show the thing for the sign absorbs the attention of the child and makes him forget the thing represented. Let us transform sensations into ideas...it is through the first that we reach the second." —Rousseau.

रूसो के अनुसार अनुशासन

(Discipline According to Rousseau)

[अ] प्राकृतिक दण्ड-व्यवस्था के सिद्धान्त का समर्थन (Vindication of the Principle of Punishment by Natural Consequences)

रूसो के समय में अनुशासन स्थापना के लिये बालकों को कड़ी यातनायें भुगतनी पड़ती थीं। दूसरे शब्दों में उस समय दमनात्मक अनुशासन (Repressionistic Discipline) का साम्राज्य फैला हुआ था। इस समय पशुवत् एवं मनोविज्ञान से अपरिचित शिक्षकों का यह विचार था कि "जैसे ही बालकों को दण्ड देना बन्द कर दिया जाता है वैसे ही वे बिगड़ जाते हैं।" (Spare the rod and spoil the child) इस प्रकार के दण्डवादी अनुशासन से बालकों का स्वाभाविक विकास रुक जाता था, फलस्वरूप रूसो ने अनुशासन सम्बन्धी एक नया सिद्धांत प्रस्तुत किया जिसका नाम है "प्राकृतिक दण्ड-व्यवस्था का सिद्धान्त" (Principle of punishment by natural consequences) इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति स्वयं बालक को अच्छे बुरे का ज्ञान कर देती है। जब बालक अच्छा कार्य करता है तो उसे पुरस्कार प्राप्त होता है और जब वह बुरा कार्य करता है तो प्रकृति उसे दण्ड देती है। इस प्रकार रूसो के शब्दों में "बालकों को कभी दण्ड न देना ...ror. It
दण्ड तो उनकी भूल के प्राकृतिक परिणाम के रू... that will lead him to truth

"Children should never ...
such, it should always com... be the accepted practice and you
fault." ... right. —Rousseau

(ब) मुक्तात्मक अनुशासन का समर्थन
(Vindication of Emancipationistic Discipline)

रूसो ने मुक्त्यात्यक अनुशासन का समर्थन किया है जिसके अनुसार बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहिये। क्योंकि ऐसी स्थिति में ही वह अपने व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास कर सकेगा। अतः रूसो बालक को स्वतन्त्रता पर जोर देता है।

रूसो के शैक्षणिक विचारों की आलोचना
(Criticism of Educational Views of Rousseau)

(१) रूसो के विचार अशान्ति तथा अधार्मिकता के उत्पादक (Rousseau's views caused distrubance and apathy to religion)—रूसो के समकालीन अन्धविश्वासी धार्मिक नेताओं ने 'एमील' को धर्म-विरोधी कहकर उसकी बड़ी आलोचना की। इतना ही नहीं पेरिस के आर्च बिशप ने उसके पढ़ने पर रोक लगा दी। उस पर ये दोषारोपण किये कि एमील में एक घृणात्मक सिद्धान्त है जो कि प्रकृति नियम को उलटने के लिये तैयार है और ईसाने धर्म की आधारशिला विनाश करने वाला राज्यों को शान्ति को खतरे में डालने वाला, जनता को क्रान्ति के लिये भड़काने वाला, बहुत से असत्य विचारों का समावेश करने वाला, चर्च के विरुद्ध घृणा से भरा हुआ, पवित्र ग्रन्थ की प्रतिष्ठा पर आघात करने वाला, भूलयुक्त, अपवित्र, नास्तिक एवं सर्वमान्य विचारों के विरुद्ध हैं।

"Emile is a book, containing an abominable doctrine, ready to subvert natural law and to destroy the foundation of Christian religion, tending to trouble the peace of the states, to cause subject to revolt against their sovereign as containing large number of propesitions false, scandalous, full of hate against Church derogatory to the respect of holy scripture, erroneous, impious, blasphemous and heretical."

—Archbishop

(२) असामाजिक विचार (Unsocial Views)—रूसो के विचार समाज-विरोधी हैं। मुनरो ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है "रूसो की अवधारणा पूर्णतया मानवीय विचार पर आधारित थी, न्यायोचित नहीं थी। इसकी प्रेरणा का फल यह हुआ कि लोग पूर्ण रूप से समाज से अलग होने लगे और साधुओं के जीवन को अधिक पसन्द करने लगे।"

"Rousseau's conception however, based upon a wholly misanthropic view of the life of the man in society, was not quite so genial. It led to complete isolation from society and the preference for the life of the recluse." —Munroe.

(३) साधन के रूप में स्त्रियों का स्थान (The Place of Woman as Means)—रूसो ने स्त्रियों की शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य पुरुषों को सन्तुष्ट रखना बतलाकर स्त्रियों को साधन (Means) के रूप में व्याख्या की है। यह सर्वथा अनुचित है। रस्क का इस सम्बन्ध में विचार है कि रूसो स्त्रियों के स्वभाव को समझने में भी दूसरे से भी कहीं अधिक अयोग्य था और इसलिये उसके विचार स्व-विरोधी हैं। उसकी प्रारम्भिक रचनाओं में उसका विश्वास था कि जो हाथ पालने को झुलाता है, संसार का शासन करता है, किन्तु बाद के लेखों में उसने मिल्टन की तरह व्यक्त किया है कि स्त्रियों को ईश्वर ने विवाह के लिये और विवाह मनुष्य के लिये बनाया है।

"Rousseau was, even more, unfitted than most other men to understand women, and his views are accordingly even more contradictory. In his earlier writings his belief was that the hand that rocks the cradle rules the world, but, in later writings he might have quoted Milton that God made woman for marriage and marriage for man." —Rusk.

(४) बालकों को पूर्ण स्वतन्त्रता देना खतरनाक (To give full freedom is dangerous)—रूसो ने प्राकृतिक दण्ड-व्यवस्था के सिद्धान्त पर जोर देते हुये बालकों की पूर्ण स्वतन्त्रता की दुहाई दी। किन्तु यह न विचार किया कि प्रकृति के विनाशकारी तत्त्व बालकों की भूल की अपेक्षा कितने अधिक दुःखदायी हो सकते हैं। हक्सले ने इस ओर संकेत करते हुये लिखा है। "इसमें खतरा है कि बालक को उससे ज्यादा स्वतन्त्रता दी जाये जितनी कि वे लाभपूर्वक सहन कर सकते हैं। बालकों को अत्यधिक स्वतन्त्रता एवं उत्तरदायित्व प्रदान करना उनमें से बहुतेरों के सुकुमार दिमाग को थका डालता है।"

"There is a danger that children may be given more freedom that they can profitadly deal with......to give children more freedom and responsibility is to impose a strain on many of them." —Huxely.

(५) प्राकृतिक अनुशासन अनैतिकता एवं अनुपयोगी (Natural Discipline is Immoral and Useless)—वास्तव में प्राकृतिक अनुशासन से यह आशा नहीं की जाती कि वह बालक के चरित्र का निर्माण कर सकेगा और उसके जीवन के लिये उपयोगी सिद्ध होगा क्योंकि प्रकृति अन्धी होती से। उसमें नैतिकता तथा उपयोगिता का कोई स्थान नहीं है।

शिक्षा के क्षेत्र में रूसो के विचार का प्रभाव
(Influence of the Views of Rousseau in the Field of Education)

रूसो के शैक्षणिक विचारों का शिक्षा के क्षेत्र में निम्न प्रभाव पड़ा—

(१) **मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास** (Development of Psychological Tendency)—शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को जन्म देने का बहुत कुछ श्रेय रूसो के शैक्षणिक विचारों को मिला है क्योंकि उसने शिक्षा सम्बन्धी जो भी विचार प्रस्तुत किये हैं उन सबका आधार बालक की जन्मजात मूल-प्रवृत्तियाँ एवं शक्तियाँ हैं। उसका विचार था कि बालक को शिक्षा प्रदान करने से पूर्व प्रत्येक शिक्षक को बालक रूपी पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए तत्पश्चात् उस अध्ययन के अनुसार उसे शिक्षा देना चाहिए। इस प्रकार उसने बाल-केन्द्रित शिक्षा (Child-centred Education) का समर्थन किया एवं शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में एक नवीन युग अर्थात् मनोवैज्ञानिक युग का श्रीगणेश किया।

(२) **वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास** (Development of Scientific Tendency)—रूसो ने प्रकृतिवादी विचारधारा का प्रतिपादन कर शिक्षा के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रस्तुत किया। उसने 'प्रकृति निरीक्षण' के सिद्धान्त की उपयोगिता को प्रस्तुत कर पाठ्यक्रम में प्राकृतिक विज्ञान को स्थान दिया। फलस्वरूप वर्तमान युग में प्राकृतिक विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, जीवविज्ञान के अध्ययन को महत्व दिया जाने लगा है। रूसो के वैज्ञानिक विचारों के आधार पर स्पेन्सर एवं हक्सले ने शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति को पूर्ण रूपेण विकसित किया।

(३) **सामाजिक प्रवृत्ति का विकास** (Development of Sociological Tendency)—रूसो ने व्यक्तिवाद को अपने विचारों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उसने बालक की शिक्षा व्यक्तिगत विभिन्नता (Individual Difference) के आधार पर निर्धारित की है। परन्तु उसके व्यक्तिवादी विचारों से सामाजिक विचारों को भी स्थान मिला है, उसने बालकों में सामाजिक गुणों का विकास करना आवश्यक बतलाया है। उसने 'एमील' में सदाचारिता, सहयोग, प्रेम एवं परस्पर सहानुभूति की भावनाओं का विकास करना परमावश्यक समझा है। आधुनिक शिक्षा में नैतिक, सामाजिक एक व्यावसायिक शिक्षा को विशेष महत्व दिये जाने का उत्तरदायित्व रूसो के विचारों को है। इस प्रकार शिक्षा में सामाजिक प्रवृत्ति को जन्म देने में रूसो के विचार बहुत ही सहायक हुये हैं।

(४) **आधुनिक शिक्षा पद्धतियों का प्रथम अन्वेषक** (First Inventor of Modern Methods of Education)—रूसो ने बाल-केन्द्रित शिक्षा (Child-centred Education) का विचार प्रस्तुत कर शिक्षा के क्षेत्र में एक ऐसा आधार प्रस्तुत किया जिस पर आधुनिक पद्धतियाँ-ह्यूरिस्टिक योजना, किन्डरगार्टन, डाल्टन, मान्टेसरी इत्यादि आधारित हैं। इस तरह से रूसो को आधुनिक शिक्षा पद्धतियों का प्रथम अन्वेषक कहा जा सकता है।

(५) **रूसो का विश्वव्यापी प्रभाव** (Universal Influence of Rousseau)—यद्यपि रूसो के विचारों का जर्मनी तथा फ्रांस में क्रियात्मक प्रभाव पड़ा,

किन्तु वर्तमान समय में ऐसा कोई देश न होगा जहाँ कि शिक्षा में रूसो के विचारों का प्रभाव न पड़ा हो।

उपसंहार (Conclusion)

सारांश यह है कि प्रकृतिवाद के प्रवर्तक रूसो के शैक्षणिक विचारों ने शिक्षा के विभिन्न पक्षों को प्रभावित किया। रूसो के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्षों शैक्षणिक सिद्धान्त, शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम का निर्माण, स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी विचार, निषेधात्मक शिक्षा का सिद्धान्त, शिक्षण पद्धति एवं अनुशासन सम्बन्धी विचार पर विहंगम दृष्टि डालने से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि रूसो ने बालक के व्यक्तित्व का आदर करते हुए उसकी प्रकृति के अनुकूल उसे शिक्षा प्रदान करने का विचार प्रस्तुत किया है। आधुनिक समय में रूसों के विचारों का प्रभाव शिक्षा में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति, वैज्ञानिक प्रवृत्ति के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। नाना प्रकार की बाल-केन्द्रित शिक्षा-पद्धतियों के निर्माण होने का श्रेय बहुत कुछ रूसो के विचारों से प्राप्त हुआ है। यद्यपि कुछ लोगों ने रूसो के विचारों का आलोचना करते हुए कहा है कि रूसो ने आध्यात्मिक प्रवृत्ति की अवहेलना की है, उसकी निषेधात्मक शिक्षा दोषपूर्ण है, उसका प्राकृतिक दण्ड-व्यवस्था का सिद्धान्त अनुचित है, उसका बालक को समाज से दूर रखने का विचार ठीक नहीं है, आदि। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि वे रूसो ही के विचार हैं जिनके प्रभाव के परिणामस्वरूप आज विश्व के समस्त शिक्षक बालक के व्यक्तित्व को महत्त्व प्रदान करते हुए उसे शिक्षा देने का यथासम्भव प्रयास कर रहे हैं।

३६
हरबार्ट

(Herbart : 1776-1841)

प्रश्न संख्या—३६

हरबार्ट के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षिक विचारों की विवेचना कीजिये।

Discuss the psychological, philosophical and educational views of Herbart.

भूमिका (Introduction)

पेस्टालॉजी (Pestalozzi) के परम शिष्य हरबार्ट (Herbart) का जन्म १७७६ ई० में जर्मनी के ओल्डेनवर्ग नामक स्थान में हुआ था। उसके माता एवं पिता दोनों ही योग्य थे। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा उसकी योग्य माता-पिता ने दी थी। विद्यार्थी जीवन से ही वह आध्यात्मिक विषयों पर कई लेख लिखने लगा था। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् हरबार्ट ने उच्च शिक्षा के लिये 'जेना विश्वविद्यालय' में अपना नाम लिखवाया। विश्वविद्यालय में यह 'नवीन मानवतावादी' (New Humanism) विचारों एवं आदर्शों से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने यह धारणा बना ली कि उचित शिक्षा द्वारा मनुष्य में उच्च नैतिक तत्वों का पूर्ण विकास किया जा सकता है। उसने विश्वविद्यालय की शिक्षा २१ वर्ष की अवस्था में पूरी कर ली। तत्पश्चात् वह स्विटजरलैण्ड के गवर्नर के बच्चों को ३ वर्ष तक पढ़ाता रहा। बच्चों को पढ़ाते हुए उसने बालकों की 'व्यक्तिगत विभिन्नताओं' (Individual differences) एवं 'उनके मानसिक विकास' (Mental Development) का अच्छी तरह अध्ययन कर लिया। साथ ही साथ अध्ययन करते हुए शिक्षा-सिद्धान्त (Principle of Education) एवं शिक्षा-मनोविज्ञान (Educational Psychology) से सम्बन्धित बहुत सा अनुभव प्राप्त कर लिया। इन्हीं अनुभवों को उसने शिक्षाशास्त्र का आधार बनाया। जिज्ञासु शिक्षाशास्त्री हरबार्ट पेस्टालाजी से मिलने के हेतु बर्गडार्फ (Burgdorf) पहुँचा और वहाँ पर उसको पेस्टालाजी की शिक्षण-पद्धति का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। वह महान् शिक्षक एवं शिक्षाशास्त्री पेस्टालाजी से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने शैक्षणिक विचारों को वैज्ञानिक रूप देने का निश्चय कर लिया। उसने सन् १८०२ से लेकर १८०८ तक 'गाटिंजेन विश्वविद्यालय' (Gottingen

University) में शिक्षाशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के अध्ययन का कार्य किया। तत्पश्चात् सन् १८०६ में वह 'कुनिसवर्ग विश्वविद्यालय (Konisderg) में पाचार्य-पद पर नियुक्त हुआ। यहीं पर उसने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का संशोधन करते हुए उनको व्यावहारिक रूप प्रदान किया। हरबार्ट ने अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिए "साइंस आफ पेडागाजी" (Science of Pedagogy) एवं "आउट लाइंस आफ पेडागाजिकल थ्योरी" (Outlines of Pedagogical Theory) नामक ग्रन्थ लिखे। सन् १८४१ में महान् शिक्षाशास्त्री हरबार्ट का स्वर्गवास हो गया। अब हम पहले हरबार्ट के दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक विचार प्रस्तुत करेंगे, तत्पश्चात् उसके शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालेंगे।

हरबार्ट के दार्शनिक विचार

(Philosophical Views of Herbart)

[क] शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण करना है

(The Aim of Education is the Formation of Character)

हरबार्ट महोदय ने नीतिशास्त्र (Ethics) के आधार पर शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित किया। उन्होंने शिक्षा का उद्देश्य बालकों का चरित्र निर्माण करना अर्थात् नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास बतलाया। हरबार्ट के शब्दों में "शिक्षा का उद्देश्य जो समस्त गौण उद्देश्यों को सम्मिलित करता है, अच्छे व्यक्तियों का निर्माण कहा जा सकता है।"* दूसरे शब्दों में हरबार्ट के अनुसार "शिक्षा की समस्त समस्या केवल एक शब्द "नैतिकता के अन्तर्गत लाई जा सकती है।"

"The whole problem of education may be comprised in a single concept-morality." —Herbart.

[ख] चरित्र-निर्माण दृढ़ इच्छा-शक्ति पर निर्भर है

(Character Formation Depends on Strong Will-power)

हरबार्ट के अनुसार चरित्र-निर्माण तभी सम्भव है जब व्यक्ति में दृढ़ इच्छा-शक्ति का विकास हो। बिना दृढ़ इच्छा-शक्ति के एक तो चरित्र-निर्माण हो ही नहीं सकता और यदि होता है तो वह बहुत शीघ्र दूषित हो जायगा। इसलिए बालकों के चरित्र-निर्माण के लिये यह आवश्यक है कि उनमें दृढ़ इच्छा-शक्ति उत्पन्न की जाय।

[ग] दृढ़ इच्छा-शक्ति मस्तिष्क में विचार-चक्र की सम्पूर्णता पर निर्भर है

(Strong will-power Depends on the Totality of Circle of Thought in Mind)

---

*"The aim of education that includes all minor aims is the production of good men." —Herbart.

हरबार्ट के अनुसार दृढ इच्छा-शक्ति का उत्पादन होना मस्तिष्क में विचार चक्र (Circle) की सम्पूर्णता पर निर्भर है। विचार-चक्र क्या है? विचार-चक्र का तात्पर्य उन विचारों से है जो मस्तिष्क में क्रमबद्ध तथा चक्र के रूप में रहते हैं और जिनका एक दूसरे से आपस में सम्बन्ध रहता है।

[ब] विचार-चक्र का निर्माण अनुभव तथा विचार पर निर्भर है

(The Formation of Circle of Thought Depends on Experiences and Thoughts)

हरबार्ट के अनुसार जो अनुभव या विचार बालक या व्यक्ति को प्रदान किये जाते हैं उन्हीं के आधार पर उसके मस्तिष्क में विचार-चक्र का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में जब बालक को उत्तम विचार तथा अनुभव अर्थात् सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जायगा तो विचार-चक्र पूर्ण हो जायगा।

[य] विचार-चक्र का निर्माण तथा विचार पर निर्भर है

(Experiences and Thoughts Depend on Teacning or Instruction)

किसी बालक या व्यक्ति को उत्तम अनुभव तथा विचार कैसे प्राप्त हों इसके लिए अच्छे अध्यापन की आवश्यकता है। अध्यापन बालकों में बहुमुखीय रुचियाँ जाग्रत करता है और इन्हीं बहुमुखी रुचियों से उन्हें बहुमुखी विचार तथा अनुभव प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है और यही विचार तथा अनुभव बालकों के मस्तिष्क में संगठित होकर विचार-चक्र का निर्माण करते हैं।

[१] अतः चरित्र-निर्माण अच्छे अध्यापन पर निर्भर है

(Therefore Character-formation Depends on Good Teaching)

उपर्युक्त शब्दों में हमने देखा कि हरबार्ट के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण करना है। चरित्र-निर्माण दृढ़ इच्छा-शक्ति पर, दृढ़ इच्छा-शक्ति मस्तिष्क में विचार-चक्र की सम्पूर्णता पर, विचार-चक्र अनुभव तथा विचार पर और अनुभव एवं विचार अच्छे अध्यापन पर निर्भर हैं। अतः इस क्रम के अनुसार हम कह सकते हैं कि चरित्र-निर्माण अच्छे अध्यापन पर निर्भर है। किन्तु हरबार्ट के अनुसार जैसा कि हम उपर्युक्त क्रम में देखते हैं, अध्यापन का उद्देश्य सीधे बालकों में विचार-चक्र उत्पन्न करना है और उत्तम विचार तथा अनुभव अर्थात् वास्तविक शिक्षा (Education) बालक के चरित्र का निर्माण करती है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुये हरबार्ट ने लिखा है **"अध्ययन (या निर्देश) विचारक-चक्र का निर्माण करता है और शिक्षा (या अनुभव या विचार) चरित्र का। बिना पहले के दूसरे का कोई महत्व नहीं है। इसी में मेरे शिक्षाशास्त्र का सार निहित है।"**

"Instrouction will form the circle of thought, and education the character. The last is nothing without the first. Here is contained whole sum of my Padagogy."

—**Herbart.**

हरबार्ट के मनोवैज्ञानिक विचार
(Psychological Views of Herbart)

[अ] शिक्षा को आचरणशास्त्र एवं मनोविज्ञान पर आधारित होना चाहिये
(Education Should be Based on Ethics and Psychology)

यद्यपि पेस्टालाजी ने मनोविज्ञान को शिक्षा आधार बनाने के लिये शिक्षा-मनोविज्ञान (Educational Psychology) की भूमिका प्रस्तुत कर दी थी, परन्तु हरबार्ट ने उसको स्पष्ट रूप प्रदान किया। फलस्वरूप हारबार्ट को शिक्षा-मनोविज्ञान का पिता (Father of Educational Psychology) कहा जाता है। हरबार्ट प्रथम शिक्षाशास्त्री था जिसने आचरणशास्त्र एवं मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया। उसने आचरण शास्त्र के आधार पर शिक्षा के उद्देश्यों (Aims of Education) को निधारित किया एवं मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षण-विधि (Method of Teaching) का निर्माण किया।

[ब] मानव मस्तिष्क अथवा आत्मा एक इकाई है (Human Mind or Soul is an Unit)

हरबार्ट महोदय ने सामर्थ्य मनोविज्ञान (Faculty Psychology) का खण्डन करते हुये बतलाया कि मानसिक क्रियाओं की तीन अवस्थायें—ज्ञान, संवेदन, एवं क्रिया (Knowing, Feeling and Willing) प्रथक्-प्रथक् नहीं हैं बल्कि ज्ञान, संवेदना एवं क्रिया, संवेदना में ज्ञान एवं क्रिया और क्रिया में संवेदना एवं ज्ञान निहित है। इसी प्रकार उसके विचार से स्मरण, कल्पना, निर्णय आदि प्रथक्-प्रथक् शक्तियों में विभाजित नहीं वरन् ये तो एक इकाई के रूप में हैं। उसके इस विचार को प्रस्तुत करते हुये एक प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री ने लिखा है—

"The soul........has on innate tendencies nor faculties. It is an error, indeed, to look upon the human soul as an aggregate of all sorts of faculties."

—An Eminent Educationist.

[स] व्यक्ति के मस्तिष्क की रचना बाहरी संसार के अनुभवों से होती है
(Human Minds Constructed by Experience of External World)

हारबार्ट का विचार है कि जब व्यक्ति बालक के रूप में इस संसार में प्रवेश करता है तब उसका मस्तिष्क बिलकुल खाली होता है परन्तु उसमें वातावरण के साथ सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक शक्ति अवश्य निहित रहती है। इसी शक्ति के कारण जब व्यक्ति का मन वातावरण के सम्पर्क में आता है तो उसमें प्रत्यय (Ideas) अथवा विचार उत्पन्न होना प्रारम्भ हो जाते हैं। हरबार्ट के अनुसार ये प्रत्यय अथवा विचार तीन प्रकार के होते हैं— (१) समान (२) असमान एवं (३) विरोधी। सबसे पहले यह समस्त प्रत्यय चेतन (Consciousness) में उत्पन्न

होते हैं, तत्पश्चात् चेतना की सीमा पारकर अचेतन (Unconsciousness) में प्रवेश कर जाते हैं अगर इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती तो ये अचेतन में पड़े हुये किसी पूर्व संचित प्रत्यय के साथ-साथ नवीन प्रत्यय को ग्रहण करने के लिये चेतना में आ जाते हैं। फिर ये पूर्व संचित प्रत्यय एवं नवीन प्रत्यय अचेतन मन में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार पूर्व संचित प्रत्यय अपने से मिलते-जुलते प्रत्ययों को हमेशा ग्रहण किया करते हैं। पूर्व संचित प्रत्यय सर्वदा सहयोगी प्रत्ययों को सहायता प्रदान करते हैं एवं असहयोगी प्रत्ययों का विरोध करते हैं जब पूर्व संचित प्रत्ययों से नवीन प्रत्यय मिल जाते हैं तो ये भी स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्ययों की इस प्रकार ग्रहण करने की मानसिक प्रक्रिया (Mental Process) को मनोविज्ञान 'पूर्वानुवर्ती प्रत्यय ज्ञान ज्ञान' (Apperception) एवं पूर्व संचित प्रत्ययों अथवा विचारों को पूर्वानुवर्ती प्रत्यय ज्ञान का तात्पर्य प्रस्तुत करते हुये मुनरो ने लिखा है,.. "संक्षेप में "पुर्वानुवर्ती प्रत्यय ज्ञान' विचारों का वह 'मानसिक परिपाक' (Mental Assimilation) है जिसकी उत्पत्ति नवीन विचारों की पूर्व संचित विचारों के संयोग से होती है।"

"In brief apperception is the assimilatien of ideas in volved the relationship of a new experience by means of ideas already acquired." —Paul Munroe.

[अ] पूर्वानुवर्ती ज्ञान के सिद्धान्त के लाभ

(Merits of the Principle of Apperception)

हरबार्ट द्वारा प्रतिपादित पूर्वानुवर्ती ज्ञान के सिद्धान्त से प्रत्येक शिक्षक शिक्षण में बहुत कम लाभ उठा सकता है। वह पूर्व संचित ज्ञान के आधार पर बालक को नवीन ज्ञान के प्रति रुचि उत्पन्न कर सकता है। फलस्वरूप प्रत्येक शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह बालकों को उनके पूर्व ज्ञान के आधार पर नवीन ज्ञान प्रदान करे जिससे कि वे उस ज्ञान को सुचारु रूप से ग्रहण कर लें। हरबार्ट ने इसी सिद्धान्त के आधार पर पंचपद प्रणाली (Five Formal steps) का निर्माण किया है।

(ब) प्रत्येक विचार को दो प्रकार की मानसिक क्रियाओं के बीच से गुजरना पड़ता है

(Every idea has to dass through two types of Mental Process)

हरबार्ट का विचार है कि जब कोई नवीन विचार किसी बालक अथवा व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित होता है। तो उसे दो प्रकार की मानसिक क्रियाओं के बीच से गुजरना पड़ता है। पहले बालक नवीन विचार को अपनी रुचि के आधार पर स्वीकार करता है। हरबार्ट ने इस मानसिक क्रिया को 'विचार शोषण' (Absorption) की संज्ञा दी है। जब बालक नवीन विचार स्वीकृत कर लेता है तो वह उसको प्राचीन विचार से सम्बन्धित कर आत्मघात कर लेता है हरबार्ट ने इस मानसिक क्रिया का मननशील (Reflection) को संज्ञा से सुशोभित किया है।

प्रत्येक शिक्षक का परम कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इन दोनों प्रकार की मानसिक क्रियाओं का ध्यान रखते हुये बालक को शिक्षा प्रदान करे। हरबार्ट ने अपनी मनोवैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर अध्यापन को महत्व प्रदान करते हुए कहा है, अध्यापन से ही मन का निर्माण होता है' (To instruct the mind is to construct it) अतः प्रत्येक शिक्षक का कर्त्तव्य होता है कि वह हरबार्ट द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का सहारा लेकर बालक के व्यक्तित्व का संतुलित विकास करे।

हरबार्ट के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न तत्त्व

(Various Aspects of Educatioual Views of Herbart)

हरबार्ट के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्ष निम्नलिखित हैं—

(१) शिक्षा का उद्देश्य (Aim of Education)
(२) पाठ्यक्रम का संगठन (Organization of Curriculum)
(३) सांस्कृतिक युग का सिद्धान्त (Culture Epoch Theory)
(४) शिक्षण पद्धति (Method of Teaching)
(५) अनुशासन अथवा विनय सम्बन्धी विचार (Conception of Discipline)
(६) शिक्षा एवं निर्देश (Education and Instruction)

(१) हरबार्ट के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

[अ] शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य नैतिकता या चरित्र का विकास (Development of morality of character as the main aim of Education)

हरबार्ट ने शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित करने में अपनी मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक विचारधारा का सहयोग लिया है। उसके अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालकों की विभिन्न शक्तियों का विकास करने के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति करना भी है। हरबार्ट महोदय के शिक्षा के किसी बाह्य उद्देश्य का समर्थन नहीं करते हैं वरन् उसके अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बालक की आन्तरिक शक्तियों, नैतिकता एवं चरित्र का विकास करना है इसी आधार पर हरबार्ट ने शिक्षा का आशय प्रस्तुत करते हुए लिखा—**"जिसके द्वारा हमारी ऊँची प्रवृत्तियाँ निम्न प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करती है उसी का नाम शिक्षा है, शिक्षा नैतिकता की विचारधारा में सन्निहित हैं।"**

"Education consists in the conquest of lower impulses by the higher altogether Education may be summed up in the concept of morality."

—Herbart

(ब) बहुमुखी रुचि उत्पन्न करना (To Produce Many-sided Interest)

हरबार्ट का विचार है कि बालक का चरित्र निर्मित करने के लिये उसमें 'बहुमुखी' रुचि (Many-sided Interest) उत्पन्न कर देना चाहिये। उसके

अनुसार रुचियाँ तीन प्रकार की होती हैं। (१) ज्ञान सम्बन्धी रुचि (२) क्रिया सम्बन्धी रुचि (३) धर्म सम्बन्धी रुचि। चरित्र-निर्माण के लिए इस तीनों प्रकार की रुचियों का समुचित विकास करना परम आवश्यक है फलस्वरूप शिक्षा द्वारा बालक की रुचियों का विकास करना चाहिए।

(२) हरबार्ट के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्माण

(Construction of Curriculum According to Herbart)

[अ] बहुमुखी रुचियों के विकास के लिए बहुत से विषयों का होना

(Many Subjects for Development of Many-sided Interests)

हरबार्ट के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक का चरित्र-निर्माण करना है और चरित्र-निर्माण के लिए बालक में समस्त प्रकार की रुचियों को उत्पन्न करना परमावश्यक है। इसीलिए पाठ्यक्रम में अनेक विषयों को स्थान देना चाहिये ताकि बालकों में समस्त प्रकार की रुचियाँ उत्पन्न हो जाँय। हरबार्ट के अनुसार हम मनुष्य की रुचियों के स्रोतों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) अनुभव (२) सामाजिक जीवन। फलस्वरूप पाठ्यक्रम में इन दोनों स्रोतों से सम्बन्धित विषयों को स्थान देना चाहिए। इस दृष्टि के विषयों को हरबार्ट ने दो भागों से बाँटा है—(१) (१) वैज्ञानिक एवं (२) ऐतिहासिक। वैज्ञानिक विषयों के अन्तर्गत गणित, प्रकृति-विज्ञान एवं उद्योग धन्धों को और ऐतिहासिक विषयों के अन्तर्गत इतिहास, भाषा एवं साहित्य को स्थान दिया है। परन्तु चूँकि हरबार्ट के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालकों का चरित्र-निर्माण करना है और चरित्र-निर्माण केवल ऐतिहासिक विषयों से ही सम्भव है, फलस्वरूप पाठ्यक्रम में इतिहास एवं साहित्य को प्रधानता देना चाहिये। इसके साथ-साथ हरबार्ट ने विषयों को एक दूसरे से सम्बन्धित कर पढ़ाने के लिए विचार प्रकट किया है।

हरबार्ट द्वारा चक्र का प्रतिपादन

(To Propound the Circle of Thought by Herbart)

जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया था कि ज्ञान के दो स्रोत—प्रकृति एवं समाज हैं। ज्ञान (Knowledge) से विचार (Ideas) की एवं विचार से कार्य (Activities) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार हरबार्ट के अनुसार ज्ञान, विचार एवं कार्य चक्र द्वारा चरित्र का निर्माण होता है। इस ज्ञान, विचार एवं कार्य के चक्र को डगन (Duggan) महोदय ने हरबार्ट का विचार-चक्र (Circle of Thought) कहा है, जिसे कि उन्होंने निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है—

	ज्ञान	विचार	कार्य
प्रकृति (Nature)	(Knowledge)	(Ideas)	(Activities)
समाज (Society)		चरित्र (Character)	

(३) हरबार्ट का सांस्कृतिक युग का सिद्धांत
(Culture Epoch Theory of Hrrbart)

व्यक्ति एवं जाति के विकास में समानता निहित है

हरवार्ट का विचार है कि व्यक्ति एवं जाति के विकास में समानता निहित है फलस्वरूप पाठ्यक्रम में इसी समानता के अनुसार विषय निर्धारित करना चाहिये। हरबार्ट के 'व्यक्ति एवं जाति के विकास में समानता' के सिद्धान्तों को उसके शिष्यों ने आगे बढ़ाया। जिलर (Giller) महोदय ने इस सिद्धान्त का 'सांस्कृतिक युग का सिद्धान्त (Culture Epoch Theory) के नाम से सम्बोधित किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन अवस्थाओं को पार करते हुए मानव जाति की संस्कृति का विकास हुआ है उन्हीं अवस्थाओं को पार करते हुए व्यक्ति भी अपना विकास करता है। अतः प्रारम्भिक अवस्था में बालक को आदिम मानव से सम्बन्धित कहानियाँ पढ़ने के लिये देना चाहिये तत्पश्चात् युवावस्था में उन्हें जाति के यौवन काल का इतिहास पढ़ने का अवसर प्रदान करना चाहिये। इस प्रकार पाठ्यक्रम का संगठन जाति के सांस्कृतिक युगों के आधार पर करना चाहिये तभी बालकों का स्वाभाविक एवं उचित विकास हो सकता है।

(४) हरवार्ट के अनुसार शिक्षण-पद्धति
(Method of Education According to Herbart)

(अ) शिक्षण पद्धति की चार प्रमुख बातें

(Four Important Things of Method of Education)

(१) रुचि (Interest)—हरवार्ट ने अपनी शिक्षा पद्धति में सबसे पहला स्थान रुचि को प्रदान किया है। उसके अनुसार किसी विषय को पढ़ने में सबसे पहले उसके प्रति बालक की रुचि उत्पन्न करना चाहिए क्योंकि अगर बालक की रुचि विषय के प्रति उत्पन्न हो जायेगी तो उस विषय के तथ्यों को शीघ्र एवं सरलतापूर्वक ग्रहण कर लेगा।

(२) पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान (Apperception)—पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार बालक को नवीन ज्ञान उसने पूर्व संचित ज्ञान के आधार पर प्रदान करना चाहिये; फलस्वरूप शिक्षकों को यह ध्यान रखना चाहिये कि बालकों को जो नवीन ज्ञान प्रदान करने जा रहे हो, उसका सम्बन्ध बालक के पूर्व ज्ञान से हो। तभी बालक नवीन ज्ञान को शीघ्र एवं सुविधा-पूर्वक ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार हरबार्ट से अपनी शिक्षण पद्धति में पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान के सिद्धान्त को महत्व प्रदान किया है।

(३) सामान्य विधि (General Method)—हरवार्ट ने बालकों के समक्ष विचारों को प्रस्तुत करने के लिए सामान्य विधि को प्रस्तुत किया है जिसके चार सोपान इस प्रकार हैं:—(१) स्पष्टता (Clearness)—इसका तात्पर्य यह है कि

बालकों के सामने जो भी पाठ्य विषय प्रस्तुत किया जाय उसे स्पष्ट रूप से बालकों को सम्मुख रखना चाहिए। (२) सहयोग (Association)—इस सोपान का तात्पर्य है कि बालक को जो नवीन ज्ञान प्रदान किया जाय उसका सम्बन्ध उसके पूर्व ज्ञान से जोड़ना चाहिये। (३) व्यवस्था (System)—इसका तात्पर्य है कि बालकों के सामने जो विचार प्रस्तुत किये जायें वे व्यवस्थित रूप से किये जायें। (४) व्यावहारिक प्रयोग (Method)—इस सोपान का तात्पर्य यह है कि बालक जो भी ज्ञान अर्जित करें उसको वे वास्तविक जीवन में प्रयोग करें।

(४) समन्वय (Correlation)—शिक्षण पद्धति के सम्बन्ध में अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण बात 'समन्वय' की है। हरबार्ट के अनुसार शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे समस्त विषयों को एक दूसरे से सम्बन्धित कर पढ़ावें ताकि बालक का व्यक्तित्व संतुलित रूप से विकसित हो, समय की बचत हो, सार्थकता में वृद्धि हो, व्यावहारिक जीवन में लाभ हो, संकुचित विशेषीकरण का निराकरण हो एवं बालकों का चरित्र निर्मित हो। इस प्रकार हरबार्ट ने 'समन्वय' अथवा सानुबन्धन शिक्षा के सिद्धान्त (Method of Correlation) को प्रतिपादित किया है। इसके साथ-साथ हरबार्ट ने 'केन्द्रीकरण के सिद्धान्त' (Method of Concentration) को भी प्रतिपादित किया है। इसके अनुसार किसी उपयोगी विषय को केन्द्र मानकर अन्य विषयों की शिक्षा देनी चाहिये। हरबार्ट ने इतिहास एवं साहित्य को केन्द्र मानकर अन्य विषयों की शिक्षा प्रदान करने के लिये कहा है।

(ब) हरबार्ट की पंचपद प्रणाली (Five Formal Steps of Herbart)

उपर्युक्त शब्दों में हमने देखा कि हरबार्ट ने बालकों के सामने विचारों को प्रस्तुत करने के लिये जो सामान्य विधि प्रस्तुत की उससे चार पद या सोपान हैं। जिन्हें कि नियमित पद (Formal Steps) कहा जाता है। कुछ समय पश्चात् हरबार्ट के शिष्यों ने 'नियमित पद' का संशोधन कर उसमें ४ पद या सोपान के स्थान पर ५ पदों या सोपानों का स्थान दिया। इसी को ही हरबार्ट की 'पंचपद प्रणाली' (Five Formal Steps) कहा जाता है। ५ पद या सोपान निम्नलिखित हैं—

(१) **प्रस्तावना तथा तैयारी** (Preparation)—प्रस्तावना अथवा तैयारी पूर्वानुवर्ती ज्ञान (Appreceptive Mass) को जाग्रत करने के लिये बालकों के सम्मुख कोई समस्या प्रस्तुत कर दी जाती है जिसका कि सम्बन्ध नवीन ज्ञान से हो। तैयारी का एक मात्र उद्देश्य बालकों के सामने नवीन समस्या को स्पष्ट रूप से रख देना है। इसके लिए ५-६ मिनट उचित हैं।

(२) **उपस्थिति** (Presentation)—इस सोपान में शिक्षक का कर्तव्य है कि वह उस सम्पूर्ण सामग्री, अनेक दृष्टान्तों, उदाहरणों, प्रयोगों, घटनाओं आदि को बालकों के सामने प्रस्तुत करें जिनके द्वारा वे अपने सामने नवीन समस्या को हल कर सकें। इसके लिये २५-३० मिनट होना चाहिये।

(३) तुलना एवं सम्बन्ध (Comparision and Association)—इस सोपान में उपस्थित तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं पूर्ण ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करते हुए नवीन ज्ञान की चर्चा की जाती है। साथ ही साथ उदाहरणों, प्रयोगों एवं घटनाओं की तुलना करके परिणाम को निकाल के लिये बालक को प्रोत्साहित किया जाता है।

(४) सिद्धान्त निरूपण (Generalization)—जब बालक पाठ को अच्छी तरह समझ जाते हैं तो वे उसके परिणाम के आधार पर सिद्धान्त निरूपण अथोत नियमीकरण करते हैं। अर्थात् कोई नियम अथवा सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं जिसको कि वे किसी नवीन परिश्रम में प्रयोग करते हैं। साथ हो साथ इस सिद्धान्त के पूर्व निश्चित सिद्धान्त से तुलना करते हैं। शिक्षकों को चाहिये कि वे नियम निर्धारण करने में बालकों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करें।

(५) प्रयोग (Application)—अन्त में निर्धारित सिद्धान्त अथवा नियम को स्थायी बनाने के लिये विभिन्न परिस्थितियों से प्रयोग किया जाता है। इसके लिए श्रीमती के० भाटिया एवं बी० डी० भाटिया के अनुसार बालकों को मौखिक परीक्षा ली जा सकती है, उन्हें क्रियात्मक कार्य दिया जा सकता है, या उन्हें ऐसे रचनात्मक कार्य करने के लिये दिये जा सकते हैं जिसमें उनकी मौलिकता की आवश्यकता हो, इस सोपान में बालकों को नवोन विधि से प्रश्न भी दिये जा सकते हैं।"

"The children may be tested orally or may be given some practical work to do, or some constructive and creative exercise in which their orginality is needed New type test may also be set to the children in this step."

—K. Bhatia and B. D. Bhatia.

(स) हरबार्ट की पंचपद प्रणाली का महत्व
(Importance of Five Formal Steps of Herbart)

वास्तव में कक्षाध्यापन में हरबार्ट की पंचपद प्रणाली का अन्य प्रणालियों से अधिक महत्व है। हरबार्ट महोदय प्रथम शिक्षाशास्त्री हैं जिन्होंने अध्यापन में हमारा ध्यान विभिन्न पदों द्वारा पाठ प्रस्तुत करने की ओर खींचा जिससे कि बालक स्थायी ज्ञान प्राप्त कर चरित्र-निर्माण का अवसर प्राप्त कर सकेंगे। किन्तु हरबार्ट की पंचपद प्रणाली में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें आगमन (Inductive)तथा निगमन (Deductive) विधियों का अपूर्व समन्वय किया गया है, फलस्वरूप इस प्रणाली का प्रयोग प्रत्येक ऐसे पाठ में हो सकता है जिसके अध्यापन में आगमन तथा निगमन दोनों विधियाँ अपनानी हैं। पंचपद प्रणाली के प्रथम चार पद (Steps) आगमन विधि के और अन्तिम पद निगमन विधि के हैं प्राय: ज्योमिति, व्याकरण, विज्ञान, गणित इत्यदि विषयों के अध्यापन में आगमन-निगमन विधि (Inductive Deduciive Method) का प्रयोग होता है। अतः इन विषयों के अध्यापन में

हरबार्ट की पंचपद प्रणाली बहुत ही महत्वपूर्ण है। हाँ ऐसे विषयों में जिनके पाठों के अध्यापन में सामान्य नियम तथा सिद्धान्त निकालने की आवश्यकता नहीं होती या वे पाठ रसात्मक अनुभूति के होते हैं तो इनमें हमें इन पदों को संशोधित कर प्रयोग करना पड़ता है।

(ब) हरबार्ट की पंचपद प्रणाली की आलोचना

(Criticism of the Five Formal Steps of Herbart)

शिक्षाशास्त्रियों ने हरबार्ट की पंचपद प्रणाली की निम्न आलोचनाएँ प्रस्तुत की—

(१) पंचपद प्रणाली केवल ज्ञान के पाठों के लिये उपयुक्त सिद्ध होती है। कौशल तथा रसानुभूति के पाठों में इसका प्रयोग भली-भाँति नहीं किया जा सकता है।

(२) इस पंचपद प्रणाली में शिक्षक को पूर्णतया पदों द्वारा बँध जाना पड़ता है। स्वतन्त्रता के अभाव में यह विधि पूर्णतया यन्त्रवत् हो जाती है और जो अध्यापन में मौलिकता होनी चाहिये वह नष्ट हो जाती है।

(३) इस प्रणाली के अनुसार अध्यापन करने में शिक्षक को अधिक सक्रिय रहना पड़ता है। इसके पदों का स्वरूप उद्घाटन (Expositional) तथा तार्किक (Logical) होने के कारण विद्यार्थियों में अधिक सक्रियता नहीं आने पाती है।

(४) यह प्रणाली स्व-शिक्षण के लिए बिल्कुल अवसर नहीं देती। इसमें बालक की आवश्यकता तथा रुझान के स्थान पर शिक्षक की आवश्यकता तथा रुझान से पाठ का अध्यापन प्रारम्भ होता है जिससे कि बालकों को स्व-शिक्षण की प्रेरणा नहीं मिलती।

(५) इस प्रणाली में प्रस्तुतकरण (Presentation) पर अधिक जोर देने के कारण पाठ्य-वस्तु के प्रति अधिक झुकाव होता है, बालकों को ज्ञान ग्रहण करने की कितनी क्षमता है, इस ओर इन पदों का प्रयोग करते समय बहुत कम ध्यान दिया जाता है।

(६) इस प्रणाली में बालकों को प्रश्न करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं होता है।

(७) इस प्रणाली में 'करके सीखने' (Learning by Doing) का बालकों को कोई अवसर प्राप्त नहीं होता, जिसका आधुनिक नवीन शिक्षण पद्धतियों में अत्यधिक महत्व है।

(८) इस विधि का उपयोग करने से मानसिक जीवन की एकता सम्भव नहीं है, क्योंकि ये पद विभिन्न विषयों में सामंजस्य स्थापित करने के लिये कुछ नहीं कर सकते। इस विधि के उपयोग से विभिन्न विषयों का ज्ञान इनमें अलग-अलग पड़ा रहेगा।

(९) कुछ शिक्षाशास्त्रियों का कथन है कि सीखने के क्रम में तुलना को प्रथम स्थान देना सर्वथा अनुचित है क्योंकि तुलना का क्रम तो पाठ के विकास के साथ-साथ चलता रहता है।

(१०) इस प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके पद इस सिद्धान्त पर आधारित हैं कि बालक का मस्तिष्क जन्म के समय कोरी पाटी के समान होता है। आज का मनोविज्ञान इस सिद्धान्त से पूर्ण सहमत नहीं है। बालक में कुछ जन्मजात मूल-प्रवृत्तियाँ निहित है जिनका कि उनके सीखने पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

(५) हरबार्ट के अनुसार अनुशासन अथवा विनय सम्बन्धी विचार
(Discipline According to Herbart)

(अ) चरित्र निर्माण के लिए बालक पर नियन्त्रण आवश्यक
(Need to the Control of the child for the Formation of Character)

हरबार्ट महोदय का विचार है कि चरित्र-निर्माण के लिये बालक पर नियंत्रण रखना परम आवश्यक है। उसका कथन है कि जब तक बालक का नैतिक विकास न हो जाय तब तक उसको शिक्षक के नियन्त्रण में रहना चाहिये। इस प्रकार हरबार्ट बालक को ऐसी स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता है जो कि उसका नैतिक विकास न होने दें। उसका विचार है कि अनुशासन स्थापना के हेतु दण्ड एवं पुरस्कार (Punishment and Reward) का प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु हरबार्ट कठोर दण्ड का पूर्णतया विरोध करता है। उसका कथन है कि कठोर दण्ड द्वारा बालक की कोमल भावनाओं पर कुठाराघात होता है फलस्वरूप उसे कठोर दण्ड नहीं देना चाहिये।

(ब) अनुशासन एवं शिक्षा (ट्रेनिंग) में अन्तर
(Difference between Discipline and Education of Training)

हरबार्ट अनुशासन एवं शिक्षा (ट्रेनिंग) में अन्तर स्पष्ट करते हुए शिक्षा को अधिक महत्व प्रदान करता है। उसका विचार है—(१) अनुशासन द्वारा बालक का केवल वर्तमान व्यवहार सुधरता है। परन्तु शिक्षा द्वारा सम्पूर्ण जीवन, (२) अनुशासन का लक्ष्य कक्षा में बालकों को पूर्ण शान्ति रखना है एवं शिक्षा का लक्ष्य बालकों को सदाचारी बनाना है, (३) अनुशासन एक बाहरी बन्धन होता है, परन्तु शिक्षा से बालकों में संयम, आत्मविश्वास एवं आत्म-नियन्त्रण पैदा करता है, (४) अनुशासन नकारात्मक एवं सकारात्मक है, एवं (५) अनुशासन की हर समय आवश्यकता नहीं पड़ती परन्तु शिक्षा (ट्रेनिंग) तो हमेशा होती रहती है।

(स) शिक्षा (ट्रेनिंग) की आवश्यकता
(More Need of Education or Training)

अतः हरबार्ट के अनुसार बालकों के लिए शिक्षा (ट्रेनिंग) की विशेष आवश्यकता है क्योंकि बालक हर समय तो शिक्षक के नियन्त्रण में नहीं रह सकते, न वे आगे चलकर जब वे व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करेंगे शिक्षक के अधीन रहेंगे। शिक्षकों को चाहिये कि वे बालकों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का अवसर प्रदान

करें जिससे कि वे स्वतन्त्रता का सदुपयोग करते हुए उत्तरदायित्व को निभाने में समर्थ हो जायें एवं उनका चारित्रिक एवं नैतिक विकास हो जाय। इस प्रकार हरबार्ट स्वतन्त्रता को विशेष महत्व प्रदान करता है। उसने स्वयं कहा कि 'जो शिक्षा स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करती वह बहुत ही घातक होगी' (Education would be tyrany if it did not lead to freedom)।

(६) हरबार्ट के अनुसार शिक्षा एवं निर्देश
(Education and Instruction According to Herbart)

(अ) शिक्षा 'साध्य' है एवं निर्देश 'साधन'
(Education is 'End' and Instruction is 'Means')

हरबार्ट का विचार है कि बालक का चरित्र-निर्माण करने के लिये शिक्षा (Education) एवं निर्देश (Instruction) दोनों की परमावश्यकता है। निर्देश द्वारा 'बहुमुखी रुचि' (Many-sided Interest) का विकास करने वाले विचार बालक में उत्पन्न किये जाते हैं एवं शिक्षा बालक की बहुमुखी रुचियों द्वारा बालक का चरित्र-निर्माण करती है। इस प्रकार शिक्षा एवं निर्देश दोनों का बालक के चरित्र निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु हरबार्ट के अनुसार शिक्षा एवं निर्देश में अन्तर है, "शिक्षा का स्थान 'साध्य' (End) के रूप में है एवं निर्देश 'साधन' (Means) के रूप में, बिना शिक्षा के निर्देश साधन बिना साध्य है एवं बिना निर्देश के शिक्षा साध्य बिना साधन के तुल्य है।"

"Instruction and Education are distinguished as means and end, instruction without training would be means without end, training without instruction, end without means."

—R. Rusk.

[ब] निर्देश विचार-चक्र की उत्पत्ति करता है एवं शिक्षा चरित्र की (Instruction forms the Circle of Thought and Education the Character)

उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट होता है कि निर्देश अथवा अध्यापन की सहायता से ही शिक्षा अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकती है अर्थात् निर्देश के अभाव में बालक का चरित्र-निर्माण नहीं हो सकता है। इस प्रकार हरबार्ट ने अध्यापन को बहुत महत्व प्रदान किया है क्योंकि अध्यापन से ही बालक में अच्छे-अच्छे विचारों की उत्पत्ति होती है, जिनसे उनकी बहुमुखी रुचि (Many-sided Interest) का विकास होता है, एवं इन्हीं बहुमुखी रुचियों के आधार पर बालक का चरित्र-निर्माण होता है। हरबार्ट ने अध्यापन अथवा निर्देश का महत्व प्रस्तुत करते हुए ठीक ही कहा है, "अध्यापन (निर्देश) विचारों का संगठन करता है एवं शिक्षा चरित्र का निर्माण करती है। बिना पहले के दूसरे का महत्व नहीं है। इसी में मेरे शिक्षाशास्त्र का सार निहित है।"

"Instruction will form the circle of thought and educa-

tion the character. The last is nothing without the first. Herein is contained the whole sum of my pedagogy." —Herbart.

उपसंहार (Conclusion)

हरबार्ट (Herbart) के उपर्युक्त शैक्षणिक विचारों का शिक्षा पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा की महान् उन्नति हुई। हरबार्ट ही प्रथम शिक्षाशास्त्री था जिसने की शिक्षा को मनोविज्ञान एवं आचरण शास्त्र पर आधारित किया। हरबार्ट के विचारों से प्रभावित होकर शिक्षालयों में अनेक प्रकार के विषयों को स्थान दिया जाने लगा। आज विश्व के समस्त देश उसकी 'पंचपद प्रणाली' (Five Formal Steps) एवं उनके 'समन्वय' (Correlation) और 'केन्द्रीकरण' (Concentration) के सिद्धान्त से लाभन्वित हो रहे हैं। प्रसिद्ध शिक्षा सिद्धान्तों को अपनाया गया है वहाँ पर कुछ विशेष बातों पर बल दिया गया है। ये बाते इस प्रकार हैं—(१) बालक के नैतिक विकास के दृष्टिकोण से शिक्षालयों के आदेशों (Instructions) को महत्वपूर्ण माना गया। (२) नैतिक विकास के उद्देश्य को पूरा करने के लिए बालक की मौलिक शक्तियों की अपेक्षा उसके वातावरण पर विशेष ध्यान दिया गया। (३) व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया के आधार पर शिक्षण पद्धति का निर्माण किया गया। (४) प्रशिक्षित अध्यापकों द्वारा शिक्षा देने की व्यवस्था की गई। इसके साथ-साथ अध्यापकों को प्रशिक्षित करने की भी व्यवस्था की गई।

३७

टी० पी० नन्

(T. P. Nunn)

प्रश्न संख्या—३७

नन् के व्यक्तिवादी दर्शन से आप क्या समझते हो? क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि नन् के समस्त शैक्षणिक विचार व्यक्तिवादी दर्शन पर आधारित हैं?

What do you understand by individualistic Philosophy? Do you agree with the view that all the educational views of Nunn are based on individualistic philosophy?

भूमिका (Introduction)

आधुनिक युग में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों एवं शिक्षा दार्शनिको में टी० पर्सी नन् (T. Percy Nunn) का नाम प्रमुख है। उन्होंने अपना जीवन लन्दन विश्व-

विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के शिक्षक रहे। उन्होंने शिकागो विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के साथ ही साथ शिक्षाशास्त्र भी पढ़ाया। उसी समय से उनकी रुचि शिक्षा के प्रति हो गई। उन्होंने शिकागो में एक 'प्रोग्रेसिव स्कूल (Progressive School) नाम का शिक्षालय स्थापित किया जिसमें कि 'करके सीखने का सिद्धान्त' (Traning by Doing) का प्रयोग किया। इस स्कूल में शिक्षा सम्बन्धी नाना प्रकार के प्रयोग करते हुए उन्होंने प्रयोजनवादी सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। सन् १६०४ में वे शिकागो को छोड़कर 'कोलम्बिया यूनीवर्सिटी' (Columbia University) में गये। यहाँ पर उन्होंने दर्शनशास्त्र एवं शिक्षाशास्त्र का अध्यापन कार्य किया। साथ ही साथ शिक्षा में अनेक दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया और उसकी व्याख्या की। १६४० में उन्होंने अवकाश प्राप्त कर लिया। कुछ दिनों के उपरान्त ये शिक्षा पर व्याख्या देने के लिए पेकिंग विश्वविद्यालय में आमन्त्रित किये गये। उन्होंने वहाँ दो वर्ष तक निवास किया। शिक्षा की रिपोर्ट बनाने के लिए उनको तुर्की की सरकार ने भी आमन्त्रित किया। इस प्रकार अवकाश प्राप्ति के पश्चात् उनको अनेक देशों की सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक संस्थाओं ने आमन्त्रित किया। जॉन डीवी को विश्व में एक महान् दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री के रूप में महान ख्याति प्राप्ति हुई। डीवी के ६ बच्चे थे। उनकी जीवनी के लेखक का कथन है कि "डीवी ने अपने बच्चों के साथ खेलते हुए अपनी समस्त शैक्षणिक एवं दार्शनिक समस्याओं को हल किया। "डीवी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों ने न केवल अमेरिका की शिक्षा को प्रभावित किया वरन् विश्व के अनेक देशों की शिक्षा पर इनके विचारों का प्रभाव पड़ा। रूस, टर्की, चाइना आदि देशों ने इनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों के अनुसार अपनी अपनी शिक्षा व्यवस्था में सुधार किया। विश्व के महान् दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी का १६५२ में स्वर्गवास हो गया। आज वे यद्यपि हम लोगों के बीच के नहीं हैं परन्तु उसके विचार विश्व के प्रत्येक देश में कार्यान्वित किये जा रहे हैं।

[ब] डीवी की रचनाएँ (Works of Dewey)

(१) 'इण्टरेस्ट एण्ड एफर्ट ऐज रिलेटिड टू विल (Interest and Effort as Related to Will)

(२) 'दि स्कूल एण्ड दि सोसाइटी' (The School and the Society)

(३) 'दि स्कूल एण्ड दि चाइल्ड' (The School and the Child)

(४) 'स्कूल आफ टूमारो' (School of The Tomorrow)

(५) 'दि चाइल्ड एण्ड दि करीक्यूलम' (The Child and the Curriculum)

(६) 'हाऊ वी थिंक' (How We Think)

(७) 'इन्टरेस्ट एण्ड एफर्ट इन एजूकेशन' (Interest and Effort in Education)

(८) 'डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन' (Democracy and Education)

(९) 'ह्यूमन नेचर एण्ड कांडक्ट' (Human Nature and Conduct)

(१०) 'एक्सपीरियन्स एण्ड नेचर' (Experience and Nature)

(११) 'रिकन्सट्रक्सन इन फिलासफी' (Reconstuction in Philosophy)

(१२) 'फ्रीडम एन्ड कल्चर' (Freedom and Culture)

अब हम पहले डीवी के दार्शनिक तथा शैक्षणिक विचार, तत्पश्चात् डीवी के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्ष तथा उसके विचारों की आलोचना और अन्त में डीवी का आधुनिक शिक्षा पर प्रभाव स्पष्ट करेंगे।

डीवी के दार्शनिक विचार

(Philosophical Views of Dewey)

[अ] प्रयोजनवाद एवं अनुभववाद का समर्थन

(Vindication of Pragmatism and Empiricism)

महान् शिक्षाशास्त्री जान डीवी प्रयोजनवाद एवं अनुभववाद के प्रमुख प्रतिनिधियों में से हैं। इनका विचार है कि प्रत्येक विश्वास, विचार एवं सिद्धान्त की सत्यता का मूल्यांकन उसके परिणाम के अनुसार करना चाहिए। दूसरों शब्दों में जो विश्वास विचार एवं सिद्धान्त व्यावहारिक जीवन में काम दे सकें ये ही सत्य हैं। उन्होंने दर्शन के सम्बन्ध में कहा है, "वास्तविकता के रूप में जड़तापूर्वक मनन करना अथवा उसके विषय में जिज्ञासा प्रकट करना ही दर्शन नहीं कहलाता। इसके विपरीत दर्शन जीवित वस्तु है—जो जीवन की झलक दिखाती, उसका पुनर्निर्माण करती है तथा उसकी समस्याओं को सुलझाती है।" —डा० सुबोध अदावल

इस प्रकार उसके अनुसार दर्शन एकमात्र कोरा विचार नहीं है बल्कि वह जीवन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने वाला एवं जीवन को नया रूप प्रदान करने वाला ज्ञान है। डीवी का यह भी विचार है कि मानव अपनी बुद्धि तथा रचनात्मक शक्ति की सहायता से नवीन 'मूल्यों एवं सत्यों' की रचना करता है और यह मूल्य देश तथा परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। इसके साथ-साथ डीवी का विचार है कि वस्तु, पदार्थ एवं सामाजिक वातावरण के सम्पर्क में आकर व्यक्ति जो भी अनुभव प्राप्त करता है वही अनुभव सत्य है। डीवी के इस विचार को प्रस्तुत करते हुये बी० डी भाटिया ने ठीक ही कहा है :—

"For John Dewey the only reality is one's experience of objects, physical and social surrounding around him."

—B. D. Bhatia

[ब] डीवी के दर्शन में सामाजिक भावना का स्थान

(Place of Social Feeling in the Dewey's Philosophy)

डीवी का विचार है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह सामाजिक

वातावरण में ही जीवित रहता है एवं विकास पाता है। उनका विचार है कि दर्शन-शास्त्र सामाजिक न्याय का एक साधन है फलस्वरूप वे अपने दर्शन द्वारा मनुष्यों के विचारों की स्पष्टता प्रदान करना चाहते हैं जिससे कि वे सामाजिक एवं नैतिक गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हो जावें। डीवी महोदय दर्शनशास्त्र एवं शिक्षा को एक मानते हैं। उनका विचार है **"अपनी साधारण समस्याओं में शिक्षा सिद्धान्त ही दर्शन कहलाता है।"**

"Philosophy may even be defind as the theory of education in its most general phasis."

—John Dewey.

डीवी के शैक्षणिक विचार

(Educational Views of Dewey)

१] शिक्षा दर्शन की प्रयोगशाला के रूप में

(Education as the Laboratory of Philosophy)

डीवी महोदय का विचार है कि दर्शन एवं शिक्षा दोनों एक दूसरे के पूरक अन्योन्याश्रित हैं। एक ओर दर्शन इस बात को स्पष्ट करता है कि वर्तमान परिणाम स्थिति में कौन-कौन से सामाकिक मूल्य वांछनीय हैं दूसरी ओर शिक्षा उनको प्रयोग की कसौटी में कसते हुये उनकी उपयोगिता की परीक्षा करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि शिक्षा दर्शन की प्रयोगशाला है जिसमें दार्शनिक कल्पनाओं की व्यावहारिक प्रमाणिकता की परीक्षा की जाती है।

[२] शिक्षा पूर्व संचित अनुभवों के पुर्ननिर्माण के रूप में

(Education as the re-construction of Pre-acquired Experience)

डीवी महोदय ने अपने इस विचार को सामने रखकर कि 'सत्य कोई पूर्व निश्चित या अपरिवर्तनशील नहीं होता बल्कि बदलती हुई परिस्थितियों में उसके पुर्ननिर्माण की प्रक्रिया चलती रहती है, यह कहा है कि अब तक जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, वे नवीन परिस्थितियों से पूर्ण या आंशिक रूप में सत्य सिद्ध नहीं होते। शिक्षा इन पूर्व संचित मूल्यों या अनुभवों को प्रयोग की कसौटी पर कस कर उनका पुर्ननिर्माण करती हैं। डीवी के शब्दों में **"शिक्षा एक अनुभवों के अनवरत पुर्ननिर्माण तथा पुनसंगठन की प्रक्रिया है।"**

"Education is a process involving continuous reconstruction and reorganization of experiences."

—Dewey.

[३] शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया के रूप में

(Education as the Social Process)

डीवी का विचार है कि शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें बालक का समाजीकरण (Socialisation) होता है। दूसरे शब्दों में शिक्षा द्वारा बालक को ऐसा

वातावरण प्राप्त होता है जिसमें वह समाज की सभ्यता तथा संस्कृति से परिचित होता है, जिससे वह सामाजिक जाग्रति में भाग लेने में समर्थ होता है और समाज की उन्नति में सहयोग प्रदान करता है। शिक्षा के अभाव में समाज का अस्तित्व सम्भव नहीं है जैसा कि डीवी ने लिखा है, "जो भोजन ग्रहण एवं सन्तानोत्पादन की क्रिया शारीरिक जीवन के लिये कार्य करती है वही शिक्षा सामाजिक जीवन के लिये कार्य करती है।"

"What nutrition and reproduction are to the physiological life education is to social life." —Dewey.

[४] शिक्षा स्वयं जीवन के रूप में

(Education as the life of itself)

डीवी का कथन है कि स्कूल जीवन की तैयारी नहीं बल्कि स्वयं जीवन होना चाहिये।* अर्थात् शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो जन्म से मृत्यु-पर्यन्त तक चलती रहती है। डीवी ने अपने इस विचार को बल देने के लिये शिक्षा को भविष्य की तैयारी मात्र मानने वाली परिभाषाओं की आलोचना करते हुए लिखा है "परम्परागत शिक्षा आश्चर्यजनक रूप से सजीव वर्तमान को दूरस्थ एवं शंकापूर्ण भविष्य के अधीन कर देती है। तैयारी अथवा उद्यत हो जाना हो उसकी कुञ्जी है। उसका वास्तविक परिणाम यह होता है कि अपर्याप्त तैयारी होती है और अनुकूलन का अभाव बना रहता है।"

"Education as traditionally conducted strikingly shows subordination of living present to a remote and precarious future. To prepare to get ready is the key-note. The actual outcome is inadequate preparation and lack of adaptation."

—Dewey.

[५] शिक्षा विकास की प्रक्रिया के रूप में

(Education as the Process of Growth)

डीवी महोदय ने शिक्षा का विकास से तादात्म्य करते हुये लिखा है 'चूंकि विकास जीवन की विशेषता है इसलिये शिक्षा पूर्णतया विकास से तादात्म्य रखती है, इससे परे उसका कोई प्रयोजन नहीं है। शिक्षालय की शिक्षा के मूल्य की कसौटी उस मात्रा पर निभर है जो कि निरन्तर विकास की इच्छा को उत्पन्न करती है एवं इच्छा को प्रभावशाली बनाने के लिये साधनों को उपलब्ध बनाती है।"

"Since growth is the characteristics of life, education is all with growing, it has no end beyond itself. The criterion of the value of school education is the extent in which it creates a

---

*"The School should be life and not a preparation for living."

—Dewey.

desire for continued growth and supplies means for making the desire for effective in fact." —Dewey.

[६] शिक्षा प्रजातान्त्रिक समाज के निर्माण के रूप में

(Education as Creator of Democratic Society)

डीवी का विचार है कि वर्तमान प्रजातान्त्रिक युग में शिक्षा का प्रमुख कार्य प्रजातान्त्रिक समाज का निर्माण करना है। इसके लिये समाज में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना चाहिये जिससे व्यक्ति-व्यक्ति का विभेद समाप्त हो, सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास का अवसर प्राप्त हो, व्यक्ति हित तथा समाज हित में कोई भेद न रहे, नागरिकों में परस्पर सम्पर्क तथा सहयोग की भावना का विकास हो, सब में अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का निर्वाह करने की क्षमता उत्पन्न हो और सबको समाज की प्रगति के लिये प्रबल इच्छा हो। अतः डीवी के शब्दों में "विद्यालय में बालकों को ऐसी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये जिससे वे स्व-प्रेरित क्रिया के गुणों, आत्म-निर्भरता तथा योजना कुशलता का विकास प्रजातन्त्र के अवगुणों तथा असफलताओं के निवास के पहले ही कर लें।"

"Children in school must be allowed freedom.........to develop active qualities of initiative independence and resource and resourcefulness before the abuses and failures of democracy will disappear." —John Dewey.

[७] शिक्षा द्विमुखीय क्रिया के रूप में (Education as Bi-polar Process)

(१) मनोवैज्ञानिक (Psychological)—इस अङ्ग का तात्पर्य बालक का विकास उसकी मूल-प्रवृत्तियों, शक्तियों तथा इच्छाओं पर निर्भर है। फलतः शिक्षा को चाहिये कि वह बालक की इन मूल प्रवृत्तियों, शक्तियों तथा रुचियों का अध्ययन कर तथा इनके अनुकूल शिक्षा सामग्री का ज्ञान प्राप्त कर बालक की शिक्षा प्रारम्भ करे तभी वह बालक के व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध हो सकती है। डीवी ने लिखा है "यह वास्तव में एक विचित्र समस्या है कि बालक के प्राकृतिक संवेगों तथा मूल-प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त कर उनका सदुपयोग किया जाय ताकि बालक को प्रत्यक्षीकरण एवं निर्णय के उच्च स्तर पर ले जाया जा सके एवं उसको अधिक कुशल स्वभावों से सम्पन्न किया जा सकता है।"

"The peculiar problem......is of course to get hold of the child's natural impulses and instincts and to utilize them, so that child is carried on to a higher plane of perception and judgment and equipped with more efficient habits." —Dewey.

(२) सामाजिक (Social)—इस अङ्ग का अभिप्राय सामाजिक प्राणी होने के फलस्वरूप व्यक्ति समाज में ही क्रियाशील रहकर शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

बालक अपने माता-पिता, पड़ोसियों-मित्रों तथा अन्य व्यक्तियों से कुछ न कुछ अनवरत सीखता रहता है, यही उसकी शिक्षा है। वास्तव में बालक का सामाजिक प्राणी होने के नाते सामाजिक जागृति में सफलतापूर्वक भाग लेना ही इसकी शिक्षा है। डीवी ने शिक्षा के सामाजिक अङ्ग का महत्त्व प्रस्तुत करते हुए लिखा है "समस्त शिक्षा जाति की सामाजिक चेतना में भाग लेने से प्रारम्भ होती है।"

"All education proceeds by the participation of the individual in the social consciousness of the race." —Dewey.

डीवी के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्ष

(Various Cspects of the Educational Views of Dewey)

डीवी के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्ष निम्नलिखित हैं :—

(१) शिक्षा के उद्देश्य (Aim of Education)
(२) पाठ्यक्रम निर्माण (Construction of Curriculum)
(३) शिक्षण पद्धति (Method of Education)
(४) शिक्षालय (School)
(५) शिक्षक का स्थान (Place of Educator)
(६) अनुशासन (Discipline)

(१) डीवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य

(Aim of Education According to Dewey)

[अ] शिक्षा के पूर्व निश्चित् उद्देश्य का विरोध

(Opposition of Pre-determined Aims of Education)

डीवी महोदय शिक्षा के किसी भी पूर्व निश्चित् उद्देश्य का समर्थन नहीं करते हैं बल्कि परिस्थितियों, समस्याओं एवं सिद्धान्तों आदि के परिवर्तन के साथ-साथ शिक्षा के उद्देश्य में भी परिवर्तन पर जोर देते हैं। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है "कुछ विचारकों की धारणा है कि किसी न किसी वांछनीय व्यक्तिगत या सामाजिक उद्देश्य का मानसिक चित्र अवश्य होना चाहिए जिसे हमें प्राप्त करना है और इस निश्चित् एवं अपरिवर्तनीय उद्देश्य को शिक्षा प्रक्रिया का नियन्त्रण करना चाहिए......किन्तु यदि हम प्रयोगात्मक सामाजिक पद्धति चाहते हैं तो हमें इस विचार को छोड़ना होगा।"

"Some thinkers assume that there must be a mental picture of some desired end, personal and social which is to be attained and that this conception of fixed determinate ought to control educative processes···An experimental social method would probably manifest of all it surrender or this nation."

—John Dewey.

[ब] शिक्षा के वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्य

(Personal and social Aims of Education)

(क) व्यक्तिगत उद्देश्य (Personal Aim)—डीवी महोदय ने व्यक्तिगत रूप से शिक्षा के दो उद्देश्य बतलाये हैं—(१) बालक या व्यक्ति का उन समस्याओं, मूल्यों तथा सिद्धान्तों को निर्धारित करने में सहयोग प्रदान करना जो कि उसके वर्तमान जीवन में महत्वपूर्ण हों, और (२) बालक या व्यक्ति में इतनी योग्यता उत्पन्न करने देना कि वह निर्धारित मूल्य एवं अनुमागों की प्रयोगात्मक परीक्षणों द्वारा सत्यता का मूल्यांकन कर सके।

(ख) सामाजिक उद्देश्य (Social Aims)—डीवी महोदय ने सामाजिक दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य "सामाजिक कुशलता" (Social efficiency) बतलाया है। उन्होंने एक सामाजिक कुशल व्यक्ति में निम्न विशेषतायें प्रतिपादित की हैं—(१) आर्थिक कुशलता (Economic Efficiency)—जीवन-यापन की योग्यता का होना, (२) निषेधात्मक नैतिक (Negative Morality)—उन आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा कामनाओं का त्याग जिनकी तृप्ति में दूसरों की आर्थिक कुशलता में बाधा पहुँचती हो, तथा (३) स्वीकारात्मक नैतिकता (Positive Morality)—अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं एवं कामनाओं की तृप्ति होने से रोक देना जिनकी तृप्ति होने से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में सामाजिक प्रगति (Social Progress) सम्भव न हो। इस प्रकार संक्षेप में डीवी के शब्दों में "शिक्षा का कार्य असहाय बाल-पशु को सुखी एवं कार्य-कुशल मानव बनने में सहायता देना है।"

"The function of education is to help growing of helpless young animal into a happy, moral and efficient human being."

— John Dewey.

(२) डीवी के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्माण

(Construction of Curriculum According to Dewey)

डीवी महोदय ने प्रचलित पाठ्यक्रम की आलोचना करते हुए अपने दार्शनिक तथा शैक्षणिक विचारों के आधार पर पाठ्यक्रम के निर्माण में निम्नलिखित सिद्धान्तों को स्थान दिया है :—

(१) लचीला पाठ्यक्रम (Flexible Curriculum)—डीवी का विचार है कि पाठ्यक्रम अपरिवर्तनशील न होना चाहिए क्योंकि ऐसा होने से वह वर्तमान परिस्थितियों, बालक की आवश्यकताओं और रुचियों के अनुकूल सिद्ध न हो सकेगा। अतः इसमें परिवर्तनशीलता का या लचीलापन का गुण होना आवश्यक है।

(२) बालक की मूल प्रेरणाओं और रुचियों का स्थान (Place of the Motives and Interest of the Child)—डीवी का कथन है कि पाठ्यक्रम में विषयों का निर्धारण बालक की मूल प्रेरणाओं, रुचियों एवं पूर्व अनुभव इत्यादि पर

आधारित होना चाहिए। डीवी ने पाठ्यक्रम में निर्धारण में बालक की इन चार रुचियों पर विशेष ध्यान केन्द्रित करने को कहा है—(१) बातचीत एवं विचारों का आदान-प्रदान (Conversation and Communication), (२) जिज्ञासा या खोज की रुचि (Curiosity or Enquiry), (३) रचना की रुचि (Construction), तथा (४) कलात्मक अभिव्यक्ति की रुचि (Artistic Expression)। इन रुचियों के आधार पर डीवी ने पाठ्यक्रम में उन विषयों को स्थान दिया है जिनसे बालक पढ़ने, लिखने, गिनने, प्रकृति-विज्ञान, हस्तकला एवं संगीत का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर सके।

(४) **विभिन्न विषयों में अनुबन्ध (Correlation among Various Subjects)**—डीवी का कथन है कि पाठ्यक्रम को विभिन्न विषयों की कोठरियों में बन्द करने से शिक्षा केवल विभिन्न विषयों का स्मरणमात्र रह जाती है। अतः उसके अनुसार विभिन्न विषयों को एक दूसरे से सम्बन्धित करते हुए बालकों को उनकी शिक्षा देनी चाहिए क्योंकि इस प्रकार से अर्जित ज्ञान, सरल, परस्पर पूरक, स्पष्ट व्यावहारिक तथा स्थायी होता है।

(५) **सामाजिक अनुभवों का महत्व (Importance of Social Experience)**—डीवी का विचार है कि सामाजिक पर्यावरण में ही मन और बुद्धि का विकास सम्भव है, अतः पाठ्यक्रम के निर्धारण में सामाजिक अनुभवों को महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिये।

(६) **उपयोगिता के आधार पर पाठ्यक्रम का निर्धारण (Determination of Curriculum on the basis of Utility)**—डीवी महोदय स्पेन्सर के समान पाठ्यक्रम में विषयों का निर्धारण उनके महत्व के क्रम के अनुसार नहीं करना चाहते बल्कि उनके अनुसार कोई भी विषय या अनुभव जो जीवन को पूर्ण बनाने में उपयोगी सिद्ध हो उसे पाठ्यक्रम में अनिवार्यतः स्थान देना चाहिए। डीवी के शब्दों में यह अर्थ है कि "विषयों का क्रमानुसार निर्माण, सबसे कम मूल्य वाले विषय से प्रारम्भ करके सबसे अधिक मूल्य वाले विषय तक किया जाय, अन्तिम मूल्य का निर्धारण तो जीवन की प्रक्रिया द्वारा ही किया जा सकता है।"

"It is futile attempt to arrange subjects in order beginning with having least worth and going to that of maximum value......the only ultimate value which can be set up is just the process of living." —John Dewey.

(७) **कला-कौशल का स्थान (Place of Art)**—डीवी महोदय ने कला को व्यक्तित्व विकास में मूल शक्ति के रूप में मानते हुए उसका भी पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। डीवी का कथन है कि व्यावहारिक समस्याओं को हल करने में बालक को जो सृजनात्मक अनुभव (Creative Experience) होते हैं इससे उसमें कला-कौशल के प्रति अनुभूति की जागृति होती है।

(८) व्यावहारिक जीवन का महत्व (Importance of Applied Life)—डीवी महोदय बालक को ऐसा ज्ञान प्रदान करने के पक्ष में है जो कि उसके व्यावहारिक जीवन की समस्याओं के समाधान में सहायक हो सके।

(९) नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा की उपेक्षा (Negligence of Moral and Religious Education)—डीवी महोदय नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा को अलग विषयों के रूप में पढ़ाने के पक्ष में नहीं हैं बल्कि उसके अनुसार उनका तो उद्देश्य पूर्ण तथा क्रियाओं एवं सामूहिक कार्यक्रमों में भाग लेने से बालकों में विकास हो जाता है।

(३) डीवी के अनुसार शिक्षण-पद्धति
(Method of Education According to Dewey)

[अ] शिक्षण पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त
(Fundamental Principles of Method of Education)

डीवी ने 'हाऊ वी थिंक' (How We Think) तथा 'इन्ट्रेस्ट एण्ड एफर्ट इन एजूकेशन' (Interest and Effort in Education) नामक ग्रन्थों में अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपनी शिक्षण पद्धति को दो सिद्धान्तों पर आधारित किया जो इस प्रकार है—(१) करके सीखने का सिद्धान्त (Principle of Learning by Doing)—डीवी के अनुसार जब बालक सोद्देश्य क्रिया या आत्म-क्रिया के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है तो उसमें योजना कुशलता, प्रयोग करने की क्षमता तथा प्रमाणिक सत्यों की चयन की योग्यता का विकास हो जाता है। यह आत्म-क्रिया (Self-activity) ही प्रयोगात्मक क्रिया (Experimental Activity) का रूप ग्रहण कर लेती है। (२) रुचि का सिद्धान्त (Principle of Interest)—डीवी का विचार है कि अध्यापक को चाहिये कि वह बालकों को स्वाभाविक रुचियों को समझते हुए उन्हें अपनी रुचियों के अनुकूल प्रोजेक्ट बनाने तथा उन्हें क्रियान्वित रूप प्रदान करने का अवसर दें। डीवी का कथन है "रुचि का श्रेष्ठ सिद्धान्त प्रस्तावित कार्य एवं आत्मा की तादात्म्यता के सिद्धान्त की मान्यता है या यह कि प्रस्तावित कार्य की दिशा आत्माभिव्यक्ति की पूर्ति की ओर है।"

"The genuine principle of interest is the principle of recognized identity of the proposed line of action with the self that it lies in the direction of agents own self-expression."

—Dewey.

[ब] प्रोजेक्ट पद्धति का विकास (Development of Project Method)

डीवी ने अपने उपर्युक्त सिद्धान्तों का प्रयोगात्मक स्कूल में प्रयोग किया। आगे चल करके इसी को किलपैट्रिक ने प्रोजेक्ट या योजना पद्धति (Project Method) का रूप प्रदान किया। इस पद्धति की कार्य-प्रणाली डीवी द्वारा बताये गये निम्न

५ शब्दों (Steps) पर आधारित है—(१) क्रिया (Activity)—सबसे पहले विद्यार्थी के सम्मुख यथार्थ या सच्ची परिस्थिति उत्पन्न होना चाहिये ताकि अपनी रुचि के अनुकूल क्रिया प्रारम्भ करे, (२) समस्या (Problem)—उस परिस्थिति में विचार प्रेरक के रूप में सच्ची समस्या का विकास, (३) सूचना (Data)—विद्यार्थी समस्या से सम्बन्धित सूचना प्राप्त करे तथा उसके प्रति अपने आवश्यक निरीक्षण करे, (४) योजना (Hypothesis)—समस्या के समाधान के लिये जो अनुमान किये गये हैं उनका मूल्य तथा उपयोग के सम्बन्ध में विचार करना, तथा (५) परीक्षा (Testing)—विद्यार्थियों ने समस्या के समाधान के लिये जो विचार किये हैं उनको प्रयोग द्वारा जाँच करते हैं तथा उनकी प्रामाणिकता का अन्वेषण करते हैं।

(४) डीवी के अनुसार शिक्षालय
(School According to Dewey)

[अ] डीवी द्वारा प्रचलित स्कूलों की आलोचना
(Criticism of Modern School)

डीवी ने अपने आदर्श स्कूल सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करने के पहले प्रचलित स्कूलों की आलोचना की। डीवी का विचार है कि पाठशाला में सबसे बड़ा दोष यह है कि वे समय के परिवर्तन के अनुकूल नहीं है कार्यों को 'करके सीखने' (Learning by doing) का अवसर नहीं मिलता है। पुस्तकीय शिक्षा (Bookish Education) का समस्त स्कूलों में बोलबाला है। कक्षा में बालक निष्क्रिय श्रोता के समान भाषण सुनते रहते हैं जिससे कि ज्ञान उनके पल्ले नहीं पड़ पाता है। स्कूल, घर एवं समाज से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता है। बालक जब स्कूलों में पहुँचते हैं तो वे अपने को अजनबी सा अनुभव करते हैं। बालकों को स्कूलों में सामूहिक रूप से कोई कार्य करने को नहीं मिलता है जिससे कि उसमें सामाजिक भावना उत्पन्न नहीं होने पाती। इस प्रकार डीवी के अनुसार प्रचलित स्कूल पूर्णतया दोषपूर्ण हैं।

[ब] स्कूल एक सामाजिक संस्था के रूप में
(School as a Social Institution)

डीवी प्रचलित स्कूलों से सन्तुष्ट न थे फलस्वरूप उन्होंने आदर्श स्कूल सम्बन्धी अपने विचार प्रस्तुत किये। डीवी महोदय ने अपने विचारों को प्रयोग रूप में परिणत करने के लिये शिकागो (Chicago) में प्रयोगात्मक शिक्षालय (Laboratory School) नामक स्कूल स्थापित किया। शिक्षालयों पर विचार करते हुए डीवी ने लिखा है, "शिक्षा एक सामाजिक संस्था है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया होने के नाते साधारणतया शिक्षालय वह स्थान है जो सामुदायिक जीवन का निर्माण करता है जिसमें कि वे समस्त साधन केन्द्रित होते हैं जो बालक को जातीय परम्परागत

सम्पत्ति में अपना भाग प्राप्त करने और उसे अपनी शक्ति को सामाजिक उद्देश्य के लिए प्रयोग करने की योग्यता प्रदान करते हैं।"

"The School is a social institution. Education being a social process the school is simply that form of community life in which all those agencies are concentrated that will be most effective, in bringing the child to share in inherited resources of the race and race, and to use his own powers for social ends."

—John Dewey.

(अ) डीवी के अनुसार आदर्श स्कूल की विशेषतायें
(Characteristics of the Ideal School According to Dewey)

(१) स्कूल को समाज का प्रतिबिम्ब होना चाहिये। जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन होता जाता है वैसे-वैसे स्कूल का स्वरूप भी समाज की आवश्यकताओं के अनुसार बदलता रहना चाहिये।

(२) बालकों को जीविकोपार्जन की शिक्षा देनी चाहिये जिससे कि ये व्यावहारिक जीवन में प्रवेश कर अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

(३) स्कूल में लाभदायक क्रियाओं को बालकों के समक्ष सरल, शुद्ध एवं सन्तुलित रूप में प्रस्तुत करना चाहिए ताकि वे उनको समझ कर कार्य रूप में परिणत कर सके।

(४) स्कूल को चाहिए कि वह बालक को ऐसी योग्यता प्रदान करे जिससे कि बालक जातीय परम्परागत में भाग लेने में समर्थ हो जाय।

(५) स्कूल को चाहिये कि वह बालक को अपनी शक्तियों का सामाजिक उद्देश्यों के लाभ के लिए सहयोग करना सिखावे।

(६) स्कूल में बालकों को नाना प्रकार कों सामूहिक क्रियायें करना चाहिए ताकि उनमें सामाजिक भावना का बिकास हो।

(७) स्कूल का वातावरण इस प्रकार का होना चाहिये जैसा कि बालकों के घरों का होता है ताकि वे वहाँ घरों के समान आनन्द लेते हुए वहाँ के भिन्न-भिन्न कार्य रुचिपूर्ण करने का प्रयास करें।

(८) स्कूल एवं गृह में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए ताकि बालक स्कूल की क्रियाओं को गृह में एवं गृह की क्रियाओं को स्कूल में पूरा करने में समर्थ हों।

(९) स्कूल में उद्योगों के माध्यम से शिक्षा देने का प्रयास करना चाहिए। डीवी का विचार है कि लकड़ी का काम, लोहा का काम, कागज का काम, मिट्टी का काम, खाना बनाने का काम, सीना-पिरोना आदि जीवन से सम्बन्धित उद्योगों के माध्यम से भली-भाँति शिक्षा दी जा सकती है।

५ शब्दों (Steps) पर आधारित है—(१) क्रिया (Activity)—सबसे पहले विद्यार्थी के सम्मुख यथार्थ या सच्ची परिस्थिति उत्पन्न होना चाहिये ताकि अपनी रुचि के अनुकूल क्रिया प्रारम्भ करे, (२) समस्या (Problem)—उस परिस्थिति में विचार प्रेरक के रूप में सच्ची समस्या का विकास, (३) सूचना (Data)—विद्यार्थी समस्या से सम्बन्धित सूचना प्राप्त करे तथा उसके प्रति अपने आवश्यक निरीक्षण करे, (४) योजना (Hypothesis)—समस्या के समाधान के लिये जो अनुमान किये गये हैं उनका मूल्य तथा उपयोग के सम्बन्ध में विचार करना, तथा (५) परीक्षा (Testing)—विद्यार्थियों ने समस्या के समाधान के लिये जो विचार किये हैं उनको प्रयोग द्वारा जांच करते हैं तथा उनकी प्रामाणिकता का अन्वेषण करते हैं।

(४) डीवी के अनुसार शिक्षालय
(School According to Dewey)

[अ] डीवी द्वारा प्रचलित स्कूलों की आलोचना
(Criticism of Modern School)

डीवी ने अपने आदर्श स्कूल सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करने के पहले प्रचलित स्कूलों की आलोचना की। डीवी का विचार है कि पाठशाला में सबसे बड़ा दोष यह है कि वे समय के परिवर्तन के अनुकूल नहीं है कार्यों को 'करके सीखने' (Learning by doing) का अवसर नहीं मिलता है। पुस्तकीय शिक्षा (Bookish Education) का समस्त स्कूलों में बोलबाला है। कक्षा में बालक निष्क्रिय श्रोता के समान भाषण सुनते रहते हैं जिससे कि ज्ञान उनके पल्ले नहीं पड़ पाता है। स्कूल, घर एवं समाज से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता है। बालक जब स्कूलों में पहुँचते हैं तो वे अपने को अजनबी सा अनुभव करते हैं। बालकों को स्कूलों में सामूहिक रूप से कोई कार्य करने को नहीं मिलता है जिससे कि उसमें सामाजिक भावना उत्पन्न नहीं होने पाती। इस प्रकार डीवी के अनुसार प्रचलित स्कूल पूर्णतया दोषपूर्ण हैं।

[ब] स्कूल एक सामाजिक संस्था के रूप में
(School as a Social Institution)

डीवी प्रचलित स्कूलों से सन्तुष्ट न थे फलस्वरूप उन्होंने आदर्श स्कूल सम्बन्धी अपने विचार प्रस्तुत किये। डीवी महोदय ने अपने विचारों को प्रयोग रूप में परिणत करने के लिये शिकागो (Chicago) में प्रयोगात्मक शिक्षालय (Laboratory School) नामक स्कूल स्थापित किया। शिक्षालयों पर विचार करते हुए डीवी ने लिखा है, "शिक्षा एक सामाजिक संस्था है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया होने के नाते साधारणतया शिक्षालय वह स्थान है जो सामुदायिक जीवन का निर्माण करता है जिसमें कि वे समस्त साधन केन्द्रित होते हैं जो बालक को जातीय परम्परागत

सम्पत्ति में अपना भाग प्राप्त करने और उसे अपनी शक्ति को सामाजिक उद्देश्य के लिए प्रयोग करने की योग्यता प्रदान करते हैं।"

"The School is a social institution. Education being a social process the school is simply that form of community life in which all those agencies are concentrated that will be most effective, in bringing the child to share in inherited resources of the race and race, and to use his own powers for social ends." —John Dewey.

(अ) डीवी के अनुसार आदर्श स्कूल की विशेषतायें

(Characteristics of the Ideal School According to Dewey)

(१) स्कूल को समाज का प्रतिबिम्ब होना चाहिये। जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन होता जाता है वैसे-वैसे स्कूल का स्वरूप भी समाज की आवश्यकताओं के अनुसार बदलता रहना चाहिये।

(२) बालकों को जीविकोपार्जन की शिक्षा देनी चाहिये जिससे कि ये व्यावहारिक जीवन में प्रवेश कर अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

(३) स्कूल में लाभदायक क्रियाओं को बालकों के समक्ष सरल, शुद्ध एवं सन्तुलित रूप में प्रस्तुत करना चाहिए ताकि वे उनको समझ कर कार्य रूप में परिणत कर सके।

(४) स्कूल को चाहिए कि वह बालक को ऐसी योग्यता प्रदान करे जिससे कि बालक जातीय परम्परागत में भाग लेने में समर्थ हो जाय।

(५) स्कूल को चाहिये कि वह बालक को अपनी शक्तियों का सामाजिक उद्देश्यों के लाभ के लिए सहयोग करना सिखावे।

(६) स्कूल में बालकों को नाना प्रकार कों सामूहिक क्रियायें करना चाहिए ताकि उनमें सामाजिक भावना का विकास हो।

(७) स्कूल का वातावरण इस प्रकार का होना चाहिये जैसा कि बालकों के घरों का होता है ताकि वे वहाँ घरों के समान आनन्द लेते हुए वहाँ के भिन्न-भिन्न कार्य रुचिपूर्ण करने का प्रयास करें।

(८) स्कूल एवं गृह में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए ताकि बालक स्कूल की क्रियाओं को गृह में एवं गृह की क्रियाओं को स्कूल में पूरा करने में समर्थ हों।

(९) स्कूल में उद्योगों के माध्यम से शिक्षा देने का प्रयास करना चाहिए। डीवी का विचार है कि लकड़ी का काम, लोहा का काम, कागज का काम, मिट्टी का काम, खाना बनाने का काम, सीना-पिरोना आदि जीवन से सम्बन्धित उद्योगों के माध्यम से भली-भांति शिक्षा दी जा सकती है।

(१०) बालकों को अपने अनुभव द्वारा शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए ताकि वे पूर्णरूपेण शिक्षक के अधीन रहें।

(११) शिक्षालय को एक समाज के रूप में उपस्थित करना चाहिए ताकि बालक वहाँ नाना प्रकार की सामाजिक क्रियायें करते हुए सफल सामाजिक जीवन व्यतीत करने की योग्यता कर लें। डीवी का यह कथन था कि स्कूल को समाज का प्रतिनिधि होना चाहिए।"

"School should be representative of the society."

—John Dewey.

(५) डीवी के अनुसार शिक्षक का स्थान
(Place of Educator According to Dewey)

[अ शिक्षक का महत्वपूर्ण स्थान (Important Place of Educator)

प्रयोजनवादी शिक्षाशास्त्री डीवी ने अपनी शिक्षा-योजना में शिक्षक को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। उनका विचार है कि शिक्षक एक समाज-सुधारक एवं समाज-सेवक है। फलस्वरूप उसका कर्तव्य है कि सामाजिक सदस्यों अर्थात् बालकों के लिये स्कूल में ऐसा सामाजिक वातावरण (Social Environment) प्रस्तुत करे कि उनके सामाजिक व्यक्तित्व का विकास (Development of Social Personality) हो सके। डीवी महोदय ने समाज-हित के दृष्टिकोण से शिक्षक को ईश्वर का प्रतिनिधि माना है।

[ब] शिक्षक का पद बालकों के मित्र एवं मार्ग-प्रदर्शक के रूप में (Status of Educator as the Friend and Guide of the Children)

महान् दार्शनिक शिक्षाशास्त्री डीवी ने शिक्षक का पद बालकों के मित्र एवं मार्ग-प्रदर्शन के रूप में माना है। उसके अनुसार शिक्षक का कर्तव्य बालकों को आज्ञायें एवं उपदेश देना नहीं है वल्कि उसका कर्त्तव्य है कि वह बालकों को ऐसी परिस्थितियाँ प्रदान करे कि वे ज्ञानार्जन करने में समर्थ हों इनके लिए शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों की अभिरुचियों एवं आवश्यकताओं का अध्ययन कर उनके अनुरूप उन्हें काम करने के लिए प्रोत्साहित करें। जिन कार्यों में बालक किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव करें उनमें शिक्षकों को चाहिए कि वे बालक को सहायता प्रदान करें। इस प्रकार डीवी ने शिक्षक को मित्र एवं पथ-प्रदर्शक का स्थान दिया है। भारतीय शिक्षाशास्त्री जी० एस० पुरी ने इस सम्बन्ध में डीवी का विचार प्रस्तुत करते हुए ठीक ही लिखा है:—

"The teacher is to be friend and a guide to the child. He is not to transmit any information or knowledge to his pupils, but he has only to arrange the situation and opportunities which may enable them to learn." —G. S. Puree.

(६) डीवी के अनुसार अनुशासन
(Discipline According to Dewey)

[अ] सामाजिक अनुशासन पर बल (Emphasis on Social Discipline)

डीवी का विचार है कि प्रचलित अनुशासन सम्बन्धी विचार अत्यन्त दोषपूर्ण हैं क्योंकि इसमें केवल बालक के वैयक्तिक पक्ष पर बल दिया जाता है और उसके सामाजिक पक्ष की सर्वथा अवहेलना कर दी जाती है। इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुए डीवी ने सामाजिक अनुशासन पर विशेष बल दिया है जिसके अनुसार सामाजिक जीवन के आधार पर बालकों में अनुशासन स्थापित करना चाहिए। डीवी का विचार है कि स्कूल में बालकों को सामूहिक कार्य करने का अवसर प्रदान करना चाहिए जिससे कि बालक के प्राकृतिक आवेगों (Impulses) का सुधार अथवा शोधन (Sublimation) होता है दूसरे शब्दों में यदि स्कूल के सामाजिक वातावरण में बालकों को सहयोग से उपयोगी कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाय तो एक अपने ढङ्ग का सामाजिक अनुशासन उत्पन्न हो जाता है जिससे कि बालकों को नियम पूर्वक कार्य करने का अभ्यास हो जाता के एवं उनका चरित्र निर्मित हो जाता है। अतः शिक्षकों का यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि वे बालकों को स्कूल में ऐसा सामाजिक वातावरण प्रदान करें जिससे कि बालक पारस्परिक सहायता से कार्य करते हुए अपने अनुभवों में सुधार कर सकें।

[ब] बालक की रुचियों के अनुसार स्कूल के कार्यों का आयोजन (Planning of School Activities on the basis of a Children's Interest)

डीवी का यह भी विचार है कि यदि 'बालक की रुचियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार स्कूल के समस्त कार्यों का आयोजन किया जाय तो शिक्षक को शिक्षालय में अनुशासन की समस्या का सामना न करना पड़ेगा बल्कि बालक तो स्वयं अपने कार्य में दत्तचित्त रहेंगे। फलस्वरूप कक्षा में स्वाभाविक रूप से शान्तिपूर्ण वातावरण बना रहेगा।

डीवी के विचारों की आलोचना
(Criticism of the Views of Dewey)

(१) सत्य को परिवर्तनशील बताना (To tell the changing nature of truth)—डीवी का यह सिद्धान्त कि सत्य सदा देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है, उचित नहीं प्रतीत होता है। यदि हम इस सिद्धान्त को उचित मान लेते हैं तो हम डीवी के दर्शन को भी सत्य नहीं कह सकते हैं। वास्तविकता यह है कि 'सत्य का स्वरूप शाश्वत एवं चिरन्तन होता है—दूसरे शब्दों में जो सत्य है वह कभी परिवर्तित नहीं हो सकता है। आदर्शवादियों का विचार है कि संसार में कई शाश्वत विशेषतायें हैं जो कि परिवर्तित नहीं होती है एवं कुछ ऐसी सुन्दरतायें हैं जो कभी नहीं मुरझाती।

"There are eternal realities which do not change and the beauties which do not fade."

—Corrossman Plato Today P. 225.

(२) उपयोगिता में सत्यता के निहित होने का विचार (Existence of truth in utility)—डीवी सत्य को परिवर्तनशील बताता है। वह यह भी कहता है कि केवल वे वस्तुयें अथवा विचार सत्य हैं जो उपयोगी हैं। डीवी के अनुसार चूंकि उपयोगिता परिवर्तनशील है। फलस्वरूप सत्यता भी सर्वदा परिवर्तनशील होता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सत्यता हमेशा उपयोगिता पर आधारित होती है। संसार में बहुत सी वस्तुयें ऐसी होती हैं जो सत्य है परन्तु उपयोगी नही हैं। इस प्रकार डीवी का यह विचार कि जो वस्तु उपयोगी है वही सत्य है दोषपूर्ण प्रतीत होता है।

(३) भौतिकवाद का समर्थन (Vindication of Materialism)—विद्वानों ने डीवी के सिद्धान्त में तीसरा यह आरोप लगाया है कि डीवी के सिद्धान्त आदर्शवाद का विरोध एवं भौतिकवाद का समर्थन के परिणामस्वरूप आज विश्व में साम्प्रदायिकता, कलह, विद्वेष, निर्दयता एवं संकीर्ण राष्ट्रीयता का बोलवाला है। इसके अतिरिक्त यदि हम डीवी के पदार्थवाद को ही सब कुछ मान लें तो हमें यह जानना मुश्किल हो जावेगा कि पदार्थवाद पर आधारित सभ्यता के जांचने का मापदण्ड क्या है। पदार्थवाद के ही परिणामस्वरूप बालक की आन्तरिक उन्नति पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है बल्कि उसकी सांसारिक सफलता पर ही ध्यान दिया जाता है।

(४) पूर्व निर्धारित लक्ष्य का अभाव (Lack of the Pre-determined Aims)—डीवी का विचार है कि हम शिक्षा के पूर्व निर्धारित उद्देश्य की कल्पना नहीं कर सकते हैं बल्कि शिक्षा तो स्वयं जीवन ही है। परन्तु वास्तव में बिना शिक्षा के किसी उद्देश्य के पढ़ना अन्धकार में छलांग मारने के समान है। दूसरे शब्दों में उद्देश्य के अभाव में शिक्षा का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता है। इसके साथ-साथ यदि डीवी का उपर्युक्त सिद्धान्त सत्य मान लिया जाय तो व्यक्ति को जीवन-पर्यन्त अध्ययन करना पड़ेगा एवं उसके जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करनी पड़ेगी किन्तु यह पूर्णतया असम्भव है। इसके साथ-साथ डीवी का यह विचार कि स्कूल ही जीवन है, उचित नहीं प्रतीय होता है। वास्तव में यदि स्कूल को बाह्य जीवन का प्रतिनिधि मान भी लें तो भी यह हमेशा एक प्रथक् संस्था के रूप में रहेगा।

(५) प्रत्येक बालक की रुचि एवं योग्यता के अनुसार पाठ्यक्रम तैयार करना असम्भव है (To prepare the curriculum according to the interests and ability of every child is impossible)—डीवी का यह विचार कि प्रत्येक बालक की स्वाभाविक रुचि एवं योग्यता के अनुसार उनके लिये पाठ्यक्रम

निर्धारित करना चाहिए बहुत ही दुष्कर प्रतीत होता है। यदि विद्यालय में समस्त बालकों के लिये उनकी व्यक्तिगत रुचि एवं योग्यता के अनुसार पाठ्यक्रम के संगठन करने का प्रयास किया जाय तो नाना प्रकार की कठिनाइयां, जटिलताओं का सामना करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में यह बिल्कुल असम्भव है। इसके साथ-साथ यह जरूरी नहीं कि कला-कौशल-सम्बन्धी कठिन विषय पर प्रत्येक को रुचि अवश्य होगी। इसके साथ-साथ डीवी का 'स्वानुभव द्वारा सीखने का सिद्धान्त' (Principle of Learning by Experience) उत्तम होते हुए भी अगर बालकों को दूसरों के अनुभवों से सीखने का अवसर मिले तो फिर क्यों न उससे भी लाभ उठाया जाय।

(६) नैतिक, धार्मिक एवं सौन्दर्यात्मक शिक्षा की उपेक्षा (Negligence of Moral Religious and Aesthetic Education)—डीवी ने पाठ्यक्रम में नैतिकता, अधार्मिक तथा सौन्दर्यात्मक शिक्षा के लिए विषयों का प्रथक् रूप से स्थान नहीं दिया है। यह उसका अतिशय उपयोगितावादी दृष्टिकोण है। वास्तव में व्यक्ति को कुशल व्यवसायी बनाना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उसमें मानवीय गुणों का विकास करना भी आवश्यक है। इसके लिए नैतिक, धार्मिक एवं सौन्दर्यात्मक शिक्षा की अति आवश्यकता है।

(७) क्रियात्मकता पर अतिशय बल (Over-emphasis on Activity)—डीवी ने क्रियात्मकता या प्रयोग को सत्य की एकमात्र कसौटी मानकर अपने सिद्धान्त पर ही कुठाराघात किया है। वास्तव में विचारों की उपेक्षा कर हम क्रिया को कार्यान्वित रूप दे ही नहीं सकते। ह्वाइट हैड का मत है "यदि हम कार्य की आवश्यकता की प्रतीक्षा विचारों को क्रमबद्ध करने के पहिले करेंगे, तो शान्ति में हम अपना व्यवसाय खो देंगे और युद्ध काल में युद्ध हार जायेंगे।"

"If we wait for the necessities of action before we commence to arrange our ideas in peace we shall have lost our trade, in war we shall have lost the battle." —Whitehead.

(८) जातीय अनुभवों की उपेक्षा (Negligence of Racial Experiences)—डीवी महोदय उन्हीं विचारों या अनुभवों को सत्य मानते हैं जो प्रयोग या परीक्षा की कसौटी में खरे उतर सकें। डीवी के इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप हमारे वे सब प्रतीत अनुभव संदिग्ध हो जाते हैं जो कि हमारे पूर्वजों ने अपने अचेतन प्रयासों के परिणामस्वरूप अर्जित किये हैं।

(९) निगमन पद्धति की उपेक्षा (Negligence of Deductive Method)—डीवी महोदय विशिष्ट घटनाओं के निरीक्षण और परीक्षण द्वारा सामान्य सत्य को प्राप्त करने के लिये अर्थात् आगमन पद्धति (Inductive Method) पर जोर देते हैं। किन्तु निगमन पद्धति के बिना आगमन पद्धति अपूर्ण रहती है। प्रायः उच्च-कोटि के विचारक निगमन पद्धति अर्थात् सामान्य सत्य से विशिष्ट सत्य की ओर

पांचने का विशेष उपयोग करते हैं। इस प्रकार डीवी ने निगमन पद्धति की उपेक्षा की है।

(१०) **सानुबन्धित-शिक्षण पर अतिशय बल** (**Over-emphasis on Correlative Teaching**)—आज के विशेषीकरण (Specialization) के युग में प्रत्येक विषय का प्रथक् रूप से विकास हो चुका है। ऐसी स्थिति में उन्हें एक दूसरे से सम्बन्धित करते हुए पढ़ाया जाना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रयोजनवादी शिक्षा में भी तो हम पूर्णरूपेण सानुबन्ध पद्धति का प्रयोग कर वांछित फल नहीं प्राप्त कर सकते। अतः डीवी ने सानुबन्धित शिक्षण पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है।

(११) **प्रत्यक्ष अनुभव ही ज्ञान का एकमात्र साधन नहीं है** (**Sense Experience is not the only source of knowledge**)—डीवी ने प्रत्यक्ष अनुभव को ज्ञान का एकमात्र साधन मानकर ज्ञानशास्त्र (Epistomology) को सीमित बना दिया है। वास्तव में व्याख्यान, पुस्तकें, विवेचन इत्यादि भी ज्ञान प्राप्त करने के आवश्यक साधन है।

(१२) **बिना प्रयोग के अनेक सिद्धान्तों का अन्वेषण** (**To invent many principles without experiment**)—डीवी महोदय ने प्रयोग को सारे सिद्धान्तों के अन्वेषण का एकमात्र साधन बतलाया है। किन्तु यह बात प्रौद्योगिकों (Technology) के लिये तो ठीक है और अन्य विज्ञानों के सिद्धान्तों का अन्वेषण तो बिना प्रयोग के सम्भव है। डारविन (Darwin) ने अपने विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory) को प्रतिपादन करने में किसी प्रयोग का सहारा नहीं लिया। सामाजिक विद्वानों के तो अधिकांश सिद्धान्त बिना प्रयोग के प्रतिपादित किये गये हैं। इस प्रकार डीवी का प्राद्योगिकी के समान अन्य विद्वान् सिद्धान्तों का अन्वेषण का विचार उचित नहीं प्रतीत होता है। रस्क ने इस मन्तव्य पर प्रकाश डालते हुए ठीक लिखा है :—

"Dewey tends to identify science which technology and as a consequence to regard the principle of experimental enquiry as the life blood of entire advance in sciences are even more dependent on concepts and coherent pattern of observed date."

—Rusk Basic Education, P. 99-91.

डीवी का आधुनिक शिक्षा पर प्रभाव

(Influence of Dewey on Modern Education)

[अ] डीवी के सिद्धान्तों के आधार पर आधुनिक शिक्षा का पुनर्संगठन

(**Reorganization of modern education on the basis of Dewey's Principles**)

ऊपर हमने डीवी के सिद्धान्तों में कुछ त्रुटियां प्रस्तुत की परन्तु यह निर्विवाद

सत्य है कि आधुनिक शिक्षा पर उसके विचारों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा क्योंकि उसने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का सम्बन्ध स्थापित करते हुए व्यक्ति एवं समाज के विकास के लिये जो मार्ग प्रदर्शन किया है वह अन्य शिक्षाशास्त्रियों से उच्चकोटि का है। डीवी के विचारों के परिणामस्वरूप शिक्षा में सक्रियवाद के आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इस सक्रियावादिता के आधार पर वर्तमान युग में अनेक 'एक्टीविटी स्कूल' (Activity Schools) स्थापित किये गये जिनमें कि 'योजना पद्धति' (Project Method) का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक युग में विश्व में समस्त उन्नतिशील देश डीवी के शिक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा का पुनर्संगठन कर रहे हैं।

[ब] आधुनिक शिक्षा में डीवी के प्रमुख सिद्धान्त
(Chief Principles of Dewey in Modern Education)

(१) शिक्षा का मुख्य उद्देश्य सामाजिक कुशलता है।
(२) व्यक्ति के विकास पर ही समाज का विकास आधारित है।
(३) शिक्षालय समाज का लघु रूप है।
(४) शिक्षा का आधार स्वानुभव है।
(५) शिक्षा जीवन की तैयारी न होकर स्वयं जीवन है।
(६) बालक की व्यक्तिगत रुचियों एवं योग्यताओं के आधार नर उसे शिक्षा प्रदान करना चाहिये।
(७) शिक्षा में सक्रियशीलता निहित होना चाहिये।
(८) बालकों के नैतिक विकास का प्रमुख साधन क्रियाशीलता है।
(९) शिक्षालय में हस्तकला सम्बन्धी विषयों को प्रमुख स्थान देना चाहिये।
(१०) खेल, रचना, वस्तुओं का प्रयोग, यात्रा, प्रकृति निरीक्षण आदि शिक्षा के प्रमुख साधन हैं।
(११) शिक्षा एक सामाजिक आवश्यकता है।
(१२) शिक्षा द्वारा बालक में सामाजिक विचारों एवं भावनाओं का विकास होता है।
(१३) शिक्षा का प्रमुख कार्य बालक को ऐसा वातावरण प्रदान करना है जिसमें कि वह सक्रिय होकर मानव जाति की सामाजिक जागृति में योग दे सके।
(१४) शिक्षालय क प्रमुख कार्य वालकों को सामाजिक एवं जनतांत्रिक जीवन के अनुरूप है।
(१५) शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य प्रजातान्त्रिक शासन के लिये योग्य एवं कुशल शासक तैयार करना है।

उपसंहार (Conclusion)

सारांश यह है कि आधुनिक शिक्षा के विभिन्न अंगों में जो महान् शिक्षाशास्त्री

एवं दार्शनिक जॉन डीवी का प्रभाव है वह विश्व के समस्त शिक्षाशास्त्रियों में अग्रगण्य हैं। महान् शिक्षाशास्त्री डीवी महोदय ने ही मानव जीवन एवं सामाजिक जीवन में सम्बन्ध स्थापित करते हुए सामाजिक दृष्टिकोण से मानव जीवन का महत्व प्रस्तुत किया। डीवी महोदय ने अपना विचार प्रकट किया कि चाहे कोई अमीर हो चाहे गरीब सबको शिक्षा पाने का अवसर प्राप्त होना चाहिये एवं सबको योग्यतानुसार समाज में उचित पद मिलना चाहिये। डीवी महोदय का विचार है कि बालकों की रुचियों एवं आवश्यकताओं का अध्ययन कर उन्हें प्रेम एवं सहानुभूति से शिक्षा प्रदान करना चाहिये उनका यह भी कथन है कि प्रत्येक बालक की सहनशीलता, सहानुभूति, सहयोग, परोपकार, विनय, आदर आदि का पाठ पढ़ाना चाहिये ताकि समाज का कल्याण करने में समर्थ हो। अब तक जितने भी शिक्षा के सिद्धान्त प्रचलित हुए हैं उनमें डीवी के सिद्धांतों का सार निहित है इस प्रकार डीवी महोदय को समस्त शिक्षाशास्त्रियों का प्रतिनिधि कहा जाय तो अनुचित न होगा। शिक्षा के क्षेत्र में १९वीं शताब्दी में जो ख्याति पेस्टालाजी को प्राप्त हुई २०वीं शताब्दी में वही ख्याति महान् शिक्षाशास्त्री डीवी को प्राप्त हुई। रस्क महोदय ने डीवी की प्रशंसा करते हुए लिखा है—**"शिक्षा में हम डीवी की उन सेवाओं के ऋणी हैं जिनके द्वारा उन्होंने ज्ञान के प्राचीन स्थिर आदर्शों के संचय की चुनौती दी एवं शिक्षा को वर्तमान जीवन की वास्तविकताओं के सम्पर्क में ले आए तथा वह सामान्य सिद्धान्त बनाया कि शिक्षा एवं दर्शन की समकालीन समस्याओं पर चिन्तन करना चाहिये।"**

"In education we cannot but be greatful to Dewey for his great services in challenging the old cold storage of ideal of knowledge and bringing education more in accord with the actualities of present day life the general principle...that both philosophy and education should reflect main currents of contemporary thought."

—Rusk Doctrine of Great Education P. 369.

प्रकट करते हुए लिखा है, "कमेनियस प्रारम्भिक रचनाओं की अपेक्षा अपने जीवन की घटनाओं से एक शिक्षा-सुधारक बना। यदि हम उसकी प्रारम्भिक तथा आजीवन की प्रभावशाली इच्छा (धर्म) को स्वीकार नहीं करते हैं तो उसके प्रति पूर्ण न्याय न होगा।"*

"Comenius became a reformer more by accident than by primary design. It would be doing him less justice if we fail to recognise the primary and dominant life motive."

—M. Spinka Jhon Amos Comenius P. 32

४०

प्लेटो

(Plato—427-347 B. C.)

संख्या—३४

प्लेटो के दार्शनिक तथा शैक्षणिक विचारों पर प्रकाश डालिए। प्लेटो के शिक्षा के भिन्न पक्षों के सम्बन्ध में क्या विचार हैं?

Discuss the philosophical and educational views of Plato. What are the views of Plato about the various aspects of Education?

भूमिका (Introduction)

(अ) प्लेटो का जीवन-चरित्र (Life.sketch of Plato)

रस्क के शब्दों में "जब हम नीतिशास्त्र, शिक्षा या राजनीति की समस्याओं पर विचार करते हैं तो स्वभावतः हमारा ध्यान सर्वप्रथम ग्रीक विचारों की ओर चला जाता है······ग्रीक विचारों में मौलिकता के अतिरिक्त आश्चर्यजनक विस्त

---

*"Universal harmony and peace must be secured for the whole human race. By peace and harmony, however I mean not be external peace between rules and peoples among themselves at an internal peace of mind inspired by system of ideas and feelings."

—Comenius]

व्यापकता पाई जाती है।"* ग्रीक विचारकों में सुकरात (Socrates), प्लेटो (Plato) तथा अरस्तू (Aristotle) का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। इनमें से शिक्षा दार्शनिक (Education Philosopher) के रूप में प्लेटो का सर्वप्रमुख स्थान है। इसके पूर्व कि हम प्लेटो के शैक्षणिक विचारों पर प्रकाश डालें, हमें प्लेटो की जीवनी से परिचित होना आवश्यक प्रतीत होता है। महान् दार्शनिक प्लेटो का जन्म ४२७ ई० पू० एथेन्स के एक कुलीन (Aristrocratic) परिवार में हुआ। फलस्वरूप अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त कर व्यक्तित्व के विकास का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया। प्लेटो ग्रीक के सुप्रसिद्ध विधान निर्माता 'सोलेन' का एक वंशज था प्रारम्भ में उसकी राजनीति से घृणा होने के कारण वह अपना समय दार्शनिक चिन्तन में बिताने लगा और धीरे-धीरे आदर्शवादी दार्शनिक के रूप में अग्रसित होने लगा। उसने प्रारम्भिक शिक्षा क्रेटिलस, फिर हिरेक्लिट्स से प्राप्त की किन्तु ज्ञान की अत्यधिक जिज्ञासा के कारण प्लेटो ने सुकरात को अपना गुरु बनाया। वह अपने मित्र जानोफन के साथ बहुत समय तक सुकरात के सम्पर्क में रहकर अपनी ज्ञान पिपासा की तृप्ति करता रहा। इसके बाद प्लेटो ने इटली, मिस्र, सिसली, मिगारा आदि देशों में भ्रमण करते हुए ज्ञानार्जन किया। मिगारा में वह यूक्लिड तथा पार्मिनीडीज की शिक्षाओं से प्रभावित हुआ। इटली में पाइथागोरस सम्प्रदाय के सम्पर्क में आया। सिसली में वह कुछ दिनों तक 'डायोनीशियस' (Dionysiu[illegible]) के दरबार में रहा। किन्तु वहाँ के शासकों ने प्लेटो की दार्शनिकता से रुष्ट हो[illegible] प्लेटो को दासों की मन्डी में बिकवाने के लिए भेज दिया। सौभाग्यवंश प्लेटो से बचकर अपनी १० वर्ष की यात्रा समाप्त करके पुनः एथेन्स आ गया। [illegible] उसने एक पेशेवर शिक्षक और दार्शनिक के रूप में कार्य करते हुए एक विद्[illegible] (Academy) स्थापित किया। यहाँ पर उसने अपने दार्शनिक, साहि[illegible] राजनैतिक तथा सामाजिक विचारों को ग्रन्थों का रूप प्रदान किया। उसने अ[illegible] जीवन सुख, शान्ति से बिताया। इस महान शिक्षाशास्त्री ने ३४७ ई० पू० अर्थात् ८२ वर्ष की आयु में इस नश्वर संसार से अपना शरीर त्याग दिया।

[ब] प्लेटो की रचनाएँ (Works of Plato)

प्लेटो की रचनायें कितनी हैं इस सम्बन्ध में अभी तक अन्तिम निर्णय प्राप्त नहीं हो सका है। प्रायः उनकी रचनायें संवाद-ग्रन्थों (Dialogues) के रूप में है। इन्हीं संवाद-ग्रन्थों में प्लेटो ने अपने विचारों को अभिव्यक्ति की है। प्लेटो की अभी तक ६ रचनायें प्राप्त हो चुकी हैं जिनमें से ५ प्रमुख हैं—(१) 'रिपब्लिक'

---

*"It is to Greek thought that we first turn when we wish to consider any of the problems of ethics, education or politics ....Greek thought has in addition to its originality a surprising universality."

—Rusk—'Doctrine of Great Education.

(Republic)—इसमें प्लेटो ने आदर्श राज्य (Ideal State) के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। आज समाजशास्त्री, शिक्षाशास्त्री, दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ सब 'रिपब्लिक' को महान रचना मानते हैं। (२) 'प्रैटागोरस' (Pratagoras)—इसमें प्लेटो ने सुकरात के सद्गुण (Virtue) सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। 'लाज' (Laws)—इसी ग्रन्थ में प्लेटो ने रिपब्लिक से बचे हुए विचारकों को सुस्पष्ट किया है। 'सिम्पोजियम' (Symposinm)—इसमें प्लेटो ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के शाश्वत आदर्शों को स्पष्ट किया है।

अब हम पहले प्लेटो के दार्शनिक तथा शैक्षणिक विचार प्रस्तुत करेंगे, तत्पश्चात् प्लेटो के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालेंगे।

प्लेटो के दार्शनिक विचार
(Philosophical Views of Plato)

[अ] जाति-प्रत्यय ही मौलिक या शाश्वत तत्व हैं
(Ideas are the Fundamentals or Eternal Factors)

प्लेटो का विचार है कि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किये जाने वाले पदार्थों के विश्व के अतिरिक्त देश और काल (Space and time) से परे भी जाति-प्रत्ययों (Ideas) का एक विश्व है जो मौलिक, अपरिवर्तनशील, विनाशहीन, पूर्ण तथा बुद्धि [illegible] है। इसके विपरीत संसार की प्रत्यक्षीकरण की जाने वाली समस्त वस्तुयें नाश[illegible]र तथा परिवर्तनशील हैं। जाति प्रत्यय ही मौलिक तथा शाश्वत सत्य हैं। उदा[illegible] के लिए सुन्दर स्त्री, सुन्दर गुलाब, सुन्दर चित्र इत्यादि सब सुन्दर हैं। किन्तु [illegible]र में इन सब चीजों का नाश हो जावेगा। किन्तु सुन्दरता (Beauty) का [illegible] कभी नष्ट न होगा। सुन्दरता ही एक मौलिक तथा शाश्वत् जाति-प्रत्यय है। [illegible] प्रकार न्याय, अच्छाई, मनुष्यत्व, अश्वत्व इत्यादि जाति प्रत्यय है जो मौलिक तथा शाश्वत है।

[ब] संसार के पदार्थ जाति-प्रत्ययों की प्रतिकृतियाँ या नकले हैं
(Worldly Objects Are the Copies of Ideas)

प्लेटो ने प्रत्यक्ष किए जाने वाले संसार के अतिरिक्त प्रत्ययों (Ideas) जगत को मौलिक तथा शाश्वत बतलाया। किन्तु अब प्रश्न उठता है कि आखिर ये प्रत्यक्ष किये जाने वाले संसार के पदार्थ क्या हैं। प्लेटो का कथन है कि संसार के पदार्थ तत्सम्बन्धी जाति प्रत्ययों की प्रतिक्रिया या नकलें (Copies) हैं। ये संसार के पदार्थ नाशवान तथा परिवर्तनशील हैं किन्तु जाति-प्रत्ययों का अस्तित्व सर्वदा बना रहेगा। इस प्रकार प्लेटो जाति-प्रत्ययों के जगत को वास्तविक मानता है और दृष्टि जगत को उस जगत की छायामात्र बतलाया है। संसार के अधिकांश लोगों का हृदय इन्हीं छायाकृतियों के प्रति लगा हुआ है। प्लेटो ने अपने इस तथ्य को गुफा का रूपक देते हुए इस प्रकार स्पष्ट किया है "उन मानवों को देखिए जो उस पृथ्वी के भीतर

रहते हैं जिनकी गुफा का मुँह ऊपर की ओर खुला है जहाँ से कि सम्पूर्ण प्रकाश आ रहा है।...उनके पैर एवं गर्दन शृङ्खला से इस प्रकार बँधी है कि वे उन्हें घुमा नहीं सकते हैं एवं केवल सामने ही देख सकते हैं। उनके ऊपर एवं पीछे अग्नि का प्रकाश गुफा से थोड़ी दूर ले जा रहा है। उन कैदियों एवं अग्नि के बीच में एक निश्चित् रंगमंच है जिस पर कठपुतलियों का अभिनय हो रहा है। कैदी अपनी परछाई एवं रंगमंच की वस्तुओं आदि की छाया देखते हैं।"

"Behold ! human beings living in an underground den which has a mouth open towards the light and reaching all along the den. They have their legs and necks so chained that they cannot move and can only see before them............ Above and behind them the light of fire is blazing at a distance, and between the fire and prisoners there is a raised way (stage) over which marsonethee plays show the puppets. The prisoners see only their own shadows and shadows of the objects displayed."
—Republic VII P. 51.

[स] सत्यं, शिवं, सुन्दरम् परमात्मा के गुण स्वरूप में

(Truth, Goodness and Beauty as the Attributes of God)

प्लेटो ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को परमात्मा के गुण बतलाये हैं। प्लेटो इन्हीं गुणों का साक्षात् करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बतलाया है। प्लेटो का है कि 'पूर्ण सुन्दर तथा उत्तम शिवं तत्व का अस्तित्व हैं। प्रत्येक दूसरी जिनके लिये अनेक शब्द का प्रयोग किया जाता है उनका एक पूर्ण तत्व है वे केवल इस विचार के अन्तर्गत लायी जा सकती हैं जो कि सबका सार-तत्व जाता है। अगर कोई वस्तु सम्पूर्ण सुन्दर तत्व के अतिरिक्त सुन्दर होती है, तो इसका कारण यह है कि यह पूर्ण सुन्दर तत्व के अर्थ को समाविष्ट करती है अथवा उसकी अपूर्ण प्रतिलिपि होती है। यह पूर्ण सुन्दरता ही है जो समस्त वस्तुओं को सुन्दर बना देती हैं।"

"There is an absolute beauty and absolute good and of the other things to which the term mainly is applied, there is an absolute beauty for they may be brought under a single idea which is the essence of the each. If any thing besides absolute beauty is beautiful, it is so simply because it partakes of absolute beauty...Thing is made beautiful by the presence or communication...of absolute beauty...It is absolute beauty that makes all beautiful things beautiful."
—Plato.

प्लेटो के शैक्षणिक विचार
(Educational Views of Plato)

[अ] शिक्षा का अर्थ (Meaning of Education)

प्लेटो ने शिक्षा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिख है मैं युवकों एवं उनके अधिक उम्र वालों को सद्गुणों की उत्पादक उस शिक्षा की बावत कह रहा हूँ जो इन्हें उत्सुकतापूर्वक नागरिकता के पूर्ण आदर्श की प्राप्ति में लगती है एवं जो उन्हें उचित रूप से शासन करना तथा आज्ञा-पालन करना सिखाती है। यही शिक्षा एक ऐसी शिक्षा है जिसका नाम सार्थक शिक्षा है। दूसरे प्रकार की शिक्षा जो धन की प्राप्ति या शारीरिक शक्ति या न्याय एवं बुद्धिमत्ता रहित चालाकी को प्रयोजन बनाती है वीच की है और जो शिक्षा कहे जाने योग्य नहीं है। जो सही प्रकार से शिक्षित होते हैं वे सामान्यतः अच्छे पुरुष होते हैं।"

"I am speaking of education in virtue from youth upwards which makes a man eagerly persue the ideal perfection of citizenship and teaches him to rule and obey. This is the only education which upon our view deserves the name the other sort of training which aims at the acquisition of wealth or bodily strength or mere cleverness apart from intelligence and justice, and justice is men and illiberal and is not worthy to be called education at all. That those who are rightly educated generally become good man."

—Plato-

[ब] आदर्श राज्य के लिए संरक्षक तथा सैनिक वर्ग की शिक्षा पर जोर
(Emphasis on Education of Guardians and Auxiliaries)

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में 'न्याय' (Justice) को प्रमुख सद्गुण बतलाया, जिसका कार्यान्वित होना (१) बुद्धिमत्ता (Wisdom), (२) साहस (Courage) तथा, (३) संयम (Temperance) के सद्गुणों के सामंजस्य पर आधारित है। इन सद्गुणों के आधार पर प्लेटो ने राज्य के नागरिकों को क्रमशः तीन वर्ग में विभाजित किया। (१) संरक्षक या न्यायाधीश (Guardian), सैनिक (Auxiliaries), तथा (२) व्यावसायिक (Productive class)। उक्त दृष्टि से प्लेटो ने राज्य में न्याय को कायम रखने के लिए इन तीन वर्गों द्वारा अपने कर्त्तव्यों का पालन करना आवश्यक बतलाया है। प्लेटो ने व्यावसायिक वर्ग की शिक्षा पर विशेष विचार नहीं किया है किन्तु उसके अनुसार संरक्षक प्लेटो ने दार्शनिकों को संरक्षक वर्ग में स्थान है तथा सैनिक वर्ग की शिक्षा तथा प्रशिक्षण अति आवश्यक बतलाया है।

[स] अनिवार्य शिक्षा का विचार (Idea of Compulsory Education)

प्लेटो ने व्यक्ति तथा समाज की उन्नति के लिए अनिवार्य शिक्षा का विचार प्रस्तुत किया है। उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है "बालक शिक्षालय में केवल माता-पिता की प्रसन्नता के लिये ही नहीं आयेंगे वे बल्कि वे भी प्रसन्न हों तो भी उनकी अनिवार्य शिक्षा होगी......शिक्षार्थी राज्य के समझे जायेंगे न कि अपने माता पिता के।"

"The children shall come to school not only if their parents please, but if they do not please, there shall be compulsory education and pupil shall be regarded belonging to the state rather than to their parents." **—Plato.**

[द] पुरुषों के तुल्य स्त्रियों की शिक्षा का विचार
(Idea of Women Education as Man's Education)

महान् दार्शनिक प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना पुरुषों तक सीमित न रख कर स्त्रियों को लाभान्वित करने के लिये निर्मित की थी क्योंकि पुरुषों की भांति स्त्रियां भी संगीत तथा शारीरिक शिक्षा पाने योग्य हैं। इतना ही नहीं उसके अनुसार जो स्त्रियां दर्शन या युद्ध में दक्ष प्रमाणित हों उनको संरक्षक या सैनिक वर्ग में स्थान मिले। इस मन्तव्य पर प्रकाश डालते हुए प्लेटो ने लिखा "तुम्हें यह धारणा न बना लेना चाहिये कि जो कुछ मैं कहता हूँ केवल पुरुषों पर लागू होता है एवं स्त्रियों के लिये नहीं जहाँ तक उनके स्वभाव ग्रहण कर सकते हैं।"

"For you must not suppose that what I have been saying applies to men only and not to women as far as their natures can go." **—Plato.**

प्लेटो के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्ष
(Various Aspects of Educational Views of Plato)

प्लेटो के शैक्षणिक विचारों के विभिन्न पक्ष निम्नलिखित हैं:—

(१) शिक्षा के उद्देश्य (Aim of Education)
(२) पाठ्यक्रम का निर्माण (Construction of Curriculum)
(३) शिक्षा-पद्धति (Method of Education)

(१) प्लेटो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य
(Aim of Education According to Plato)

[अ] शाश्वत मूल्यों का साक्षात्कार (Realization of Eternal Values)

महान् आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री प्लेटो के अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों को शाश्वत मूल्यों तथा सत्यं, शिवं, सुन्दरम् (Truth, Goodness, and Beauty) को साक्षात्कार करने में सहायक सिद्ध होता है। ये शाश्वत मूल्य परमात्मा के गुण (Attributes) हैं जिनका साक्षात्कार करके व्यक्ति परमात्मा से तादात्म्य स्थापित कर सकता है।"

[ब] उत्तम नागरिकों का निर्माण (Formation of Good Citizens)

एक कुशल सामाजिक, दार्शनिक (Social Philosopher) होने के कारण प्लेटो ने समाज व राज्य की प्रगति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उसने शिक्षा के उद्देश्य उत्तम नागरिकों का निर्माण करना बतलाया जो शासन करने, राज्य की सीमा में वृद्धि करने तथा आज्ञा-पालन के गुणों के परिपूर्ण हों। प्लेटो ने इस उद्देश्य को व्यक्त करते हुए लिखा है, कि "अगर आप पूछें कि सामान्य रूप से उत्तम शिक्षा क्या है—उत्तर सरल है, "शिक्षा उत्तम व्यक्तियों का निर्माण करती है, उत्तम व्यक्ति उत्तम रूप से कार्य करते हैं और शत्रुओं को युद्ध में विजित करते हैं क्योंकि वे उत्तम आदर्शों से युक्त होते हैं।"

"If you ask what is good education in general, the answer is easy that education makes good men that good men act nobly and conquer their enemies in battle because they are good." —Plato.

[स] शारीरिक एवं मानसिक विकास (Bodily and Mental Development)

प्लेटो ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझा कि व्यक्ति मनःशारीरिक (Psychophysical) प्राणी है अतः उसने शारीरिक तथा मानसिक विकास को भी अपने शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों में स्थान दिया। उसने लिखा, "क्या मै इस सत्य के प्रतिपादन में सही नहीं हूँ कि सही शिक्षा वह है जो शरीर एवं मस्तिष्क की सबसे अधिक उन्नति करने की प्रवृत्ति रखती हैं। इससे अधिक स्पष्ट और कुछ नहीं हो सकता कि सबसे सुन्दर शरीर वे हैं जो बालकपन से सर्वोत्तम तथा सही प्रकार से विकसित होते हैं।

"Am I not right in maintaining that a good education is that which tends most to the improvement of body and mind. And nothing can be plainer than the fairest bodies are those which grow up form infancy in the best and rightest manner." —Plato.

(२) प्लेटो के अनुसार पाठ्यक्रम निर्माण
(Construction of Curriculum According to Ploto)

[अ] पाठ्यक्रम में विषयों का निर्धारण
(Determination of Subjects in Curriculum)

महान् दार्शनिक प्लेटो ने विभिन्न आयु समूहों या कक्षाओं या तत्सम्बन्धी विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भिन्न-भिन्न विषयों को अधिक महत्व दिया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार अब हम प्लेटो के अनुसार विभिन्न कक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों के सम्बन्ध में प्रकाश डाल रहे हैं :—

(१) प्रारम्भिक कक्षाओं के लिये (For Primary Classes)—प्लेटो ने प्रारम्भिक कक्षाओं के पाठ्यक्रम में संगीत तथा शारीरिक प्रशिक्षण को सर्वाधिक महत्व दिया है। आज हम दोनों पर प्रकाश डाल रहे हैं—**(१) संगीत** (Music)—प्लेटो का विचार है कि शिक्षा की शुरुआत संगीत से होनी चाहिये। बालकों को उत्तम सद्गुण (Virtue) वाले गीत सिखाये जायँ। इस दिशा में प्लेटो ने दो नियम निर्धारित किये हैं—(i) संसार में ईश्वर केवल उत्तम गुण का निर्माता है। अतः कवियों के लिये संसार में पाये जाने वाले दुःखों का कारण परमात्मा को नहीं कहना चाहिये। (ii) देवता हमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं देते। कवियों को चाहिये कि वे स्वार्थ, कायरता, विषभोग को निरुत्साहित करने वाले सत्य, आज्ञापालन, संयम तथा वीरता को प्रोत्साहित करने वाले गीतों की रचना करें। संगीत के शैक्षणिक महत्व को प्रस्तुत करते हुए प्लेटो ने लिखा है, अतः संगीत शिक्षा के किसी भी अन्य साधन से अधिक शक्तिशाली है क्योंकि स्वर एवं सामंजस्य आत्मा के आन्तरिक कक्षों में प्रवेश करते हैं जहाँ पर वे शक्तिपूर्वक रुक जाते हैं और इसे सुन्दर बनाते हैं।"* **(२) शारीरिक प्रशिक्षण** (Gymnastic)—प्लेटो मस्तिष्क तथा शरीर दोनों के विकास के लिये महत्व देता है। संगीत मस्तिष्क के लिये और शारीरिक प्रशिक्षण शरीर के विकास के लिये अति आवश्यक है। प्लेटो का कथन है कि मेरा विचार है उत्तम शरीर अपनी शारीरिक सुन्दरता के द्वारा आत्मा की उन्नति नहीं करता है, बल्कि इसके विपरीत उत्तम आत्मा अपनी सुन्दरता द्वारा शरीर की यथासम्भव उन्नति करती है।"

"Now my belief is not that the good body by any bodily excellency improves the soul but on the contrary that the good soul, by her own excellency, improves the body as far as this may be possible." —Plato.

(२) माध्यमिक कक्षाओं के लिए (For Secondry Classes)—प्लेटो ने बालकों को भविष्य में दर्शन का यथेष्ट ज्ञान कराने की दृष्टि से तत्सम्बन्धी विषयों, ज्योतिष तथा गणित को पाठ्यक्रम में मुख्य स्थान देने के लिये कहा है। हमें यह बात भी स्पष्टतया समझ लेनी चाहिये कि माध्यमिक कक्षाओं के बालकों के लिये उक्त विषयों के अध्ययन के साथ-साथ संगीत तथा शारीरिक प्रशिक्षण की शिक्षा लेनी पड़ती है।

(३) उच्च कक्षाओं के लिए (For Higher Classes or Colleges)—उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में प्लेटो ने निम्न ६ विषयों को महत्वपूर्ण स्थान दिया

*"And, therefore, music training is a more potent instrument than any other, because rythm and harmony find their way into the inward places of the soul, on which they mightly fasten imparting grace." —Plato.

है—(१) गणित (Arithmetic), (२) सम ज्योमित (Plane Geometry), (३) ठोस ज्योमित (Solid Geometry), (४) ज्योतिष (Astronomy), (५) संगीत (The Science of Harmonics) तथा (६) दर्शन (Diallectic or the Science of Real Existence)।*

[ब] विभिन्न विषयों के महत्व का निर्धारण
(Determination Importance of Various Subjects)

प्लेटो ने पाठ्यक्रम में विषयों के निर्धारण के साथ-साथ विभिन्न विषयों के महत्व तथा उपयोगिता पर भी विचार किया है। आगे प्लेटो विभिन्न विषयों के महत्व को स्पष्ट कर रहे हैं—(१) गणित (Arithmetic)—गणित के सम्बन्ध में प्लेटो ने लिखा है "क्या आपने आगे निरीक्षण किया है कि "वे विद्यार्थी जिनमें गणित की प्राकृतिक योग्यता होती है सभी अन्य प्रकार के ज्ञानों में तीव्र होते हैं.......... ....यदि सुस्त विद्यार्थियों को भी गणित में प्रशिक्षित किया जाय तो वे यदि अन्य लाभ न अर्जित कर सकेंगे तो वे अधिक कुशाग्र अवश्य हो जायेंगे जो कि गणित के प्रशिक्षण के बिना नहीं हो सकते हैं।"† (२) ज्यामिति (Geometry)—प्लेटो के अनुसार "ज्ञान की समस्त शाखाओं में जैसा कि अनुभव द्वारा सिद्ध होता है जिस व्यक्ति ने ज्योमिति का अध्ययन किया है वह समझ में असीम रूप से तीव्र होता है अपेक्षा उसके जिसने इसे नहीं सीखा है।"** (३) संगीत (Harmonics)—प्लेटो ने मानव जीवन में संगीत का बहुत महत्व बतलाया है क्योंकि इससे व्यक्ति अपने मन और शरीर दोनों को सुन्दर बनाते हुए आत्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। (४) ज्योतिष (Astronomy)—प्लेटो ने दिशा, समय, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, चन्द्रकलाओं इत्यादि बातों की जानकारी के लिये ज्योतिष को बहुत महत्व दिया है। उसका विचार है कि नाविकों तथा कृषकों को ज्योतिष का जानना अत आवश्यक है। (५) दर्शन (Dialectic or Philosophy)—प्लेटो ने जिस प्रकार समाज में दार्शनिकों को सर्वोच्च स्थान दिया है, उसी प्रकार पाठ्यक्रम में दर्शन को सर्वोच्च स्थान दिया है। उसने दर्शन की सर्वोच्चता को सिद्ध करते हुए

*"A Critical Introduction to Social Philosophy P, 275
—R. N. Kaul.

†"Have you further observed that those who have natural talent for calculation are generally quicker at every other kind of knowledge......and even dull if they have had Arithmetical training, although they may derive no other advantage from it always become quicker than they would otherwise have been." —Plato.

**"In all departments of knowledge as experience proves any one who has studied geometry is infinicly quciker of apprehension than one who has not." —Plato.

लिखा है "तुम्हें स्मरण कराना चाहता हूँ कि केवल दर्शन की शक्ति ही सम्पूर्ण सत्य को स्पष्ट कर सकती है। इसका ज्ञान प्राप्त करने में वही समर्थ हो सकता है जो पूर्व विज्ञानों में पूर्ण दक्ष हो..........गणित, विज्ञान, सत्य केवल आंशिक ज्ञान प्रकट करते हैं, ज्योमित एवं अन्य विज्ञान केवल उसका स्वप्न देख सकते हैं। वे जाग्रति वास्तविकता का साक्षात्कार कभी नहीं कर सकते क्योंकि वे अपनी प्रारम्भिक कल्पनाओं को बिना जाँच किये छोड़ देते हैं।"

"It must remind you that the power of dialectic can alone revael. the absolute truth, and only to one who is a disciple of previous sciences.........the mathematical sciences ....have some apprehenison of true being, geometry and the like, they only dream about the being and never can behold the walking reality so long as they leave the hypothesis...... ......unexamind." —Plato.

प्लेटो के अनुसार शिक्षा पद्धति

(Method of Education According to Plato)

[अ] रुचिकर प्रस्तुतीकरण (Interesting Presentation)

प्लेटो ने अपनी शिक्षण पद्धति में बालकों की रुचि का विशेष ध्यान रक्खा है। उनका कथन है, "शारीरिक प्रशिक्षण अनिवार्य कर देने पर शरीर को कोई हानि नहीं पहुँचती है परन्तु जो ज्ञान अनिच्छा से प्राप्त किया जा सकता है, मस्तिष्क पर कोई प्रभाव नहीं डालता है। इसलिये इच्छा के विरुद्ध शिक्षा न दीजिये एवं प्रारम्भिक शिक्षा को एक प्रकार का मनोरंजन बना दीजिये।"

"Bodily exercise when compulsory does not harm to the body but knowledge which is acquired under compulsion obtains no hold on the mind. Then do not use compulsion, but let early education be a sort of amusement." —Plato.

(ब) खेल का महत्व (Importance of Play)

प्लेटो ने शिक्षा पद्धति में खेल (Play) को बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है। प्लेटो ने कहा है खेलों में ही बालक के स्वभाव का निर्माण होता है। यही स्वभाव राज्य की परिवर्तन या स्थायित्व के कारण होते हैं। यदि खेलों में अनवरत परिवर्तन करता जाय तो इस प्रकार से बालकों का जो स्वभाव बनेगा वह भविष्य में राज्य स्थायीपन के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। किन्तु यदि खेलों में नवीनता पर कम ध्यान दिया जायगा तो राज्य के स्थायित्व होने की पूर्ण सम्भावना बनी रहेगी अतः प्लेटो के अनुसार शिक्षकों को चाहिये कि वे खेलों का उचित रूप में प्रयोग करें।

उपसंहार (Conclusion)

उक्त शब्दों में हमने देखा कि किस प्रकार प्लेटो ने अपने दार्शनिक तथा

शैक्षणिक विचारों को प्रस्तुत करते हुए समाज कल्याण के विचार को सुस्पष्ट किया। प्लेटो एक महान् दार्शनिक ही नहीं, बल्कि एक महान् शिक्षा शास्त्री भी था। प्रसिद्ध प्रकृतिवादी दार्शनिक रूसो (Rousseau) ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है, "यदि तुम जानना चाहते हो कि सार्वजनिक शिक्षा का क्या अर्थ है, तो प्लेटो की रचना 'रिपब्लिक' (Republic) का अध्ययन करो..............यह शिक्षा पर लिखी गई समस्त पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ हैं।"* यद्यपि प्लेटो का स्थिर राज्य का विचार तथा आदर्शवादी कल्पनायें आलोचना से परे नहीं हैं किन्तु उसकी कलाप्रियता तथा मौलिकता की प्रशंसा किये बगैर नहीं रहा जा सकता। ह्वाइटहैड ने इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए ठीक लिखा है, "प्लेटो की संस्कृति का दोषयुक्त पक्ष उसकी औद्योगिक शिक्षा की पूर्ण उपेक्षा है जो कि आदर्श मनुष्यों के सम्पूर्ण विकास के लिये अति आवश्यक है। दूसरी ओर प्लेटो के आदर्श ने कला को प्रोत्साहित करके, पक्षपात-रहित जिज्ञासा जो कि विज्ञान की उत्पत्ति का प्रमुख कारण है उसको पोषित करके और मानव मस्तिष्क की प्रतिष्ठा की रक्षा भौतिक शक्तियों के विरोध में करके योरोपीय सभ्यता की अमर सेवा की है।"

"Another evil side of Platonic Culture was its total neglect of technical education as an ingredient in the complete development of ideal human beings. On the other hand thc platonic ideal has rendered imperishable service to European civilization by encouraging art by fostering that spirit of disinterested curiosity which is origin of science. And by maintaining the dignity of mind in the face of material force."

—Whitehead.

———

*"If you wish to know that is meant by public education, read Plato's 'Republic'.........it is the finest treatise on education ever written."

—Rousseau Emile P. 8.

अष्टम खण्ड

शिक्षा में मूल्यांकन या सांख्यिकी

[Evalion or Statisstuatic in Education]

१. सांख्यिकी : अर्थ, कार्य एवं महत्व
२. समूह-व्यवस्था अथवा आवृत्ति वितरण
३. केन्द्रीयवर्ती मान के प्रमाप
४. शतांशीयमान
५. विचलन : प्रमाणिक विचलन तथा चतुर्थांश विचलन

भाग—१

सांख्यिकी : अर्थ, कार्य एवं महत्व
(Statistics : Meaning Function and Importance)

सांख्यिकी का अर्थ
(Meaning of Statistics)

सांख्यिकी शब्द अंग्रेजी भाषा के 'स्टैटिस्टक्स' (Statistics) नामक शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। 'स्टैटिस्टक्स' की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'स्टेटस' (Status) अथवा इटैलियन भाषा के 'स्टैटिस्टा' (Satista) नामक शब्दों से हुई है। इन दोनों शब्दों का अभिप्राय है 'राजनैतिक स्थिति'। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन-काल में इस शब्द का प्रयोग राज्यों की राजनैतिक स्थिति के लिए किया जाता था। जनसंख्या, मरणसंख्या; उत्पन्नसंख्या, लगान, सरकारी आय आदि के आँकड़ों को एकत्रित करने के लिये सांख्यिकी का उपयोग किया जाता था। इस दृष्टिकोण से राजकीय विद्या के रूप में सांख्यिकी (Statistics) का ही प्रचलन हुआ। आधुनिक दृष्टि से सांख्यिकी की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लाविट ने लिखा है—"सांख्यिकी वह विज्ञान है जो किन्हीं घटनाओं की व्याख्या, विवरण तथा तुलना के लिए अधिक तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण तथा सारणीयन का कार्य करता है।"

सांख्यिकी के मुख्य कार्य
(Chief Functions of Statistics)

सांख्यिकी के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) सांख्यिकी विभिन्न तथ्यों को संख्यात्मक रूप प्रदान करती है।
(२) सांख्यिकी जटिल तथ्यों को सरल एवं सुबोध रूप से उपस्थित करती हैं।
(३) सांख्यिकी तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा प्रदान करती है।
(४) सांख्यिकी बिखरे हुए तथ्यों के बीच सह-सम्बन्ध की मात्रा निश्चित करती है।

---

*"Statistics is the science which deals with the collection, classification and tabulation of numerical facts as the basis for expleanation, description and comparison of phenomena."

—Lovitt.

(५) सांख्यिकी किसी समस्या को निश्चयात्मकता प्रदान करती है।
(६) सांख्यिकी समस्त विद्वानों के पुराने नियमों की परीक्षा एवं नवीन नियमों का निर्माण करती है।
(७) सांख्यिकी प्राप्त समंकों के आधार पर सम्भावित समंकों को ज्ञात करती है।

शिक्षा एवं मनोविज्ञान में सांख्यिकी का महत्व
(Importance of Statistics in Education and Psychology)

बालक के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के लिए सांख्यिकी का प्रयोग किया जाता है :—

आधुनिक शिक्षा (Educaiton) एवं मनोविज्ञान (Psychology) में बालक के व्यक्तित्व (Personalitty) के विभिन्न पहलुओ का अध्ययन करना परमावश्यक हो गया है। इस उद्देष्य की पूर्ति के लिए ही शिक्षा एवं मनोविज्ञान में सांख्यिकी (Statistics) का प्रयोग किया जाता है। बालक के व्यक्तित्व का पता लगाने के लिए विभिन्न शैक्षणिक एवं मनोवैज्ञानिक परीक्षायें (Tests) की जाती हैं। इन परीक्षाओं का निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए सांख्यिकी का प्रयोग किया जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शिक्षा एवं मनोविज्ञान में सांख्यिकी का निम्नलिखित बातों के लिए प्रयोग किया जाता है :—

(१) बुद्धि परीक्षायें (Intelligenc e Tests)
(२) निदानात्मक परीक्षायें (Diagnostic)
(३) ज्ञान परीक्षा (Achievements Tests)
(४) विद्यार्थियों की संख्या (Number of Students)
(५) अनुशासन (Discipline)
(६) शिक्षा का स्तर (Level of Education)
(७) भविष्यवाणी (Prediction)
(८) व्यावसायिक निर्देशन (Vocational Guidance)
(९) बालकों का लेखा(Records of Children)
(१०) चरित्र विकास (Character Development)

भाग---२

समूह व्यवस्था अथवा आवृत्ति वितरण
(Tabulation of Frequency Distribution)
भूमिका (Introduction)

आधुनिक युग में हजारों बालकों की परीक्षायें एक साथ ले ली जाती हैं। यदि